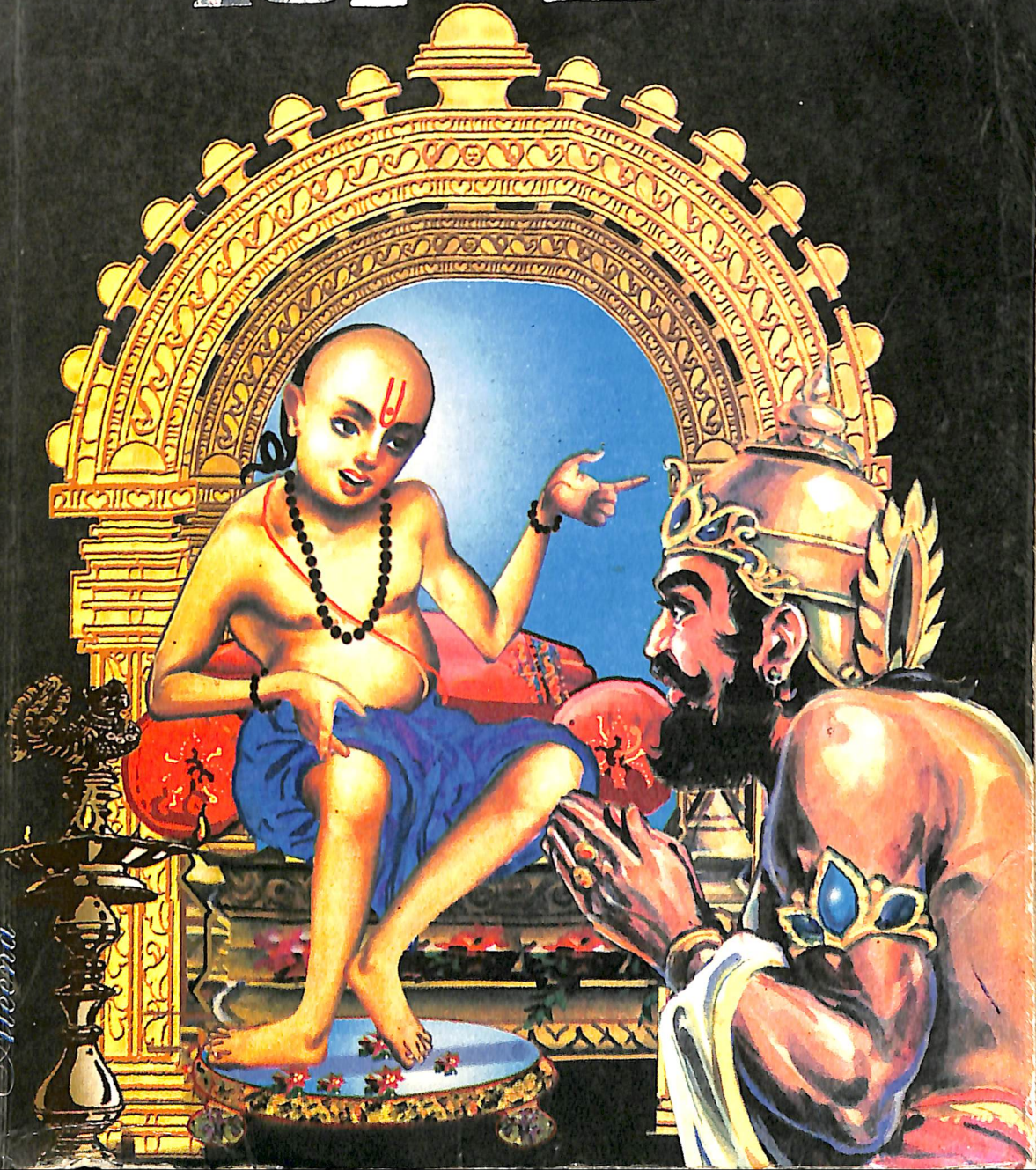
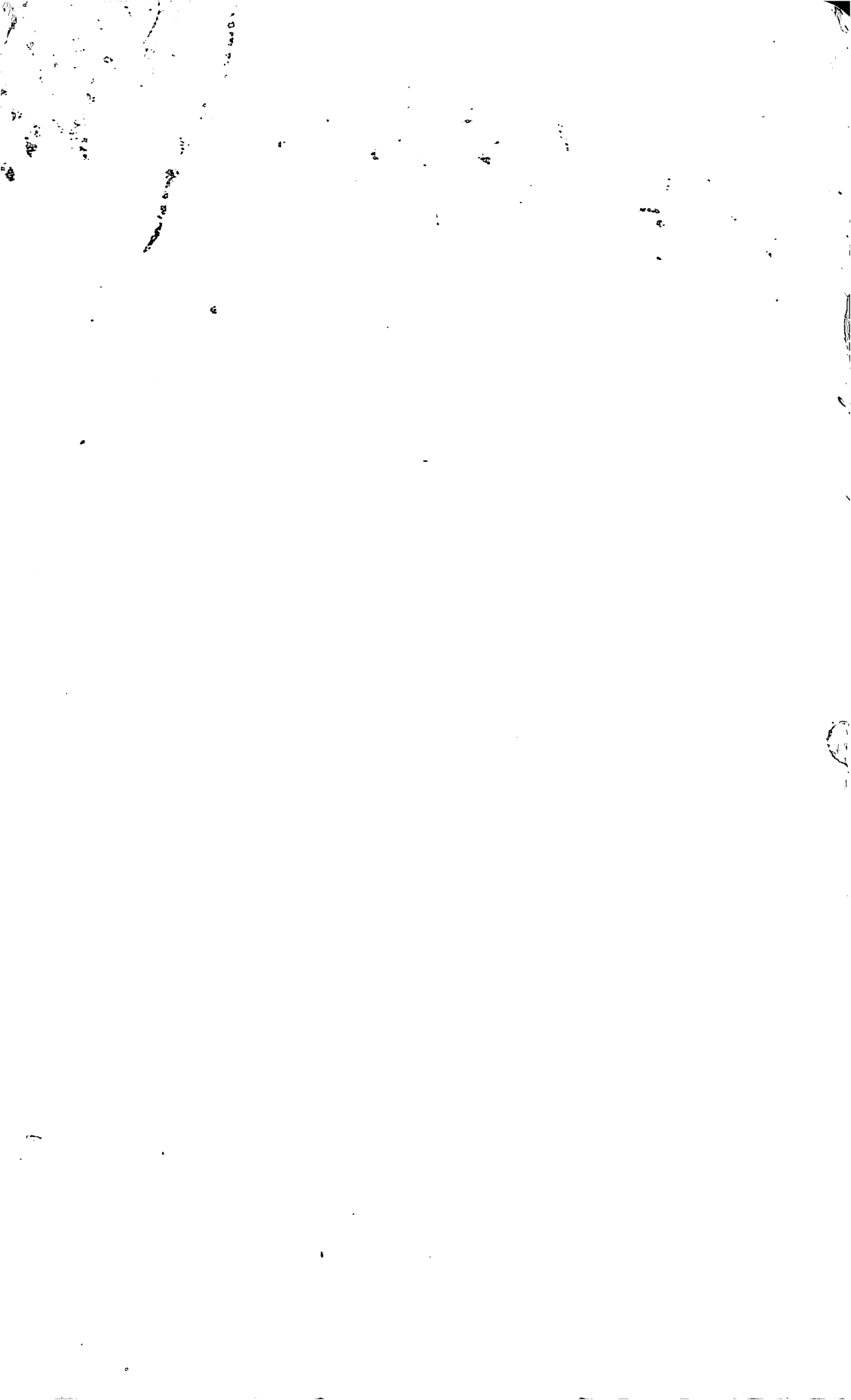


# श्री अष्टावक्र महागीता











## श्री अष्टावक्र महागीता

( जीवन के अनसुलझे रहस्यों का खुलासा  
करने वाला एक दिव्य ग्रंथ )

ज्ञान कैसे प्राप्त हो ?  
मुक्ति कैसे सम्भव है ?  
वैराग्य कैसे प्राप्त होता है ?

महाराजा जनक के उन तीन प्रश्नों का तीन वाक्यों में दिया गया उत्तर है श्री अष्टावक्र महागीता ।

प्रत्येक प्राणी मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्त करना चाहता है, परन्तु योग्य गुरु के अभाव में सब कुछ करता हुआ भी आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता । उसके तीन मुख्य कारण हैं—

स्वयं में जिज्ञासा का अभाव, स्वयं में दोषों का होना और योग्य गुरु का अभाव । किन्तु जहां उन तीनों का संगम हो जाता है, वहां चेतना अवश्य उत्पन्न होती है । जो पाता है, वही देता है, अष्टावक्र जी ने भी इस रहस्य का ज्ञान पा लिया था, अतः राजा जनक की जिज्ञासा एवं पात्रता देखकर उन्होंने सम्पूर्ण ज्ञान का सार उनके कानों में उंडेल दिया ।

इसी अमृत रूपी ज्ञान का नाम है—श्री अष्टावक्र महागीता पढ़ें, एवं आध्यात्मिक लाभ उठाएं ।

—प्रकाशक



- यदि तुम शरीर से स्वयं को अलग करके चैतन्य रूप आत्मा में एकाग्र होकर स्थित हो जाते हो, तो अभी सभी प्रकार के बंधनों से मुक्त होकर सुखी व शांत हो जाओगे।
- न मैं शरीर हूं, न मेरा शरीर है, मैं जीव नहीं हूं, निश्चय ही मैं चैतन्य मात्र हूं। मेरा यही बन्धन था कि मेरी जीने में इच्छा थी।
- मुक्त पुरुष न स्तुति किये जाने पर प्रसन्न होता है, न निन्दित होने पर क्रुद्ध होता है। न मृत्यु में उद्विग्न होता है, न जीवन में हर्षित होता है।
- प्रीतियुक्त स्त्री और समीप में उपस्थित मृत्यु को देखकर जो महाशाप अविचलमना और स्वस्थ रहते हैं वह निश्चय ही मुक्त हैं।
- जब मन न चाह करता है, न सोचता है, न त्यागता है, न ग्रहण करता है। जब यह न सुखी होता है न दुःखी होता है। तभी मुक्ति है।
- सुख-दुःख, जन्म, मृत्यु दैवयोग से ही होता है, ऐसा निश्चय वाला व्यक्ति साध्य कर्मों को देखता हुआ और निरायास कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता।
- यदि तू देह को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम कर स्थित है तो अभी ही सुखी, शान्त और बन्धन मुक्त हो जाएगा।
- जिसका मन गलित हो गया है और जिसके मन में कर्म, मोह, स्वप्न और जड़ता सब समाप्त हो गये हैं, वह पुरुष कैसी अनिवर्चनीय अवस्था को प्राप्त होता है।



# अष्टावक्र महागीता

( मूल संस्कृत श्लोक, शब्दार्थ, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित )  
राजा जनक और ज्ञान शिरोमणि श्री अष्टावक्र का ज्ञान संवाद  
जीवन के अनसुलझे सवालों का खुलासा करने वाला  
एक दिव्य संवाद, जिसमें है अध्यात्म की गहराइयों  
का अलौकिक वर्णन और उनकी अनुभूतियां

व्याख्याकार

आचार्य मानिक

( मूल संस्कृत श्लोक, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित )

साधना पब्लिकेशन्स



© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

**प्रकाशक :**

**साधना पब्लिकेशन्स**

106, प्रथम मंजिल, उषाकिरण कॉमर्शियल

कॉम्प्लैक्स, नानीवाला बाग,

आजादपुर, दिल्ली-110033

फोन : 9818300870, 9891070005

**मूल्य :**

80 —

**संस्करण :**

2004

**मुद्रक :** अभिनव ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-110032

भारतीय कॉपीराइट ऐक्ट के अन्तर्गत इस पुस्तक की सामग्री के प्रस्तुतिकरण के सभी अधिकार 'साधना पब्लिकेशन्स', 106 फर्स्ट फ्लोर, उषाकिरण कॉमर्शियल कॉम्प्लैक्स, आजादपुर, दिल्ली-11003 के पास सुरक्षित हैं। अतः कोई भी इस इस पुस्तक का नाम, टाइटिल-डिजाइन, रेखाचित्र आदि आंशिक या पूर्ण रूप से तोड़-मरोड़कर हिन्दी अथवा किसी भी अन्य भाषा में छापने का प्रयास न करें अन्यथा कानूनी कार्यवाही के हर्जे-खर्चे व हानि के जिम्मेदार स्वयं होंगे। किसी भी प्रकार के विवाद का न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

## विषय-सूची

<b>पहला अध्याय</b>	7
राजा जनक द्वारा ज्ञान, वैराग्य एवं मुक्ति की जिज्ञासा करना। अष्टावक्र का ज्ञानोपदेश	
<b>दूसरा अध्याय</b>	50
राजा जनक को आत्मज्ञान की उपलब्धि	
<b>तीसरा अध्याय</b>	89
अष्टावक्र द्वारा राजा जनक की आत्म-ज्ञान की परीक्षा	
<b>चौथा अध्याय</b>	108
राजा जनक का उत्तर	
<b>पांचवां अध्याय</b>	118
अष्टावक्र द्वारा जनक को मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बताना	
<b>छठा अध्याय</b>	123
राजा जनक द्वारा मुक्ति की अभिव्यक्ति	
<b>सातवां अध्याय</b>	128
राजा जनक द्वारा मुक्ति की अभिव्यक्ति	
<b>आठवां अध्याय</b>	134
अष्टावक्र द्वारा बन्धन व मुक्ति की व्याख्या	
<b>नवां अध्याय</b>	140
अष्टावक्र द्वारा संसार से आसक्ति-त्याग का उपदेश	



<b>दसवां अध्याय</b>	151
अष्टावक्र द्वारा संसार से तृष्णा-त्याग का उपदेश	
<b>ग्यारहवां अध्याय</b>	160
अष्टावक्र द्वारा आत्मज्ञानी की दशा का वर्णन	
<b>बारहवां अध्याय</b>	172
राजा जनक द्वारा आत्म-ज्ञान की अनुभूति का वर्णन	
<b>तेरहवां अध्याय</b>	184
राजा जनक द्वारा आत्म-बोध की स्थिति का वर्णन	
<b>चौदहवां अध्याय</b>	193
राजा जनक द्वारा मुक्त-पुरुष की स्थिति का वर्णन	
<b>पंद्रहवां अध्याय</b>	199
अष्टावक्र द्वारा तत्त्व-बोध का वर्णन	
<b>सोलहवां अध्याय</b>	222
अष्टावक्र द्वारा संसार व मुक्ति के भेद का वर्णन	
<b>सत्रहवां अध्याय</b>	236
अष्टावक्र द्वारा जीवनमुक्त की स्थिति का वर्णन	
<b>अठारहवां अध्याय</b>	258
अष्टावक्र द्वारा जीवनमुक्त की संसार में स्थिति का वर्णन	
<b>उन्नीसवां अध्याय</b>	368
राजा जनक द्वारा आत्म-ज्ञान में स्थिति की दशा का वर्णन	
<b>बीसवां अध्याय</b>	378
राजा जनक द्वारा आत्म-बोध की स्थिति का वर्णन	

## पहला अध्याय

### सूत्र-1

( जनक-उवाच )

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्ति भविष्यति ।

वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो ॥

शब्दार्थ—कथम्—कैसे, ज्ञान—ज्ञान को, अवाप्नोति—प्राप्त होता है, मुक्तिः—मुक्ति, भविष्यति—होगी, वैराग्यं—वैराग्य, च—और, प्राप्तम्—प्राप्ति (होता है), एतद्—इसको, ब्रूहि—कहें, मम—मुझे, प्रभो—हे स्वामिन् ।

प्रसंग—राजा जनक ने ज्ञान-प्राप्ति एवं मुक्ति-हेतु अष्टावक्र के समक्ष जिज्ञासा की कि—“हे प्रभो! ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है? मुक्ति कैसे प्राप्त होती है? और वैराग्य कैसे प्राप्त होता है? यह मुझे बताइए।”

व्याख्या—अध्यात्म में ज्ञान का अर्थ है—आत्मज्ञान । आत्मा का ज्ञान ही मात्र है, बाकी सभी सूचनाएं जानकारी या बाहर से प्राप्त होने वाला विज्ञान है । यह जड़ प्रकृति उस चैतन्य प्रभु के तत्त्व की लीला है, खेल है या यह चैतन्य ही सारे संसार का आधार तत्त्व है, जो सारे जीवों (जड़-चेतन) में बसा हुआ है । इस चैतन्य तत्त्व को ही ‘ब्रह्म’ कहा गया है । दोनों एक तत्त्व हैं । आत्मा का ज्ञान ही परमात्मा का ज्ञान है । इस आत्मा रूपी तत्त्व को जान लेने पर व्यक्ति को परमात्मा का ज्ञान होने लगता है । शास्त्र कहते हैं “यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति” अर्थात् जिसको जानने से सब कुछ ज्ञान हो जाता है सारे

संसार का भेद पता चल जाता है फिर जानने को कुछ शेष नहीं रह जाता। मानव-शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार आदि नहीं, आत्मा ही उसका वास्तविक रूप है। वही सत्य, शाश्वत एवं सनातन है। इस आत्मा को जानना ही स्व (स्वयं) को जानना है। ज्ञान रहित प्राणी प्रकृति को ही जानते हैं जोकि स्थिर है, इन्द्रियों की भोक्ता है परन्तु ज्ञानी पुरुष उस सूक्ष्म ज्ञान को भी जान लेते हैं जो कि बहुत छोटा और इन्द्रियों को जीतने वाला है।

इस ज्ञान को प्राप्त करने से ही मुक्ति मिल सकती है। संसार का आधार जान लेने पर समस्त विश्व प्रपंच का ज्ञान होता है। शंका समाप्त हो जाती है, मनुष्य शान्त, साक्षी एवं दिखाई देने वाला रह जाता है। संसार के बन्धनों का त्याग करके वह स्वतन्त्र हो जाता है। मुक्ति ही जीव की अन्तिम उत्कृष्ट विकास है जो कि ज्ञान के बिना संभव नहीं हो सकती।

आत्मज्ञान को जानने के लिए वैराग्य का होना आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ संसार को छोड़कर भाग जाना नहीं है बल्कि उसके प्रति जो मोह माया है उसको त्यागना है। इस मोह माया का कारण अहंकार हो जाता है और जब तक व्यक्ति में अहंकार रहता है, तब तक आसक्ति (मोह माया रूपी बन्धनों) में व्यक्ति फंसा रहता है। संसार और आत्मा दो किनारे हैं। बाहर जो दिखाई पड़ता है वह संसार है और जो दिखाई नहीं देती, वह आत्मा जो कि अन्दर रहती है। दोनों रास्ते अलग-अलग दिशाओं में जाते हैं। प्राणी दोनों के बीच में खड़ा है। यदि वह संसार रूपी मार्ग पर चलता है तो परमात्मा से दूर हो जाता है और अगर वह परमात्मा के मार्ग पर जाता है तो उसे संसार के भोगों को त्यागना पड़ता है। संसार के भोगों को त्यागना ही वैराग्य है जो कि व्यक्ति की सोचने-समझने की शक्ति से प्राप्त होता है। न कि शहर या गांव को त्यागकर दूर वीरान जंगलों में जाने से होता है। यदि मानव संसार की मोह-माया को त्याग देता है तो वह आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। मानव के अहंकार के कारण ही, लालच,



मोह, वासना आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं। इन दुर्गुणों को व्यक्ति ज्ञान न होने के कारण इनमें फंस जाता है। जिसको ज्ञान के द्वारा समाप्त किया जा सकता है किन्तु ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राणी को जिज्ञासु होना चाहिए।

राजा जनक ज्ञान के जिज्ञासु हैं। उनमें ज्ञान व मुक्ति को प्राप्त करने की बड़ी इच्छा है। अष्टावक्र ज्ञानी पुरुष हैं। जिन्होंने ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वे ही दे सकते हैं। जिसने स्वयं नहीं पाया है, वह देने का भी अधिकारी नहीं बल्कि मानव को विचलित (भटकाना) कर देता है। वर्तमान समय में विचलित करने वालों की कमी नहीं है, इन मूढ़ों (ढोंगी) ने जितनी संसार को हानि पहुंचाई है, उतनी ही अज्ञानता से हुई है। ये अज्ञानी ही धर्म-भेदभाव, जातिगत ऊंच-नीचता को फैलाते हैं। राजा जनक ज्ञानी गुरु अष्टावक्र से तीन प्रश्न पूछते हैं— ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? मुक्ति, मोक्ष, वैराग्य की प्राप्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? इन तीन प्रश्नों में ही सारे अध्यात्म ज्ञान का सार समाया है। प्रत्येक प्राणी मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है, परन्तु अच्छे गुरु की कमी के कारण सब कुछ करता हुआ भी आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता। इसके तीन कारण हैं—स्वयं की जिज्ञासा का न होना, स्वयं में दोष का होना और अच्छे गुरु की कमी का होना, इन तीनों का जब संगम हो जाता है, वहां 'चेतना (जागरूकता) अवश्य उत्पन्न होती है। ज्ञानी सद्गुरु ही तत्त्व का ज्ञान करा सकते हैं, जिज्ञासु राजा जनक की पात्रता को सुनिश्चित कर लेने पर अष्टावक्र ने अपनी ज्ञानरूपी शक्ति का उपयोग कर सारे ज्ञान का निचोड़ करके उनके गले (कंठ) में उतार दिया और तीनों प्रश्नों का उत्तर तीन वाक्यों में कर दिया।

अष्टावक्र पहले वैराग्य के स्वरूप को बताते हैं क्योंकि वैराग्य के बिना प्राणी आत्मज्ञान को प्राप्त करने योग्य नहीं बनता। यह पहला नियम है।

( अष्टावक्र-उवाच )

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान विषवत्यज ।

क्षमार्जवदग्घ्यातोषं सत्यं पियूषवद् भज ॥

शब्दार्थ—मुक्तिम्—मुक्ति को, इच्छसि—चाहते हो, चेत्—यदि, तात्—प्रिय, (ते), विषयान—विषयों को, विषवत्—विष के समान, त्यज—छोड़ दो, क्षमा—क्षमा, आर्जव—आर्जव, दया—दया, (और), सत्यम्—सत्य को, पीयूषवत्—अमृत के समान (समझकर), भज—सेवन करो ।

प्रसंग—अष्टावक्र ने कहा—“हे प्रिय! यदि तू मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो विषयों को विष मानते हुए उन्हें त्याग दे और क्षमा, आर्जव (सरलता), दया, सन्तोष और सत्य को अमृत मानकर उनका प्रयोग कर ।”

भावार्थ—हे प्रिय! अष्टावक्र की आयु कम होते हुए भी वे महाज्ञानी एवं गुरु के पद पर आसीन हैं । राजा जनक शिष्य की भांति जिज्ञासा कर रहे हैं, इसलिए अष्टावक्र ने उन्हें प्रिय से सम्बोधित किया है । वो कहते हैं कि यदि तू मोक्ष चाहता है तो इन विषयों को विष की भांति त्याग दे । एक ही वाक्य में वैराग्य का भेद प्रकट कर दिया । इन्द्रियों के द्वारा भोग किए जाने वाले विषयों में लीन होना ही मानव को आत्मज्ञान से वंचित रखता है । ये विषय केवल शरीर और मन को तृप्त कर सकते हैं, आत्मा को नहीं । भोग से वासनाएं कभी भी सन्तुष्ट नहीं होतीं । ये बार-बार उठती हैं और जन्म-जन्मांतरों तक चलती रहती हैं । मनुष्य मात्र शरीर और मन ही नहीं है, बल्कि एक चैतन्य आत्मा का स्वरूप है । अतः आत्मज्ञान को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले प्राणी को इन इन्द्रियगत विषयों को विष के समान जानकर इनका त्याग कर देना चाहिए । इन विषयों के प्रति लगाव (आसक्ति) ही मानव के बार-बार जन्म व मृत्यु का कारण बनती है । अतः यह विष

के समान है किन्तु विषयों का त्याग करने मात्र से ही प्राणी आत्मा का ज्ञानी नहीं बन जाता बल्कि इससे वह आत्मज्ञान प्राप्त करने योग्य पात्र बन जाता है। ये विषय बन्धन नहीं है बल्कि उनके प्रति जो प्राणी का लगाव (प्रेम) है वही बन्धन है, जिसको त्यागने के लिए अष्टावक्र जी बता रहे हैं। विषयों को छोड़ने का अर्थ खाना, भोजन करना, वस्त्र, बिस्तर आदि का त्याग करके नग्न हो जाना व भूखे मरना नहीं है, बल्कि शरीर को जीवित रखने के लिए आवश्यकता के अनुसार उनका अधिक प्रयोग करने से है। भोगों में अधिक लगाव (लीन) होने से लालच, मोह, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, दुःख, चिन्ता आदि अनेक अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं और इनका एक ऐसा चक्र बन जाता है जो जन्मों तक चलता रहता है। इसका एकमात्र कारण प्राणी में आसक्ति (लीनता) का होना है। आसक्ति को त्यागने से ही प्राणी सारी बुराइयों से स्वतन्त्र हो जाता है तथा ज्ञान को प्राप्त करने योग्य बन जाता है।

अष्टावक्र आगे कहते हैं कि केवल विषयों के त्यागने से तुझे ज्ञान की योग्यता प्राप्त होगी, तू सद्गुण को प्राप्त करने का पात्र बन जाएगा। पात्र में जो विषयरूपी विष भरा हुआ है उसे खाली किए बिना उसमें अमृत भर देने से वह भी विष ही बन जाएगा। इसलिए पहले हृदय को साफ करो, तभी उसमें अच्छे गुणों का प्रभाव होगा वरना वह ज्ञान भी दूषित हो जाएगा। हृदय (मन) को स्वच्छ करने पर तू क्षमा, सरलता, दया, संतोष एवं सत्य रूपी अमृत को पीकर उसका प्रयोग कर। तभी तुझे अमृत का लाभ मिलेगा। ये विषय अनित्य हैं, अज्ञानता को बढ़ाने वाले हैं तथा क्षमा, कोमलता एवं सत्य ही शाश्वत हैं। तू अनित्य का प्रयोग छोड़कर नित्य प्रति शाश्वत का प्रयोग कर तो अमृतत्व को प्राप्त कर लेगा। विषयों को त्यागने से शरीर के प्रति जो झूठा अभिमान हो गया है वह आत्मा के साथ स्थापित होगा। भोगों के प्रति आसक्ति (लगाव) का त्याग ही वैराग्य है।

अष्टावक्र अब राजा जनक को अपने स्वरूप का ज्ञान कराते हैं।



### सूत्र—3

न पृथिवी जन जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान् ।

एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ॥

शब्दार्थ—न पृथिवी—न पृथ्वी है, न जलम्—न जल है, न अग्नि—न अग्नि है, न वायुः—न वायु है, न द्यौः—न आकाश है, भवान्—आप, एषाम्—इन सबका, साक्षिणम्—साक्षी, आत्मानम्—आत्मारूप, चिद्रूपम्—चिद्रूप, विद्धि—जानो, मुक्तये—मुक्ति के लिए।

प्रसंग—तू न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि, न वायु और न ही आकाश है। मुक्ति के लिए स्वयं को इन सबका साक्षी रूप जान। (यही आत्मज्ञान है जो मुक्ति का कारण है)।

भावार्थ—राजा जनक का पहला प्रश्न है, “ज्ञान कैसे प्राप्त होता है।” अष्टावक्र पहले ज्ञान की अनिवार्य शर्त के बारे में बताने के बाद जनक को अपने निज स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। वे कहते हैं—मानव मात्र एक शरीर नहीं है, वह एक चैतन्य आत्मा है। आत्मा ही उसका यथार्थ स्वरूप है। वही सम्राट है। यह शरीर, मन, बुद्धि उसके भाग हैं जो उसके आदेश के अनुसार कार्य कर रहे हैं। ये दिखाई देने वाला है, आत्मा सूक्ष्म है, जिसके ज्ञान न होने के कारण ये शंका होती है कि मैं शरीर हूँ। यही अज्ञान है। अष्टावक्र इसी शंका को दूर करने हेतु कहते हैं कि “तू पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच मूलभूत तत्त्वों से बना हुआ भौतिक शरीर नहीं है। ये पांच तत्त्व भौतिक, अनित्य और समाप्त होने वाले हैं, मृत्यु आ जाने पर ये समाप्त हो जाएंगे और जीव जीवित रहेगा। मृत्यु के उपरांत भी तू अपनी अगली यात्रा (अगला जन्म) धारण कर लेगा। यह शरीर उसी प्रकार परिवर्तित होता रहता है, जिस प्रकार व्यक्ति अपने पुराने वस्त्रों का त्याग कर नए वस्त्रों को धारण कर लेता है। यह शरीर वस्त्र के समान है, परन्तु तू इससे अलग है। ये शरीर भौतिक पदार्थों से बना हुआ है। तू घर नहीं

बल्कि उसमें रहने वाला घर का स्वार्थ है। तू उस घर के अन्दर चैतन्य रूप है। सारे भौतिक संसार का आधार यही चैतन्य रूपी आत्मा है। अपने भौतिक शरीर को जन्मों से यह सन्देह हो गया है, उसे समाप्त करके अपने को साक्षी चैतन्य स्वरूप समझ। यही ज्ञान है। यदि तू इस तथ्य को समझकर देख लेगा तो तुझे आत्मज्ञान प्राप्त हो जाएगा। यही एक ऐसा महत्त्वपूर्ण साधन है, जिसको प्राप्त कर लेने पर अन्य कोई साधना आवश्यक नहीं होती। हम कहते हैं—कि यह शरीर मेरा है, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, मैं कौन हूँ, जिसके ये सभी भाग हैं, अवश्यमेव ही यह मैं से अलग है, तभी हम कहते हैं यह मेरा है, अन्यथा मेरा कैसे कह सकते हैं। जो हमें मैं से प्राप्त हुआ है, उसका हम त्याग कर सकते हैं और जो 'मेरा' से बच जाता है वही 'मैं' का यथार्थ रूप है। यही मैं आत्म तत्त्व ही जिसको जान लेने पर बाकी सब तुच्छ दिखाई देते हैं। अष्टावक्र राजा जनक को आत्म-ज्ञान का बोध कराने के बाद मुक्ति (मोक्ष) के लिए है जो कि जनक का दूसरा प्रश्न है कि मुक्ति कैसे प्राप्त होती है ?”

#### सूत्र-4

यदि देहं पृथक्कृत्य चित्ति विश्राम्य तिष्ठसि।

अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥

शब्दार्थ—यदि—यदि, देहम्—शरीर को, पृथक्कृत्य—अलग करके, चित्ति—चैतन्य, आत्मा में, विश्राम्य—विश्राम करके, तिष्ठसि—स्थित हो जाते हो (तो), अधुना—अभी, एव—ही, सुखी—सुखी, शान्त—सभी प्रकार तनावों से मुक्त, बन्धमुक्तो—बन्धन से मुक्त, भविष्यसि—हो जाओगे।

प्रसंग—यदि तू शरीर को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम कर स्थित है तो अभी ही सुखी, शान्त और बन्धन मुक्त हो जाएगा।

भावार्थ—अष्टावक्र कहते हैं कि वैराग्य उत्पन्न होने से मानव

पात्रता के योग्य हो जाएगा। उसके बाद गुरु के द्वारा तत्त्व ज्ञान को कराने के बाद आत्मज्ञान प्राप्त होगा। किन्तु मोक्ष (मुक्ति) के लिए आत्मज्ञान ही पर्याप्त नहीं है। यह निश्चय (समझ) लेना कि मैं शुद्ध चैतन्य आत्मा हूँ, मैं साक्षी हूँ, ये शरीर रूपी मैं नहीं हूँ। आदि ही जान लेना मोक्ष के लिए पर्याप्त नहीं है। इस आत्मज्ञान को जानने के बाद भी अगर शरीर के प्रति हमारा हृदय नहीं बदल पाता है तो पुनः जन्म लेने की संभावना बन जाती है। अतः हम मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाएंगे। यह ज्ञान बीज को भी होता है। उचित वातावरण मिलने पर वह बीज दोबारा अंकुरित होकर वृक्ष बन जाता है। उस बीज को ही निर्विकल्प समाप्त कर देना चाहिए, वही मुक्ता अवस्था है, अष्टावक्र इसी प्रकार की मुक्ति की बात बता रहे हैं कि, “तू आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त अपने शरीर से विषयों की आसक्ति (लगाव) अपने शरीर से प्रेम का त्याग कर चैतन्य आत्मा में चित्त को एकाग्र कर स्थित है तो अभी तू सुखी शान्त और बन्धनों से मुक्त हो जाएगा। अपने शुद्ध स्वरूपी आत्मा को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। उसी में लगातार लीन रहना है, यही निर्विकल्प (बिना किसी विकल्प) की समाधि है। यही मुक्ति है।” पतंजलि ने अष्टांग योग में अन्तिम स्थिति में समाधि की बात कही है। अष्टावक्र पहले ही वाक्य में राजा जनक को समाधि का ज्ञान करा देते हैं। शरीर और आत्मा के बीच इस प्रकार के सात आवरण हैं। योग शरीर द्वारा प्रारम्भ करके एक-एक आवरण को विधिपूर्वक खोलकर आत्मा तक पहुंचाता है। अष्टावक्र बाकी सभी आवरणों को नष्ट करते हुए सीधे आत्मा तक पहुंचाने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं कि ये सभी आवरण मात्र सन्देह हैं, वास्तविक नहीं। शंका का समापन आत्मज्ञान से ही हो सकता है। वहां क्रिया काम नहीं आएगी।

आत्मा के साथ अहंकार (घमण्ड) जुड़ा है, अहंकार से वासना जन्म लेती है वासना की पूर्ति करने के लिए शरीर मिलता है। यदि वासना ही नहीं होती तो शरीर की आवश्यकता ही नहीं थी। योग का



केन्द्र शरीर है। यदि तू इससे अलग होकर सीधा आत्मज्ञान में स्थित हो जाता है तो तू अभी सुखी, शान्त व मुक्त हो जाएगा। कितना सारगर्भित तथ्य है। 'अभी' एक क्षण की भी देरी नहीं होगी। ये वासनाएं, संस्कार, कार्यों का फल आदि कुछ भी बाधा नहीं रहेगी। केवल ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त है। जिस प्रकार रस्सी को सांप समझ लेने पर उसे प्रत्यक्ष रूप में देखने के बाद ही सही और गलत का पता चलता है। कुछ कर्मकाण्ड, जप-तप, यन्त्रों के द्वारा साधना, हठ योग आदि कार्य नहीं करने पड़ते। अष्टावक्र आत्मबोध को ही पर्याप्त मानते हैं, जिससे सारी शंकाएं समाप्त हो जाती हैं और मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। यह मुक्ति कोई विशेष स्थान या इसको प्राप्त करने के लिए कोई वैतरणी ही पार करनी पड़ती है बल्कि अपनी वास्तविक स्थिति को ही जान लेना है जो कि प्रत्यक्ष दर्शन से ही संभव है। इसी के द्वारा सारी ग्रंथियां खुल जाती हैं। ये सारी ग्रंथियां ही अज्ञानता का कारण हैं, शिव गीता में कहा है—

**मोक्षस्य न ही वासी अस्ति न ग्राम्यान्तरमेव वा।**

**अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥**

(मोक्ष का किसी लोकान्तर में, घर में, गांव में निवास नहीं है, किन्तु अज्ञानरूपी हृदय ग्रन्थि का विनाश ही मोक्ष कहा जाता है।)

जो चेतन आत्मा में एकाग्र होकर ठहर गया है, वही मुक्त है। सभी कार्य शरीर व मन के हैं जो शरीर और मन के लिए लगाव रखता है उसी के कार्य बन्धन का कारण बन जाते हैं। आत्मा का कोई बन्धन नहीं है, वह कार्य करने वाली नहीं है, बल्कि उसे देखने वाली है। ये सभी भोग, वासनाएं, कर्म, स्वार्थ, अहंकार, लालच आदि शरीर व मन के भाग हैं न कि आत्मा के। जो स्वयं को आत्मा मानकर शरीर से अपना सम्बन्ध तोड़ देता है, वही मुक्ति को प्राप्त करता है। यही अष्टावक्र का परम उपदेश है।

## सूत्र-5

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः ।

असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव ॥

**शब्दार्थ**—न—नहीं, त्वम्—तुम, विप्रादिको वर्णः—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि वर्ण वाले, नाश्रमी—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास (इन आश्रमों में रहने वाले हो), नाक्षगोचरः—ना ही दृष्टि आदि ज्ञानेन्द्रियों के विषय हो (इन्द्रियां तुममें रमण नहीं कर सकतीं, उसकी पहुंच से परे तुम हो), असंगोऽसि—किसी प्रकार के संग से परे हो, निराकार—बिना (नाम) रूप के, विश्वसाक्षी—समस्त सृष्टि के द्रष्टा (हो), इसलिए सुखी—सुखी, भव—होओ ।

**प्रसंग**—तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं है और न ही तू किसी आश्रम वाला है । न आंख आदि इन्द्रियों का विषय है । ऐसा जानकर सुखी हो ।

**भावार्थ**—अष्टावक्र जी ने तीन सूत्रों में राजा जनक के तीनों प्रश्नों—ज्ञान-मुक्ति और वैराग्य का रहस्य बताते हुए मुक्ति की विधि बताई है । मुक्ति को और अधिक जानने के लिए अष्टावक्र इसकी और व्याख्या देते हुए जनक को पूर्ण-तत्त्व ज्ञान हो जाए इसलिए आगे बताते हैं, “तू शरीर नहीं है, आत्मा है जो चेतन, साक्षी है । आत्मा का कोई वर्ण (जाति) या धर्म नहीं होता, यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि नहीं होती है । यह तो चेतन ऊर्जा मात्र है जो कि सभी जीवों में समान रूप से स्थित है ।”

ये आत्मा न तो कोई वर्ण वाली है और न ही किसी आश्रम वाली ही है, यह हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि धर्म वाली भी नहीं है न ही इसकी कोई जाति है, न ही लिंग । मानव जीवन के महत्त्वपूर्ण चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आदि भी आत्मा के नहीं हैं । आत्मा न तो करने वाली है, न उपभोग करने वाली और न ही भोग्य करने वाले विषय । इन तीनों से अलग बिना आकार वाली और संसार का साक्षीमात्र है, केवल देखने वाली है । अष्टावक्र जनक

से कहते हैं कि कि तू वही आत्मा है ऐसा मानकर सुखी हो, क्योंकि ये वर्ण, लिंग-भेद आश्रम व्यवस्था और इन्द्रियों के विषय आत्मा के नहीं हैं, अतः ये तेरे नहीं हो सकते। इन वर्णाश्रमों को मानने वाले केवल अज्ञानी हैं, जिससे वे अपना क्रमिक विकास कर आत्मज्ञान को प्राप्त कर सकें।

अष्टावक्र राजा जनक को आत्मा का यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराते हुए कहते हैं कि 'तू इसे जान ले और अभी सुखी हो।' इस ज्ञान में देर नहीं लगती। यह नकद धर्म है और उधार कार्य नहीं है कि आज कार्य किया और अगले जन्म में उसका फल प्राप्त होगा। कुछ धर्म बताते हैं कि यह कलियुग चल रहा है यह पांचवां काल है, इसमें जीव को मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकेगी, कुछ कहते हैं कि आज से प्रयास करो तो सात जन्मों के बाद जन्म पूर्ण कर लेने के बाद मुक्ति (मोक्ष) की प्राप्ति हो सकेगी, कुछ कहते हैं कि अन्तिम तीर्थकर, पैगम्बर, अवतार, जो हो चुके हैं अब कोई और भविष्य में होने वाला नहीं है। लेकिन अष्टावक्र बड़े साहस के साथ घोषणा करते हैं कि ये सब बेकार की बातें हैं, तू अपने आपको चेतन आत्मा में एकाग्र कर ले और अभी मुक्ति को प्राप्त कर ले। इस प्रकार की घोषणा कोई भी महापुरुष, अवतार या गुरु नहीं कर पाए हैं। बड़ी ही अध्यात्म जगत् की यह विचित्र घोषणा है। जिस प्रकार दीपक को जलाने से अन्धकार एक क्षण में दूर हो जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान रूपी प्रकाश से सारी शंकाएं और अज्ञान का नाश हो जाता है, केवल आत्मज्ञान को जान लेना ही पर्याप्त है।

### सूत्र-6

धर्माऽधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो।

न कर्त्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा ॥

शब्दार्थ—धर्माऽधर्मौ—धर्म और अधर्म, सुखं-दुखम्—सुख-दुख, मानसानि—मानस (कर्म), नते—तेरे (धर्म) नहीं हैं, विभो—

व्यापक, न कर्ता असि—न (तू) कर्ता है, न भोक्ताऽसि—न कर्मों का फल भोगने वाला है, मुक्त एव—तू मुक्त ही, असि—है, सर्वदा—सदा ही।

**प्रसंग—**“हे विभो! (व्यापक) धर्म और अधर्म, सुख और दुःख मन के हैं। तेरे लिए नहीं हैं। तू न कर्ता है, न भोक्ता तू तो सर्वथा मुक्त ही है।”

**भावार्थ—**यह आत्मा चेतन है, मुक्त है, असीम है, सभी जीवों में व्याप्त है, व्यापक (फैली हुई) है। यह किसी बन्धन से बंधी हुई नहीं है। शरीर, मन, बुद्धि सीमित है अर्थात् इनकी सीमा है, परन्तु आत्मा किसी एक शरीर या मन से बंधी हुई नहीं है ये सारी विविधता शारीरिक और मानसिक है, आत्मा से संबन्धी कोई विविधता नहीं है, वह तो समस्त जीवों में एक समान रूप से बसी हुई है। इसीलिए अष्टावक्र राजा जनक को ‘विभो’ व्यापक शब्द से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि तू मात्र शरीर नहीं है बल्कि व्यापक (विशाल) आत्मा है, इसलिए तू सदैव स्वतन्त्र है, यह स्वतन्त्रता ही तेरा स्वभाव है, तुझे इसे पाना नहीं है, बल्कि केवल इसे जगाना है। केवल ग्राहक होकर कोई ठीक से सुन मात्र ले तो घटना घटित हो जाती है, उसी समय जन्म-जन्मान्तर की विस्मृति (यादें) टूट जाएंगी और स्मरण लौट आएगा। ढूँढ़ने वाला भटक जाता है। ढूँढ़ने पर परमात्मा प्राप्त नहीं होता। खोजने को त्याग कर संसार के प्रति उदासीन, वैराग्यवान होकर एकाग्र में स्थित हो जाना ही प्राप्त कर लेने का रास्ता है, आत्मा सब में बसी है और एक ही है। लेकिन शरीर की विविधता के कारण अज्ञानी को आत्मा का भी विविधता का भ्रम (सन्देह) हो जाता है, यह मेरी आत्मा है, यह उसकी आत्मा है, अलग-अलग आत्माएं हैं, आत्माएं अनंत हैं।

अष्टावक्र कहते हैं कि घमण्ड (अहंकार) के कारण मनुष्य अपने को करने वाला और भोगने वाला समझ बैठा है। यह घमण्ड भी तेरा सन्देह है। तू तो चेतन आत्मा है जो न तो करने वाली है और न ही



भोगने वाली। स्वयं को करने वाला और भोगने वाला समझने के कारण ही तू सुख-दुःख को प्राप्त कर रहा है। तू धर्म और अधर्म की बातें करता है, यथार्थ में धर्म और अधर्म, सुख और दुःख मन के ही हैं। तू घमण्ड (अहंकार) के कारण ही अपने को आत्मा से अलग अनुभव कर रहा है। उसे त्याग दे तो तू सदा आत्मारूपी मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। घमण्ड और मन के समाप्त होते ही तू कर्ता और भोग्या से मुक्त हो जाएगा, इस धर्म-अधर्म, सुख-दुःख से भी मुक्त हो जाएगा।

### सूत्र-7

एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।

अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥

शब्दार्थ—एकः—एक, द्रष्टा—द्रष्टा, असि—हो, सर्वस्य—सबका, मुक्ताप्रयोअसि सर्वदा—सदैव से मुक्त है, अयमेव—यही, हि—जो, ते—तेरा, बन्ध—बन्धन, द्रष्टारम्—द्रष्टा को, पश्यसि—देखते हो, इतरम्—अन्य को।

प्रसंग—“तू सबको देखने वाला है और सदा मुक्त है। तेरा बन्धन तो यही है कि तू अपने को छोड़कर दूसरे को देखता है।”

भावार्थ—इस श्लोक में अष्टावक्र जी अद्वैत को सम्मान देते हुए द्वैत धारणा को भी बन्धन का कारण मानते हुए जनक से बताते हैं कि, “ये आत्मा ही परमात्मा है, यही ब्रह्म है, दोनों अलग नहीं हैं एक ही हैं। तू भी ब्रह्म है और यह सारी सृष्टि भी उसी ब्रह्म की बनाई हुई है, वह परमात्मा और सबको देखने वाला है अतः तू भी सबका द्रष्टा (देखने वाला) है। परमात्मा मुक्ति है और तू भी मुक्त ही है, लेकिन तेरे बन्धन का कारण मात्र इतना है कि तू अपने को त्यागकर दूसरे को द्रष्टा देखता है।” बड़ा ही महत्त्वपूर्ण श्लोक है द्वैत एवं अद्वैत का। अष्टावक्र कहते हैं, “तू सबका एक ही देखने वाला है” दूसरा अन्य कोई देखने वाला है। द्वैत धर्मवादी कहते हैं, कि ईश्वर व मानव भिन्न हैं, परमात्मा व आत्मा अलग हैं। ईश्वर (परमेश्वर) और सृष्टि (संसार)

भिन्न-भिन्न हैं। ईश्वरकर्ता है, उसने संसार की रचना की है, वह आकाश में, स्वर्ग में कहीं स्थित है, वहीं से सारे संसार का संचालन कर रहा है, सारा कार्य उसकी इच्छा के अनुसार हो रहा है, वह कृपा करता है, पुरस्कार देता है, सजा देता है, न्याय करने वाला है, उसका पूर्ण अधिकार है, वह शासक है, उसने संसार, स्वर्ग, नरक आदि पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, मनुष्य आदि बनाए। यह आत्मा ईश्वर न होकर उसकी सन्तान है। ईश्वर और आत्मा का पिता-पुत्र का सम्बन्ध है, मालिक-सेवक का सम्बन्ध है। ईश्वर स्वतन्त्र है और आत्मा गुलाम है, वह बन्धन में है, सेवक कभी मालिक नहीं बन सकता। ईसाई, मुस्लिम और ब्रह्मकुमारी वालों का ऐसा मानना है। कुछ धर्म, ब्रह्म, जीव व प्रकृति तीनों को अनादि (जिसका अन्त न हो) मानते हैं। कुछ आत्मा व सृष्टि (संसार) को अनादि मानते हैं। कुछ प्रकृति व पुरुष दोनों को ही अनादि मानते हैं। कुछ प्रकृति को ही सब कुछ मानते हैं। ईश्वर (परमेश्वर) की शक्ति में विश्वास नहीं करते हैं। वे इस चैतन को भी प्रकृति का ही गुण मानते हैं। ऐसी विविध प्रकार की मान्यताओं के बाद अष्टावक्र बड़ी निडरता से यह घोषणा करते हैं कि यह चैतन्य आत्मा ही ब्रह्म है, इससे अलग कोई परमेश्वर नहीं है। यह आत्मा ही एकमात्र द्रष्टा है, साक्षी है। कुछ धर्म आकाश में बैठे ईश्वर को देखने वाला बताते हैं कि वह वहीं पर बैठा हुआ सब कुछ देख रहा है, पाप और पुण्य आदि सब कार्यों को वो देख रहा है। अष्टावक्र बताते हैं कि यह आत्मा ही परमात्मा है व वही देखने वाला है। इससे अलग कोई और देखने वाला नहीं है। यह आत्मा मुक्ति ही है, किसी बन्धन में बंधी हुई नहीं है। वे आगे जनक को बताते हैं कि तेरा बन्धन यही है कि तू इस आत्मा के अतिरिक्त दूसरे को देखता है। जब दूसरा उपस्थित है तो बन्धन हो ही जाता है। यदि एक हो तो उसे कैसे बांधा जाए, वह तो मुक्त ही है। यदि ईश्वर आत्मा से अलग है जो इससे बड़ा है, तभी बन्धन की बात सामने आती है कि यह आत्मा उसकी सेवक है। जब दूसरा है ही नहीं तो बन्धन कैसा। वह स्वतन्त्र ही है, अतः आत्मा से

अलग परमेश्वर की सत्ता को स्वीकार करना भी बन्धन है। इस प्रकार की आत्मा कभी मुक्त हो ही नहीं सकती। इसीलिए ईश्वर की सत्ता को आत्मा से अलग मानने वाले धर्मों में मुक्ति की भावना नहीं पाई जाती। वे स्वर्ग-नरक या ईश्वर के साम्राज्य की ही बातें करते हैं। केवल अद्वैतवादी ही मुक्ति की बात कह सके। स्वतंत्र होने में बड़ा डर है, असुरक्षा है। मनुष्य स्वभाव के कारण ही गुलामी (सेवा करना) खोजता है, इसलिए उसने भगवान को अपना मालिक और स्वयं को उसका सेवक मान लिया है। इसी विचारधारा ने द्वैतवादी धर्म को उत्पन्न किया। शास्त्र कहते हैं, “अपमात्मा ब्रह्म” ‘त्वमसि’ आदि। यह अद्वैत की धारणा है। अष्टावक्र अद्वैतवादी को मानने वाले हैं। इसीलिए वे जनक को बताते हैं कि तू आत्मा है वही आत्मा सबको देखने वाला परमात्मा है। इससे अलग किसी अन्य आकाश में बैठे हुए परमात्मा को देखने वाला मान लेना ही तेरा बन्धन है। अज्ञानी ही आत्मा से अलग ईश्वर को देखने वाला, कार्य का फल देने वाला एवं कर्ता मानते हैं। ज्ञानी नहीं मानते।

### सूत्र-8

अहं कर्त्तैत्यहंमान महाकृष्णाहि दंशितः।

नाहं कर्त्तैति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥

शब्दार्थ—अहम्—मैं, कर्त्ता—करने वाला (हूं), इति—ऐसे, अहंमान महाकृष्णाहि दंशितः—अहंकार रूपी अत्यंत काले रंग के सर्प से डसा गया, नाहम्—नहीं मैं, कर्त्ता—करने वाला हूं, इति—ऐसे, विश्वासामृतम्, पीत्वा—विश्वास रूपी अमृत को पीकर, सुखी—सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त, आत्यंतिक रूप से सुखी भव—हो जा।

प्रसंग—“मैं कर्त्ता हूं—ऐसे अहंकार रूपी विशाल काले सांप से डसा हुआ तू, ‘मैं कर्त्ता नहीं हूं’। ऐसे विश्वासरूपी अमृत को पीकर सुखी हो।”

**भावार्थ**—इस श्लोक में अष्टावक्र घमण्ड (अहंकार) को ही दुःखों का कारण मानते हुए बताते हैं कि 'तू इस अहंकार (घमण्ड) रूपी विशाल काले सांप से डसा हुआ है इसीलिए स्वयं को कर्ता (करने वाला) मानता है। यह 'मैं हूँ' की भावना ही तुझे उस ब्रह्म अथवा चेतना से अलग करती है। जब तक तेरे अन्दर अहंकार (घमण्ड) है तू अपने को उससे अलग समझता रहेगा। यही विविधता ही सब दुःखों का कारण है। इसलिए तू 'मैं भिन्न हूँ' मैं करने वाला हूँ इस भावना को त्यागकर 'मैं' करने वाला (कर्ता) नहीं हूँ (कर्ता) करने वाला वही परमेश्वर है, मैं उसके निमित्त मात्र हूँ, साधन हूँ ऐसे विश्वास रूपी अमृत को पीकर सुखी हो। इस श्लोक में 'अहंकार' को जानना आवश्यक है। सारे सृष्टि की उत्पत्ति एक ही ब्रह्म से हुई है। एक ही चेतना विविध रूपों शारीरिक चेतना 'आत्मा' तथा संसाररूपी चेतना ही ब्रह्म है। आरंभ में इस ब्रह्म में कामना का स्फुरण हुआ 'एकोऽहं बहुस्याम' (मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ) इसी स्फुरणा से सोई शक्ति जाग्रत हो गई। वह शक्ति आगे विविध रूपों को उत्पन्न करती रही। इस विविध रूपों में समाई हुई चेतना को उस परम चेतना से अलग का अनुभव हुआ जिसके फलस्वरूप 'मैं' भाव की उत्पत्ति हुई। यह 'मैं' भाव ही उस विशाल चेतना से अलग का कारण बना। इसी अहंकार (घमण्ड) से स्व-चेतना उस विराट चेतना से अलग प्रतीत होने लगी। इस भिन्न प्रतीति का मुख्य कारण बुद्धि है। बाइबिल की एक कथा है कि एक राक्षस ने शैतान के बहकाए जाने पर बुद्धि का फल खाया, जिसके फलस्वरूप उसे स्वर्ग से पृथ्वी पर गिरा दिया गया। यह एक अच्छी प्रतीक कथा है। शैतान है अहंकार। उसी ने बुद्धि का फल खाने को कहा, जिससे कि मनुष्य को स्वर्ग के समान बगीचे से नीचे गिरा दिया गया, जिसके कारण मानव ईश्वर के समीप से दूर हो गया। अतः यह बुद्धि ही परमात्मा को जीव से अलग करती है। लेकिन बुद्धि को घमण्ड ने बहकाया। अतः यह अहंकार रूप ही मूल पाप की जड़ है, जिसके कहने से वह स्वर्ग के बगीचे से नीचे

गिरा दिया गया। सारे संसार के आरम्भ होने की प्रक्रिया इसी अहंकार (घमण्ड) से होती है। बाइबिल में शैतान को ईश्वर के समान ही शक्तिशाली माना गया है। दोनों के शासन को समान रूप से स्वीकारा है। वही भारीय दर्श हस अहंकार (घमण्ड) को शैतान बताता है लेकिन इसकी स्वतन्त्र शक्ति को नहीं मानता। इसकी उत्पत्ति अज्ञानता से स्वीकारता है। जिससे वह बताता है कि अज्ञान (ज्ञान रहित) होना मुख्य पाप है।' अज्ञानता से हुई यह प्रतीति आत्म ज्ञान से ही समाप्त हो सकती है। जब आत्मा का आत्मज्ञान प्राप्त हो गया, तो उसके सभी सन्देह मिट गए एवं मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान गया। तभी वह शान्त एवं सुखी हो सकता है।

इसलिए अष्टावक्र बताते हैं कि 'मैं कर्ता हूं' ऐसे अहंकार रूपी विशाल काले सांप से डरा हुआ तू 'मैं कर्ता नहीं हूं', ऐसे विश्वास के समान अमृत को पीकर सुखी हो। यह 'मैं' अहंकार (भिखमंगा है), इसे चाहे जितना ही भरो यह खाली ही रहता है। सिकन्दर जैसा विश्वविजेता भी आखिरी समय में कहता है, मैं खाली हाथ आया था और खाली हाथ जा रहा हूं। इस संसार का खेल ही अहंकार (घमण्ड) का है। वह अपने को कुछ दिखाना चाहता है। मनुष्य की आवश्यकताएं बहुत ही कम हैं जिन्हें वह सरलता से पूरा कर सकता है लेकिन उसके अधिकांश कार्य अहंकार-संतुष्टि के लिए होते हैं। यह घमण्ड कठिन कार्यों जैसे सिर के बल चलना, एक पैर पर खड़े रहना, तपस्या करना, नग्न रहना, दीर्घ कालीन व्रत करना, ऊंचे पर्वतों पर चढ़ना, लम्बी समाधि लगाना, हठयोग करना आदि। यह मनुष्य का अहंकार ही है कि वह सब पशुओं में स्वयं को सबसे श्रेष्ठ मानता है। इस घमण्ड ने ही पृथ्वी को समस्त संसार का केन्द्र माना, अपने को देवताओं की संतान समझा, हमारा देश महान्, हमारा धर्म महान्, हमारी जाति महान् आदि सभी अहंकार (घमण्ड) की घोषणाएं हैं। यह घमण्ड एक बीमारी है जो कि जीवन में सिखाई जा रही है। घमण्ड के अतिरिक्त जीवन में और कोई बोझ या कोई तनाव नहीं है, घमण्ड हमेशा लेना ही



जानता है, वह देना नहीं चाहता है। देने वाला निरंकारी हो जाता है। यह चाह (इच्छा) ही दुःख का कारण है, जितना चाहोगे उतना ही ज्यादा दुःख प्राप्त होगा। यह सुखी होने का रास्ता नहीं है। परमेश्वर ने अपना बहुमूल्य मानव को दे दिया किन्तु मनुष्य उससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। इसका एकमात्र उपाय धर्म है, जिस दिन अहंकार का नाश हो गया उस दिन यह कर्त्तापन भी गिर जाएगा व उसी पल मानव ईश्वर की निकटता को अनुभव करने लग जाएगा। अहंकार (घमण्ड) साहस एवं शौर्य को दिखा सकता है, तपस्या कर सकता है, भूखे रह सकता है, ऊंची पर्वत मालाओं पर चढ़ सकता है, राजनेता बन सकता है, किन्तु वह समर्पण नहीं कर सकता, भक्त नहीं बन सकता। ऐसा प्राणी यदि कर्मयोगी बन जाए तो घमण्ड को समाप्त कर सकता है। इस अहंकार (घमण्ड) की भी संसार के लिए उपयोगिता है किन्तु अध्यात्म की दृष्टि से उसका पतन हो जाता है, वह स्वार्थ की पूर्ति के लिए चोरी, हत्या, शोषण, अपहरण आदि निन्दित कार्य कर सकता है। ऐसे घमण्डी प्राणियों ने अपनी अलग ही दुनिया बसा ली है। जो कि इस अध्यात्म जगत् से बिलकुल अलग है। इसी कारण बाइबल में शैतान को ईश्वर के समान ही शक्तिशाली माना गया है और भारत में इसी शैतान (अहंकार) को सबसे बड़ा पाप माना है। अन्य सभी प्रकार के निन्दित कार्य अनैतिकता आदि इसी की सन्तान हैं। घमण्ड का परिवार बड़ा है व इसका संयुक्त परिवार है। यदि व्यक्ति अहंकारी (घमण्डी) है तो उसे नरक में जाने के लिए और किसी पाप की जरूरत नहीं है। सब निन्दित कार्य अपने आप ही में होते रहेंगे। इसीलिए अष्टावक्र ने अहंकार को विशाल काला सांप कहा है। यह छोटा-मोटा भी नहीं है। विशाल है और साधारण भी नहीं है। साथ ही साथ अष्टावक्र इस रोग का निवारण ही नहीं करते बल्कि इलाज भी करते हैं कि इस अहंकार रूपी धारणा को समाप्त करने का एकमात्र उपाय यह है कि मानव 'मैं' से मुक्त हो जाए। मैं कर्त्ता नहीं हूं। यह संसार अपने विशेष नियमों से चल रहा है, परमात्मा ही एकमात्र कर्त्ता-धर्त्ता एवं पालन करने वाला

है। ऐसा निश्चित कर लेना ही अहंकार से मुक्ति को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। इसी से मनुष्य सुखी हो सकता है। अहंकारी प्राणी को सुखी करना कठिन कार्य है एवं बिना अहंकारी प्राणी को दुःखी नहीं किया जा सकता। अष्टावक्र इसके लिए किसी प्रकार की कोई विधि या साधना, तपस्या भी नहीं बताते, वे बताते हैं कि—देखो इस तरह अपने देखने के ढंग को परिवर्तित करो। पूर्ण विश्वास एवं निष्ठा के साथ निश्चित ही परिवर्तन प्राप्त हो जाएगा। बोधमात्र पर्याप्त है। यह गलत देखना ही तुम्हारे दुःखों का कारण है। गलत दृष्टि यह है कि तुम स्वयं को उस एक अस्तित्व के साथ नहीं मानते, अपनी ढपली अलग ही बजाते जा रहे हो, सह-अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते कि तुम सारे के ही एक भाग हो, अलग नहीं हो। न जन्म पर तुम्हारा अधिकार है और न मृत्यु पर। बीच में बेकार ही कर्ता बने बैठे हो।

### सूत्र-9

एको विशुद्ध बोधव्योऽहमिति निश्चयवह्निना।

प्रज्वालयाज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥

शब्दार्थ—एकः—एकमात्र, विशुद्ध—निर्विकार, बोध—ज्ञानरूप, अहम्—मैं, इति—ऐसी, निश्चयवह्निना—निश्चय रूपी अग्नि से, प्रज्वाल्य—जलाकर, अज्ञानगहनम्—अज्ञान रूपी घने जंगल को, वीतशोकः—सभी प्रकार के शोक से मुक्त होकर, सुखी भव—सुखी हो।

प्रसंग—मैं एक विशुद्ध बोध हूँ, ऐसी निश्चय रूपी अग्नि से गहन अज्ञान को जलाकर तू शोकरहित हुआ सुखी हो।

भावार्थ—अष्टावक्र केवल निषेध की बात ही नहीं करते कि घमण्ड (अहंकार) त्याग दो तो ज्ञान प्राप्त होगा। केवल त्याग करना ही प्राप्त करने की आवश्यक शर्त नहीं है। निषेध धर्म वाले केवल त्यागने की बात करते हैं, सब त्याग दो। घर, पत्नी, बच्चे, वस्त्र, सबका त्याग करो और वन में चले जाओ, भूखे रहो, भिक्षा मांगकर पेट भरो। इस

त्यागने की शिक्षा ने संसार का बहुत अहित किया है। त्याग तो कर दिया परन्तु मिला कुछ नहीं। ऐसे मानव की स्थिति बड़ी ही दयनीय हो गई। वह रास्ते से विचलित हो गया। अष्टावक्र विधायक हैं, वे कहते हैं अहंकार मात्र (घमण्ड) का त्याग कर देने से, कर्त्तापन का त्याग करने से वह परम आत्मा प्राप्त हो ही जाए, ऐसा आवश्यक नहीं है क्योंकि त्यागने का सन्देह भी हो सकता है, किन्तु वह सूक्ष्म (छोटे) तल पर विराजमान रहता है। यह समझ लेने से अन्धकार नहीं है वह समाप्त हो गया है, ऐसा समझना व्यर्थ है क्योंकि वह तो ज्ञान का दीपक जलाने से दूर हो जाएगा। अष्टावक्र विश्वास दिलाते हुए बताते हैं कि आत्मज्ञान के लिए तू यह निश्चित कर ले कि मैं 'बोध स्वरूप आत्मा हूँ' तो तेरा अज्ञानता रूपी अन्धकार कितना ही ज्यादा क्यों न हो वह पल भर में समाप्त हो जाएगा। अज्ञानता का कोई अस्तित्व नहीं है वह तो ज्ञान की मात्र कमी है। जब तक ज्ञान नहीं प्राप्त होता तो अज्ञान का वास रहता है। किन्तु ज्ञान सूर्य उदय होते ही वह भाग जाता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य के दुःखों का अन्त हो जाता है और वह सुखी हो जाता है। अज्ञानता के रहते हुए वह कभी दुःखों से दूर नहीं हो सकता। अज्ञानता के कारण ही मनुष्य की अनेक अभिलाषाएं होती हैं, जब अभिलाषा पूरी नहीं होती तो प्राणी को दुःख होता है।

अभिलाषाओं के बिना भी जीवनयापन करना एक उत्कृष्ट कार्य है। जो प्राप्त हुआ, वह बहुमूल्य है इसी से सन्तुष्ट होकर जीवन-यापन करना ही परम-सुख है। जितनी अभिलाषाएं बढ़ती हैं, दुःख उनसे कई गुना अधिक हो जाता है। जीवन में ऐसा कभी किसी प्राणी के साथ नहीं हुआ कि उसकी सारी इच्छाएं पूर्ण हो गई हों। इस बात या तथ्य को जानते हुए भी प्राणी इच्छाएं किए जाता है और अपने दुःख को बढ़ाता रहता है, इसका कारण वह स्वयं ही है। कोई दूसरा नहीं है। यह अज्ञानता ही है जोकि आत्मज्ञान से समाप्त हो सकती है। समझना ही पर्याप्त है।

## सूत्र-10

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।

आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर॥

शब्दार्थ—यत्र—जहां, विश्वम्—संसार, इदम्—यह, भाति—प्रतीत होता है, कल्पितम्—कल्पित, रज्जु सर्पवत्—रस्सी में सर्प की तरह, आनन्द परमानन्द—आनन्द और परमानन्द रूप, सः—वह, बोधः—ज्ञान, त्वम्—तुम (हो), (इसलिए), सुखम्—सुखी हो, चर—विचरण करो।

प्रसंग—जहां यह विश्व (संसार) रस्सी में सांप के समान कल्पित भासता है वही आनन्द परमानन्द बोध है। अतः तू सुखपूर्वक विचरण कर।

भावार्थ—अष्टावक्र जी इस सूत्र में आत्मा एवं सृष्टि (संसार का सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं कि आत्मा का कोई रूप या आकार नहीं है वह निराकार है। उसी निराकार आत्मा का साकार रूप सृष्टि (संसार) है आकार तो बनते और बिगड़ते रहते हैं, किन्तु मूल तत्त्व नहीं परिवर्तित होता। स्वर्ण धातु से अनेक आकार के जेवरात (आभूषण) आदि बनाए जाते हैं और कुछ समय बाद उनको दोबारा नया रूप या आकार प्रदान कर दिया जाता है, परन्तु धातु में कोई परिवर्तन नहीं होता। जो बनते हैं, उत्पन्न होते हैं, बिगड़ते हैं (मरते हैं) वे अनित्य हैं, शाश्वत वही है जो कि न तो कभी बनता (उत्पन्न) होता है और न ही कभी बिगड़ता (मृत्यु) को प्राप्त होता है। अध्यात्म में इसी अनित्य को भ्रम (सन्देह) कहा है। यह आज तो दिखाई देता है, कल नहीं रहेगा, इसलिए इसका आश्रय लेना ही सन्देह को उत्पन्न करना है, मूर्खतापूर्ण है। अष्टावक्र कहते हैं कि सृष्टि (संसार) रस्सी में जिस प्रकार कल्पित सर्प फंसता है, उसी प्रकार यह सांप के समान दिखाई देती है किन्तु वास्तव में यह रस्सी के जैसा है। केवल हमारे मन के देखने से हमें यह सांप के समान दिखाई पड़ रही है, मनुष्य के मन में जिस प्रकार के

भाव होते हैं, यह संसार उसे वैसा ही दिखाई देता है। किन्तु वास्तव में संसार अलग होता है। मन में भूत-प्रेत का डर होने से व्यक्ति जंगल में ही नहीं अपितु घर में, स्वप्न में भी भूत उसकी छाती पर आकर बैठा दिखाई प्रतीत होगा। किसी को चांदनी (चांद का प्रकाश) अच्छा लगता है तो किसी को वह भीषण आग दिखाई पड़ती है। सुखी व्यक्ति को अपना घर अच्छा लगता है तो दुखी को वही घर काटने को दौड़ता-सा प्रतीत होता है, किसी को रस्सी सांप दिखाई देती है। किसी को यह संसार फूलों का बगीचा दिखाई पड़ता है तो किसी को कांटों भरा वन है, जिसमें प्राणी उलझकर मृत्यु को प्राप्त हो रहा है। कुछ मानते हैं कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई जो कि बहुत सुन्दर है। पर्वत, नदी, झरने, मैदान, वन, उपवन, सागर, बादल (मेघ), इन्द्र, धनुष, सूर्य, चांद बड़े सुन्दर हैं तो कुछ को इसमें दुःख के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं हुआ है। ये सब मानव के सोचने का तरीका है। उसकी जैसी मानसिक भावना होती है वह वैसा उसे दिखाई पड़ता है। यह दोष सृष्टि का नहीं अपितु उसे देखने वाली दृष्टि का है। ज्ञानी और अज्ञानी में भी यही भेद है। अज्ञानी प्राणी को यह संसार सत्य दिखाई पड़ता है। और वह इसे शाश्वत मानता है कि यह संसार अनादि है, इसका निर्माण करने वाला कोई नहीं है। यह संसार ही सत्य है, इसके अतिरिक्त और कोई सत्य नहीं है। जो सामने उपस्थित है, दिखाई दे रही है वह गलत कैसे हो सकती है। परमेश्वर जो कि दिखाई नहीं देता वह असत्य (झूठा) या गलत हो सकता है किन्तु संसार कभी गलत नहीं हो सकता। यह नित्य है, शाश्वत है और सत्य है। महात्मा बुद्ध ने इस सत्य एवं मिथ्या (गलत) का अच्छा विवरण दिया है कि यह संसार भ्रम नहीं है मिथ्या (गलत) भी नहीं है, सच्चाई भी है किन्तु शाश्वत नहीं है। इसलिए यह भाग पल का सत्य है। कम समय के लिए सत्य है। पूर्ण सत्य वही हो सकता है जो कि शाश्वत है, जो शाश्वत नहीं है वह सत्य नहीं हो सकता। अष्टावक्र के देखने का तरीका एकदम विचित्र है। वे इन सब विवादों के ऊपर मर्म की बात बता रहे हैं। सभी



अध्यात्मवादी रस्सी में सांप, सीपी से चांदी का हिरन की मरीचिका का गहनों में सोने का व घड़े में मिट्टी का उदाहरण देते हैं। अष्टावक्र भी बताते हैं कि यह संसार रस्सी में सांप की भांति कल्पित भासता है, इसको यह मानना कि संसार नहीं है, या संसार कल्पना मात्र है, बल्कि इसका अर्थ तो यह है कि संसार तो है, सृष्टि भी है, पर्वत, नदियां, झरने, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे इत्यादि सभी हैं किन्तु इनसे सुख प्राप्ति की उम्मीद करना हिरन की मरीचिका के समान है जो कभी प्राप्त नहीं हो सकती। यदि संसार में सुख प्राप्त होता तो आज का वर्तमान जगत् जोकि भौतिक दृष्टि से सम्पन्न है। आज खेती (कृषि), विज्ञान, आने जाने के साधन, दूरदर्शन, आकाशवाणी और संचार के साधनों ने बहुत तेजी से प्रगति की है आज का व्यक्ति चांद पर जा पहुंचा है और सूर्य, चांद, सितारे आदि के बारे में ज्ञान प्राप्त कर लिया है। बुद्धि का उत्कर्ष विकास हुआ है, जैसा अनेक वर्षों में भी नहीं हुआ। वह कुछ वर्षों में कर दिखाया है। आज एक साधारण व्यक्ति को जितनी सुविधाएं प्राप्त हैं, उतनी पहले के सम्पन्न व्यक्ति को भी प्राप्त नहीं थीं। लेकिन फिर भी मनुष्य दुखी है, इसका क्या कारण है। सच्चाई यह है कि मानव की जितनी सुविधाएं बढ़ी हैं उतना ही दुःख भी बढ़ा है, जितनी आज चिकित्सा की सुविधाएं बढ़ी हैं उसे उतनी ही बीमारियां भी बढ़ी हैं। जितने न्यायालय की संख्या में वृद्धि हुई है, अपराधों की संख्या उससे चार गुना बढ़ जाती है। जितना व्यक्ति का भौतिक विकास हुआ, उससे कहीं ज्यादा उसका नैतिक पतन हुआ, जिस गति से ज्ञान में वृद्धि हुई, उससे कहीं ज्यादा गति अज्ञान को प्राप्त हुई। जितने साधु, सन्त, मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे बढ़ गए हैं, उससे अधिक अधर्म का विकास हो रहा है। एक विपरीत समान्तर व्यवस्था बनती चली जा रही है, इसका क्या कारण है, वह सुख या आनन्द का समुद्र तो तुम्हारे अन्तर में बह रहा है, जिसे प्राप्त किए बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता। आनन्द भी नहीं मिल सकता। अतः उसे पाकर तुम सुखी हो सकते हो। स्वामी रामतीर्थ ने कहा है—“टू सीक प्लेजर इन वल्लर्डली ओब्जेक्ट्स

इन वेन, द होम ऑफ बिलश इज विद इन यू।” (सांसारिक विषयों में आनन्द की खोज करना बेकार है। इस आनन्द का वास तो तुम्हारे अन्दर ही व्याप्त है।)

अष्टावक्र इसी सत्य को समझाते हुए बताते हैं कि यह संसार रज्जु के समान, निर्जीव है, प्रकृतिमात्र, भौतिक है। यह हमें न तो सुख और न ही दुःख देने वाला है बल्कि यह तो दोनों को देने वाला निरपेक्ष है। यह तुम्हारे ऊपर है कि तुम इसका किस प्रकार प्रयोग करते हो। यह सांप के समान नहीं है। तुम्हें इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। धैर्य से इसका उपयोग करना है किन्तु तुम तो इसमें सांप के समान भागे जा रहे हो, पसीना-पसीना हो गए हो। सांप के समान देखकर तुम्हारे हृदय की गति तेज हो गई है। यह सब तुम्हारे गलतफहमी के कारण उत्पन्न हुई है। अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण तुम इसके वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाए हो, इसलिए तुम्हें सन्देह हो गया है। अतः तुम ज्ञान रूपी नेत्रों से जब तक यथार्थ रूप को नहीं देख लोगे, तब तक तुम्हारा सन्देह नहीं समाप्त हो सकेगा। तुम ज्ञान के प्रकाश से उसे देखना तो चाहते नहीं व हनुमान चालीसा को पढ़ते हुए दौड़ते चले जा रहे हो, इससे तुम्हारा सन्देह नहीं मिटेगा। वह तुम्हारी मानसिक स्थिति है। यदि भाग भी गए तो वह सायं स्वप्न में आकर तुम्हें भयभीत कर देगा। अतः इस मानसिक रोग का इलाज केवल उस सच्चाई को अपनी आंखों के द्वारा देख लेने से होगा। अन्य कोई विधि या उपचार काम नहीं आएगा। यही इस सूत्र का सारांश है।

अष्टावक्र जनक को बताते हैं कि यह संसार सच्चा है या झूठा, अच्छा है, या बुरा रस्सी है या सांप। इससे कोई मतलब नहीं है। तू संसार नहीं है और न ही संसारी है। तुझे डरने का कोई कारण नहीं है। तू आत्मा है जो आत्मा परमानन्द का भी आनन्द है, फिर तेरे में दुःख, भय आदि कैसे समा सकता है। तू ज्ञानी ही नहीं है, स्वयं ज्ञान है बोध है। इसलिए तू सुख के साथ विचरण कर। इस आत्मज्ञान से तेरी सारी शंकाएं समाप्त हो जाएंगी। संसार को देखने का जो तेरा नजरिया है, वह

स्वयं ही परिवर्तित हो जाएगा। जिस प्रकार डरावना स्वप्न देखकर प्राणी डर जाता है, किन्तु स्वप्न टूट जाने पर डर दूर हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी ही संसार से भयभीत होता है, ज्ञान प्राप्त होने पर वह इस काल्पनिक भय से स्वतंत्र हो जाता है।

### सूत्र-11

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।

किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥

शब्दार्थ—मुक्ताभिमानी—मुक्ति का अभिमानी, मुक्तः—मुक्त (है), और हि—निश्चयपूर्वक, क्योंकि, बद्धो—बंधा हुआ है, बद्धाभिमानी—बद्ध का अभिमानी, अपि—ही, किंवदन्ति—लोक में कहा जाता है, इह—इस, सत्यः—सच है, इयम् (यह किंवदन्ती), या—जो (जैसी), मतिः—बुद्धि होती, सा—वह (वैसी), गतिः—गति, भवेत्—होती है।

प्रसंग—मुक्ति का अभिमानी मुक्त है, और बद्ध का अभिमानी बद्ध है, यहां यह किंवदन्ती सत्य है कि जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है।

भावार्थ—इस सूत्र में अष्टावक्र कहते हैं कि 'जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है' यह अध्यात्म का एक नियम है। एक सूत्र और है कि 'अन्त मति सौ गति' अर्थात् मृत्यु के समय जैसी मति (बुद्धि) होती है वैसी ही गति होती है। इस मत को सिद्ध करने के लिए अनेक कथाएं हैं। कृष्ण ने गीता में कहा है, स्वार्थ रहित, बिना आसक्ति वाला पुरुष कार्य को करता हुआ उच्चपद को प्राप्त होता है। जनक आदि ज्ञानी पुरुष भी आसक्ति रहित कार्य द्वारा ही परम धाम को प्राप्त हुए हैं। गीता में यह भी कहा है—'योगः कर्मसु कौशलम्' (योग ही कार्य में कुशलता है) जो योग में एकाग्र होकर कार्य करता है, वह भी मुक्ति (मोक्ष) को प्राप्त करने योग्य पात्र है। अध्यात्म में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि कार्यबद्ध नहीं है, बल्कि उसके

प्रति आसक्ति (लगाव) राग है, वही बन्धन है। बन्धन के डर से कार्य को त्याग देना पाप है एवं आसक्ति को त्यागकर कार्य करना ही मुक्ति का एक साधन है। अतः पाप पुण्य कार्यों में नहीं बल्कि आसक्ति में है। स्वार्थ रहित कार्य बन्धन नहीं बनते। इस कर्म (कार्य) के सम्बन्ध में अनेक सन्देहपूर्ण विचारधाराएं बनी हुई हैं कि कर्म (कार्य) बन्धन का कारण है। लेकिन ऐसे कार्य बन्धन होते हैं। जिनमें आसक्ति (लीनता) राग-द्वेष, ईर्ष्या, बदला लेने की भावना आदि से किए जाते हैं। कर्म (कार्य) का कारण शरीर नहीं मन है। व्यक्ति के दिमाग में पहले विचार आते हैं, बाद में कर्म कार्य होते हैं। मृत्यु के बाद शरीर तो नष्ट हो जाता है, किन्तु मन साथ जाता है। मन के साथ विचार, भावनाएं, वासना, इच्छाएं आदि हैं। उपनिषद् कहते हैं कि 'मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है। मन में जैसी इच्छाएं (विचार) होते हैं, उसी प्रकार की मनुष्य की गति होती है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सफलता मिलती है। पाप, पुण्य का फल न तो कार्य में होता है और न ही उसके परिणाम में वह करने वाले की भावना (विचारों) में होता है।'

इसी तथ्य को अष्टावक्र बताते हैं कि 'मैं स्वतन्त्र हूं' ऐसी जो समझता है, वही मुक्त है तथा अपने को बंधा हुआ मानता है, वह बन्धनों में लिप्त है। केवल दृढ़-विश्वास के साथ जानना ही पर्याप्त है। मुक्ति कार्य का परिणाम नहीं है, बल्कि ज्ञान का फल है। आत्मज्ञानी भी यदि स्वयं को बंधा हुआ जानता है तो वह भी मुक्त नहीं हो पाया है, वासनाओं ने उसे बांध दिया है। आत्मज्ञान को जानकर भी उसे मुक्ति की भावना करना जरूरी है। यदि ऐसा मान भी ले कि मैं स्वतन्त्र हूं तो भी वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। ऐसा समझना ही पाखण्ड करना है। यहां पर भेद जानना आवश्यक है कि ये सूत्र आत्मज्ञानी के लिए सत्य है अज्ञानी के लिए नहीं।

## सूत्र-12

आत्मा साक्षी विभुः पूर्णः एको मुक्तश्चिदक्रियः ।

असङ्गो निस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव ॥

शब्दार्थ—आत्मा—आत्मा, साक्षी—साक्षी (देखने वाला है) है, विभुः—व्यापक है, पूर्णः—पूर्ण है, एकः—अकेला (अद्वितीय) है, मुक्तः—मुक्त है, चित्—चैतन्य रूप है, अक्रियः—अक्रिय है, असंगो—संग रहित है, निःस्पृहः—इच्छा रहित है, शान्त—शान्त है, भ्रमात्—भ्रम के कारण, संसारवान्—संसार वाला, इव—की तरह लगता है ।

प्रसंग—“आत्मा साक्षी है, व्यापक है, पूर्ण है, एक है, मुक्त है, चैतन्य स्वरूप है, क्रिया रहित है, असंग है, निस्पृह (इच्छा रहित) है, शान्त है । यह भ्रम से संसारी जैसा बन्धनग्रस्त है ।”

भावार्थ—इस श्लोक में अष्टावक्र जनक से बताते हैं कि तुम आत्मा ही हो । आत्मा को तुम्हें प्राप्त नहीं करना है । वह तुम्हें पहले से ही प्राप्त है ऐसा भी नहीं है क्योंकि ऐसा जान लेने से आत्मा और तुममें भिन्नता प्रतीत होने लगेगी । यह विविधता है ही नहीं । तुम स्वयं आत्मा हो, अज्ञानता के कारण तुम उसे भुला चुके हो । उसे ज्ञान द्वारा, बोध द्वारा जगाना है और उसे देखना है, उसे याद करना है और कुछ नहीं करना । वे आत्मा के स्वरूप के बारे में बताते हैं कि यह आत्मा हमारी साक्षी सबको देखने वाली है यह सभी को देखती है, परन्तु इसे देखने वाला कोई नहीं है । यह तुम्हारा होना है । यह फैली हुई है, इसे किसी क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता । किसी प्रकार की कोई मान्यता या परिभाषा से इसे कैद नहीं किया जा सकता । यह पूर्ण है, ब्रह्म भी पूर्ण है । पूर्ण में से पूर्ण ही प्राप्त होता है । अतः आत्मा भी ब्रह्म के समान पूर्ण है । उसमें कोई कमी नहीं है । जिस प्रकार माता बच्चे को जन्म देती है तो बच्चा पूर्ण ही होता है किन्तु माता की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती । आठ दस बच्चे पैदा करके भी माता पूर्ण ही रहती है,



उसी प्रकार ब्रह्म व आत्मा हैं। जैसे ज्ञान, प्रेम, दया, करुणा आदि को जितना बांटो वह कम नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म या आत्मा है। ईशा वास्य उपनिषद् कहता है वह पूर्ण है और यह भी पूर्ण है, क्योंकि पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होती है। तथा पूर्ण का पूर्णत्व लेकर पूर्ण ही शेष रह जाता है। बीज पूर्ण है इसलिए उससे सम्पूर्ण वृक्ष बनता है। यह संसार उस पूर्ण की ही अभिव्यक्ति होने से पूर्ण ही है। इसीलिए अष्टावक्र बताते हैं कि ये आत्मा पूर्ण है, एक है, जब ब्रह्म एक है तो आत्मा भी एक है, विविधता नहीं है। सभी जीवों में विविध आत्मा नहीं है, आत्मा अनेक भी नहीं है, जैसे आकाश सब जगह फैला हुआ है, उसी प्रकार आत्मा में भी विविधता नहीं है। विविधता अज्ञान और सन्देह से प्रतीत होती है। जो व्यक्ति आत्मा के ज्ञान को नहीं जानता, वह ब्रह्म को भी नहीं जानता। वे ही अलग-अलग जीवों में स्थित आत्मा को अलग-अलग जान लेते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है। फिर यह आत्मा स्वतन्त्र है। आत्मा का कोई बन्धन नहीं है, बन्धन शरीर व मज्जसिक है। जब इससे सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, तब यह आभास होता है कि आत्मा स्वतन्त्र है। इसके पूर्व शरीर व मन के कारण ही आत्मा के भी बन्धन का सन्देह होता है, यह सन्देह ज्ञान या बोध को जानने से ही समाप्त होता है। यह आत्मा चेतन है, यह संसार इसी चेतन की अभिव्यक्ति है, यही फैल रही है। यही चेतन आत्मा विविध रूपों में दिखाई देती है। ये आत्मा क्रिया रहित है, यह स्वयं करने वाली नहीं है, करना इसका कर्तव्य नहीं है। यह अक्रिय है। इसकी उपस्थिति से ही सब कुछ हो रहा है। इसे अपने आप कुछ नहीं करना पड़ता है। जिस प्रकार सूर्य के उपस्थित रहने से अनेक कार्यों का संचालन स्वयं होता रहता है। उसी प्रकार आत्मा की उपस्थिति से ही सब कार्य अपने आप होते रहते हैं, ये सभी कार्य उसकी शक्ति के द्वारा होते रहते हैं। यह आत्मा असंग भी है। इसका कोई संगी-साथी, बेटे, पोते, परिवार, मित्र आदि नहीं हैं। यह अकेली है। यह न तो किसी से स्नेह करती है, और न द्वेष, ईर्ष्या। यह स्वर्ग में अपना साम्राज्य स्थापित करके भी नहीं

बैठती और न ही इसके दरबार में राज दरबारी हैं, न फरिश्ते और न ही इसका कोई न्यायालय (कोर्ट) है। यह अकेले ही सभी गुणों से परिपूर्ण है। इस आत्मा की कोई इच्छा भी नहीं है और न ही ये प्रसन्न होकर किसी को कोई उपहार देती है और न क्रोधित होने पर किसी को सजा ही देती है। यह शान्त एवं गंभीर है। इसमें किसी प्रकार की कोई हलचल, लहरें, नहीं उठती हैं। ऐसा है आत्मा का स्वरूप। किन्तु सन्देह के कारण यह संसारी जीव जैसा सोचता है, वैसा ही संसार उसे दिखाई देता है। यह संसार उसकी अभिव्यक्ति है, उसी शक्ति की सारी लीला है। आत्मा इन सांसारिक कार्यों में संलग्न नहीं है। उसके सामने सब हो रहा है वह तो केवल देख रही है, परन्तु अज्ञानी (ज्ञान रहित) पुरुष को ऐसा आभास होता है कि आत्मा ही ये सब कार्य करा रही है और परमात्मा ही सब कुछ कर रहा है। वो जैसी आज्ञा करे, व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करेगा। अनेक गलत धारणाओं से यह आत्मा संसारी के समान दिखाई पड़ती है, जिस प्रकार जीव को जन्म-मृत्यु के चक्र से गुजरना पड़ता है, उसी प्रकार आत्मा भी जन्म लेकर और मृत्यु को प्राप्त होती रहती है, ऐसा सोचना अज्ञानी जनों को ज्ञान न होने के कारण है।

### सूत्र-13

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावयः ।

आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम् ॥

शब्दार्थ—कूटस्थम्—कूटस्थ, बोधम्—ज्ञानरूप, अद्वैतम्—अद्वैत, आत्मानम्—आत्मा को, परिभावय—विचार कर, आभासः—प्रतिरूप, अहम्—मैं, (इस), भ्रमम्—भ्रम को, मुक्त्वा—छोड़कर, भावम्—भाव को, बाह्यम्—बाहरी, अथ—और, आन्तरम्—भीतर।

प्रसंग—“मैं आभास रूप (अहंकारी जीव) हूं, ऐसे भ्रम को एवं बाहर-भीतर के भाव को छोड़कर तू कूटस्थ (अचल स्थिर)

बोधरूप एवं अद्वैत, आत्मा का विचार कर।”

**भावार्थ**—आगे अष्टावक्र जनक को बताते हैं कि यह अहंकार (घमण्ड) सही नहीं है। यह तुम्हारा आभास रूप है। इस आभास रूप अहंकार (घमण्ड) के कारण ही अपने को जीव समझता है एवं अपने को इसी सन्देह के कारण आत्मा से अलग समझता है। अतः तू इस सन्देह को त्याग दे तथा इसके साथ-साथ इस बाहर-भीतर की भावना को भी त्याग दे कि आत्मा या परमात्मा बाहर कहीं दूसरे स्थान या मेरे अन्दर बैठा है, यह बाहर-अन्दर का भेद केवल मन के सोचने मात्र से है। आत्मा तो सर्वत्र है, वह बाहर-अन्दर ऊपर-नीचे चारों ओर है। तू केवल इस स्थिर, बोध स्वरूप अद्वैत आत्मा के बारे में सोच। अष्टावक्र राजा जनक की शंका का समाधान करते हुए कहते हैं ये जो तुम्हें विचार प्राप्त हुए हैं, ये सब कर्ज के हैं दूसरों के हैं, तुम्हारे नहीं हैं। दूसरे जैसा कहते हैं, वही तुमने स्वीकार कर लिया है कि मैं जीव हूँ, आत्मा मुझसे अलग है कोई आत्मा को बाहर सृष्टि में बताता है, कोई आकाश में, तो कोई स्वयं के अन्दर स्थित बताता है। इन झूठे काल्पनिक विचारों से सब दुखी हैं, उनके साथ तुम भी दुखी हो रहे हो। इन सब झूठी विचारधाराओं को त्यागकर स्वयं जागकर देख लो तो सारी शंकाएं मिट जाएंगी, मैं कौन हूँ व आत्मा कहां निवास करती है? व्यक्ति को नींद से जागना मात्र है, ज्ञान रूपी दीपक को प्रदीप्त करना है। और कुछ नहीं करना है। अष्टावक्र ने जो बाहर-भीतर की बात कही है, उस पर थोड़ा ध्यान आवश्यक है। मानव के बाहर, मनुष्य के बाहर एक जगत् (संसार) है, जिसे कार्य जगत् कहते हैं, मानव इसमें रहकर अनेक प्रकार के कार्य करता है। मनुष्य का एक मूलभूत गुण है, बाहर वाले संसार की ओर देखते रहना, वह अन्दर से स्वयं को देखने का प्रयास नहीं करता है, उसका ध्यान में जाना कठिन कार्य है, इस प्रकार का व्यक्ति अपने कार्यों के द्वारा आत्मा को प्राप्त कर सकता है। और कोई विधि उसके लिए उपयोगी नहीं होगी। कर्म योग (निष्काम कार्य) विषयों का त्याग करके परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार कार्य

करते रहना है, यह तो हुआ बाहर की भावना। मनुष्य के अन्दर तीन जगत् और हैं पहला है विचारों का संसार, इसके अन्दर भावनाओं का संसार व तीसरा जगत् (आत्मा का संसार) है जो कि साक्षी रूप है। बुद्धिजीवी प्राणी विचारों में जीवन-यापन करता है, वह विचारों के साथ ध्यान योग का उपयोग करके उस चेतन आत्मा तक पहुंच सकता है। उसे कपि मार्ग में ले जाना मुश्किल होता है। वह बुद्धिजीवी होने तर्क-वितर्क करने वाला होगा। अतः उसे चिन्तन और विचार के साथ ध्यान द्वारा आत्मज्ञान कराया जा सकता है। इसे ज्ञान मार्ग कहा जाता है तथा उस व्यक्ति को ज्ञान योगी कहते हैं। तीसरा संसार भावनाओं का है, यह भक्ति और प्रेम का संसार है। जिस व्यक्ति में भावनाएं अधिक होती हैं, उसके लिए भक्त का रास्ता है। उस मानव को भक्त कहा जाता है। भावनाओं वाले व्यक्ति के लिए ज्ञान एवं कर्म (कार्य) का मार्ग उपयोगी नहीं है। ये ज्ञान, भक्ति एवं कर्म के तीन रास्ते हैं जो कि विविध प्रकार के व्यक्तियों के लिए हैं। चौथा संसार आत्म-संसार या साक्षी जगत् के नाम से जाना जाता है। यह केन्द्र में स्थित है। इसी की नींव पर सारा संसार टिका है। समस्त सृष्टि रूपी पहिया इसी धुरी पर घूम रहा है। यही उद्देश्य हैं। ज्ञान, कर्म व भक्ति इसके रास्ते हैं। तीनों के साथ ध्यान का समावेश करने पर इसी उद्देश्य को प्राप्त होते हैं। कृष्ण का कर्मयोग, कपिल का सांख्य योग एवं नारद का भक्ति योग तीनों प्रमुख रास्ते हैं। इनमें अष्टवक्र का मार्ग विचित्र है। उनके बताए हुए रास्ते पर जाकर सीधा साक्षी रूप परमात्मा को प्राप्त कर लेना है। इस मार्ग में न तो कोई विधि है, न कर्म, न ज्ञान और न भक्ति की ही आवश्यकता है। इस राह पर सोचे जाने से समस्त शंकाओं का निवारण हो जाता है। यह शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार रूपी संसार क्षण भंगुर प्रतीत होने लगते हैं। सभी विचारधाराएं टूट जाती हैं। जिस प्रकार कमरे में भूत दिखाई देता है, किन्तु दीपक को जलाने के बाद वह दिखाई नहीं पड़ता, विलुप्त हो जाता है, क्योंकि वहां पर भूत तो था ही नहीं, खाली व्यक्ति के मन की शंका थी, जो दूर हो गई है। इसे गिराने

की अनेक विधियां हैं। भक्ति है, प्रभु की शरण में जाना, स्वयं को अकर्त्ता मानना, भिक्षा के द्वारा अन्न ग्रहण करना, अपने को तुच्छ समझना, अपने व्यवहार में नम्रता लाना, नमस्कार व शास्त्रों के अनुसार दण्डवत करना, चरणों में गिर जाना आदि अनेक विधियां व्यक्ति के अहंकार (घमण्ड) को समाप्त करने के लिए उपयोग की जाती हैं। लेकिन अष्टावक्र ऐसी किसी भी विधि का प्रयोग नहीं करते। वे तो सीधे उस परम शक्ति का ज्ञान कराते हैं, जिससे कि अहंकार रूपी राक्षस का स्वयं ही विनाश हो जाता है। समस्त भ्रम समाप्त हो जाते हैं, धर्म कोई परम्परा नहीं है, जिसको निभाना मात्र है तथा परम्पराएं भी धर्म नहीं हैं। धर्म शाश्वत है, सनातन है। आदमी ने धर्म की उत्पत्ति नहीं की बल्कि धर्म ने आदमी को बनाया है। धर्म व्यक्ति से पहले ही था। धर्म में नवीनता एवं प्राचीनता भी नहीं होती। अस्तित्व ही धर्म है। धर्म के द्वारा प्राणी परिवर्तित हो जाता है। वह सत्य को उपलब्ध नहीं होता, बल्कि स्वयं सत्य हो जाता है। धार्मिक व्यक्ति पारंपरिक नहीं होता। वह परम्पराओं के अनुसार नहीं चलता। वह नई परम्पराओं का निर्माण करता है। इसलिए इस परम्परा वाले संसार में उसे पसंद नहीं किया जाता। इसी कारण से जीसस को सूली पर चढ़ा दिया गया। मंसूर के हाथ-पैर काट दिए गए, गांधी पर गोली चलाई गई। सुकरात को विष दिया गया, मीरा को भी विष का प्याला पीना पड़ा, आदि इस जड़ सृष्टि में चैतन्य का क्या उपयोग किया जा सकता है। अज्ञानियों के इस संसार में एक या दो ज्ञानी पुरुष से क्या हो सकता है, कहते हैं कि—अकेला चना क्या भाड़ फोड़ेगा। इसलिए ज्ञानी आत्माओं (पुरुषों) को इस संसार ने पसन्द नहीं किया और उनकी हत्या कर दी गई।

इस सूत्र में अष्टावक्र आत्मा को स्थिर, गतिरहित बताते हैं। यह आत्मा स्थिर व अचल है, वह गति नहीं करती संसार गतिमान है आत्मा केन्द्र या धुरी है, संसार पहिया है। पहिया ही चलता है, केन्द्र या धुरी नहीं चलती। धुरी के स्थिर रहने से ही संसार को गति प्राप्त होती है। पहिए (परिधि) का वेग सबसे अधिक होगा लेकिन जैसे—



जैसे केन्द्र के निकट जाते हैं तो वेग कम होने लगता है, धर्म को न मानने वालों की गति तेज होती है, परन्तु वह जैसे-जैसे धार्मिक होने लगता है, वेग घट जाता है। राग, द्वेष, ईर्ष्या, लालच, मोह-अहंकार आदि जितना अधिक होगा, वेग उतना ही तेज होगा। ज्ञान की ओर जाने वाला सबको त्याग देता है इसलिए उसकी गति कम हो जाती है, व्यक्ति का भौतिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र गति एवं क्रियाशीलता है। अध्यात्म का आधार विश्राम या शान्ति है। अमेरिका, रूस आदि सबसे अधिक गतिशील देश हैं। भारत अध्यात्म को मानने वाला होने से इसकी विकास की गति धीमी है। केन्द्र और पहिया दोनों अलग मार्ग हैं। परिधि है विज्ञान, केन्द्र है ज्ञान। ज्ञान की अनुपस्थिति में विज्ञान के भी अच्छे परिणाम प्राप्त नहीं हो सकते। विज्ञान तो शक्ति का संचालक है, उपयोग करने का ज्ञान नहीं होता। जिसके विनाशकारी परिणाम होते हैं। भस्मासुर को दिए गए कहे के समान सिद्ध होता है। यहां यह जान लेना आवश्यक है कि आत्मा स्थिर एवं अचल है किन्तु वह धुरी के समान है जिस पर यह संसार रूपी चक्र चल रहा है। यदि धुरी को हटा दिया जाए तो पहिया कैसे घूमेगा। प्रत्येक गतिशील वस्तु या पदार्थ का एक केन्द्र होता है, जिससे उसको गति मिलती है। समुद्र में आने वाले चक्रवात कों भी गति केन्द्र से ही प्राप्त होती है। पहिया धुरी से जुड़कर घूमता है। सौर मण्डल का केंद्र सूर्य होता है, सूर्य का केन्द्र निहारिका और निहारिका का केन्द्र (नाभि) मन्दाकिनी है। संसार में बिना केन्द्र के कोई भी वस्तु गति नहीं कर सकती। जो ऐसा कहते हैं कि केन्द्र या आधार कुछ नहीं हैं, सब अपने आपके स्वभाव से हो रहा है। वे मूर्ख ही हैं। कबीर ने चलती चक्की की बात कही तो उसके पुत्र कमाल ने उसका केन्द्र बताया। पहिए को शक्ति केन्द्र या आधार से मिलती है। यह केन्द्र स्वयं नहीं गति करता केवल शक्ति प्रदान करता है, जिससे कि संसार की सारी क्रियाएं संचालित होती हैं। इस जड़ शरीर में जो वेग है वह चेतन से ही प्राप्त होती है। यह केन्द्र की शक्ति ही नहीं बल्कि ज्ञान भी है। ज्ञान रहित शक्ति ही पैशाचिक या

प्रेतात्मक शक्ति है और जो ज्ञान से पूर्ण है वह देवी के समान है। दोनों ही शक्ति से सम्पन्न हैं, लेकिन अन्तर केवल ज्ञान का है। अष्टावक्र यही बता रहे हैं आत्मा तटस्थ (स्थिर) है जिसकी शक्ति से यह सारा संसार चल रहा है। साथ ही बोध रूप भी है। फिर शक्ति व बोध अलग-अलग नहीं हैं, दोनों को विविध मानना ही अज्ञान है।

### सूत्र-14

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।

बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निष्कृत्य सुखी भव॥

शब्दार्थ—देहाभिमानपाशेन—देह के अभिमान रूपी पाश से, चिरम्—बहुत समय से, बद्ध—बंधे हुए, असि—हो, पुत्रक—हे पुत्र, बोधः—ज्ञानरूप, अहम्—मैं (हूं), ज्ञान खड्गेन—ज्ञान रूपी खड्ग से, तत्—उस (बंधनरूपी अहंकार को), निष्कृत्य—काटकर, सुखी भव—सुखी हो।

प्रसंग—हे पुत्र! तू बहुत समय से देहाभिमान के पाश से बंधा हुआ है। उसी पाश को 'मैं बोध हूं' इस ज्ञान की तलवार से काटकर तू सुखी हो।

भावार्थ—अष्टावक्र जी कहते हैं कि आत्मा एक ही है जो कि विभिन्न रूपों में बसी हुई है। शरीर में स्थित चेतन आत्मा ही है। ये शरीर उसी का विशाल रूप है, जो कि अनेक नाशवान पदार्थों के संयोग से बना है। पांच तत्त्वों से मिलकर बना हुआ है, किन्तु इन पांच तत्त्वों की उत्पत्ति भी उसी चेतन आत्मा से ही हुई है। ये शरीर तो दिखाई देने वाली आत्मा है, किन्तु आत्मा दिखाई नहीं देती। वह अलग नहीं है लेकिन हमारा ऐसा सोचना कि हम मात्र एक शरीर हैं, यह सन्देह है, आत्मा के बारे में हम सोचते ही नहीं हैं। इस भावना के कारण ही तू शरीर के अभिमान के बंधन में उलझ गया है। तुझे किसी और ने नहीं बांधा। स्वयं के सन्देह करने से ही तू बंधनों के जाल में फंस गया है। शरीर और आत्मा का अलग-अलग होने का सन्देह तुझे

जन्म-जन्मान्तर से है, इसी कारणवश तू शरीर के अभिमान में उलझ रहा है। इस बन्धन रूपी जाल से बचने का एक ही उपाय है, क्योंकि ये बन्धन यथार्थ नहीं हैं, अगर ये यथार्थ होते तो इन्हें किसी क्रिया या साधन की जरूरत पड़ती। यह शरीर मेरा है और यह आत्मा से अलग है जोकि मात्र एक कल्पना है, अतः इस सन्देह से मैं 'शरीर नहीं हूँ, बोध मात्र हूँ' इस ज्ञानरूपी खड्ग से काटकर मुक्त हो। सन्देह की चिकित्सा विश्वास के द्वारा ही संभव है, वहां न तो कोई अंग्रेजी दवाई काम आती है और न ही ऋषिजनों की भूत-भभूति। घर में भूत दिखाई देने का सन्देह तो प्रकाश करने पर ही वास्तविकता का पता चल सकता है।

राम-कृष्ण को साकार काली के स्वरूप से स्वतंत्र करा करके निराकार को अपनाने के लिए उनके गुरु तोतापुरी ने भी समाधि की स्थिति ही बताई थी क्योंकि वह साकार रूप भी सन्देह मात्र ही था। अतः अष्टावक्र ज्ञान रूपी तलवार से इस शरीर के अभिमान रूपी बन्धन को नष्ट करने को बता रहे हैं, क्योंकि अज्ञान की समाप्ति ही ज्ञान की उत्पत्ति है।

### सूत्र-15

निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः ।

अपमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि ॥

शब्दार्थ—निःसंगो—संग रहित, निष्क्रिय—जो क्रिया न करता हो, जिसमें कोई क्रिया न होती हो, असि—हो, त्वम्—तुम, स्वप्रकाशः—जो स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित है, निरञ्जनः—जिसमें कोई दोष नहीं, जो निर्दोष है, अयम्—यह, एव—ही, हि—निश्चयरूप से, ते—तेरा, बन्ध—बन्धन है, समाधि—समाधि को, अनुतिष्ठसि—अनुष्ठान करते हो।

प्रसंग—आत्मा तू संगरहित है, जिसमें कोई क्रिया नहीं होती (निष्क्रिय) है और स्वयं ही प्रकाशित है। और समस्त दोषों से भी

मुक्त है। ऐसा जानते हुए भी जो समाधि में बैठना चाहता है या ऐसा करने का प्रयत्न कर रहा है ऐसा करना ही बंधनों में उलझना है।

**व्याख्या**—इस श्लोक में अष्टावक्र आत्मज्ञान करने के लिए समाधि के आयोजन को बन्धन मानते हुए कहते हैं कि तू स्वयं ही आत्मा है, शरीर मन आदि नहीं है, आत्मा को तुझे प्राप्त नहीं करना वह तो स्वयं ही प्राप्त है। फिर इस समाधि रूप आयोजन को क्यों कर रहा है। प्रयास करने से व्यवहारिक पदार्थ प्राप्त होते हैं। श्रुति के अनुसार करने से अकार्य रूप मोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि कर्म (कार्य) का फल तो नाशवान होता है। मोक्ष कार्य से उत्पन्न नहीं होता और न ही ज्ञान से होता है। ज्ञान से केवल सन्देह का विनाश होता है। अज्ञान के बाद जो बचता है वही तू है अतः जहां तू है, वहीं मुक्ति है। ये अज्ञान आत्मज्ञान के द्वारा ही समाप्त होता है। अष्टावक्र बताते हैं कि किसी भी तरह की तपस्या, साधना, योग आदि जैसी अनेक क्रियाएं तुझे मुक्त नहीं करा सकतीं, क्योंकि तू फिर बंधन में फंस जाएगा। यह आत्मा सब जगह फैली हुई है। उसको अप्राप्त करना मात्र सन्देह है। ब्रह्म को प्राप्त कर लेना किसी अप्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है। प्रतिदिन प्राप्त वस्तु की प्राप्ति ही सन्देह का निवारण है। इसके लिए तपस्या, ध्यान, योग, समाधि आदि कुछ नहीं चाहिए। औषधि से केवल बीमारी का इलाज होता है, स्वास्थ्य तो प्राप्त होता ही है। बीमारी के इलाज के बाद साधन भी त्याग देते हैं। आपके पास बहुमूल्य रत्न है, उसको केवल जानना मात्र है। कार्य शरीर के द्वारा साधना या उपासना मन के द्वारा योग से मन की चंचलता को समाप्त किया जा सकता है। इसके द्वारा व्यक्ति की साध्य स्थिति बनती है। प्राप्ति नहीं होती। अतः समाधि का जो आयोजन का प्रयास कर रहा है, वह भी तेरा बन्धन ही है, इसका भी त्याग कर दे क्योंकि इस प्रयास के अन्दर भी तेरी अभिलाषाएं छिपी हुई हैं, जब तक कामना है, मोक्ष की प्राप्ति असंभव है। यह कामना ही तो बन्धन है, चाहे वह मोक्ष की हो, भिन्नता नहीं है। तू तो असंग, निष्क्रिय, स्वयं प्रकाशित एवं सभी प्रकार दोषों से मुक्त है।

इसको पहचानना ही पर्याप्त है, तू दोष रहित है, तू पाप करने वाला नहीं है ये जो तूने पाप किए हैं, ये शरीर व मन की कामनाओं के द्वारा किए होंगे। तू मन व शरीर से अलग साक्षी रूप है। तेरा तो स्वभाव ही दोषों से मुक्त है तो तुझमें कोई दोष कैसे हो सकता है। आत्मा के द्वारा कर्म नहीं होते। वह तो न पापी है और न ही पुण्य, न साधु है और न ही जन साधारण। जिस शरीर और मन के द्वारा कर्म किए जा चुके हैं तू उनको देखने वाला है। और देखने वाले कभी भी पाप के अधिकारी नहीं होते। अष्टावक्र का यह सन्देश आत्मज्ञान को जानने के लिए है। यही सफलता को उच्चता प्रदान करने वाला है।

### सूत्र-16

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।

शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमः! क्षुद्रचित्तताम्॥

शब्दार्थ—त्वया—तुम्हारे द्वारा, व्याप्त—व्याप्त है, इदम्—यह, विश्वम्—संसार, त्वयि—तुम्हीं में, प्रोतम्—पिरोया हुआ है, यथार्थतः—वास्तव में, शुद्ध-बुद्ध स्वरूपः—सभी दोषों से परे और ज्ञान रूप हो, त्वम्—तुम, मा—नहीं, गमः—प्राप्त होओ, क्षुद्रचित्तताम्—तुच्छ चित्त वृत्ति को।

प्रसंग—यह समस्त संसार तुम्हीं में समाया है और तुम इस संसार में पिरोए हो। यही वास्तविकता है। इसलिए सभी दोषों से दूर स्वयं प्रकाशित सन्देहात्मक वृत्ति को मत प्राप्त हो। तुम संगति के दोष से प्रभावित होने वाले और दूसरों के अस्तित्व से अस्तित्ववान हो।

व्याख्या—इस सूत्र में महर्षि अष्टावक्र आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए संसार से उसका सम्बन्ध जोड़ते हुए राजा जनक से बताते हैं कि हे राजन्! तू स्वयं ही आत्मा या ब्रह्म है और यह संसार तेरा काल्पनिक रूप है, ये संसार तेरे में समाया हुआ है, इसके कण-कण में तेरा वास है। इसकी धड़कन, स्पंदन, फैलाव, चेतना, सुन्दरता और शक्ति आदि सभी में तू विद्यमान है। इसमें जो विविधता दिखाई



पड़ती है, उसमें एकता का आधार भी तू ही है। यह संसार उस ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जो दिखाई दे रहा है, वह व्यवहारिक या सांसारिक है लेकिन आत्मज्ञान के बाद अज्ञानता का विनाश हो जाता है, आत्मज्ञान हो जाने के बाद दृश्य तो वही दिखाई देता है, परन्तु व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन हो जाता है। तुम इस संसार में इस तरह से बसे हुए हो, जैसे कि माला धागा में पिरोया जाता है, इस संसार में विविधताओं के बाद भी एक सामंजस्यपूर्ण स्थिति है जो इसका एक रस का नियम है, इसमें जो एकता दिखाई देती वह तेरे ही चेतन स्वरूप के कारण है, जिससे यह संसार है तू भी उसी में है। जैसे यह संसार उससे अलग नहीं है। तू भी वही चेतन स्वरूप है, अतः तू स्वयं को शरीर, मन आदि न जानकर तुच्छ चित्तवृत्ति को प्राप्त मत हो। इसका अर्थ है कि समस्त सांसारिक पदार्थों का आधार तत्त्व आत्मा ही है और आत्मा अलग-अलग नहीं है बल्कि एक ही है जो कि सबमें बसी हुई है। इस कारण सबमें एक सूत्र है। आत्मा को अलग-अलग समझना अज्ञानता है और अपने को केवल शरीर समझ लेना उससे भी बड़ा अज्ञान है, मूर्खता है, ऐसे मूर्ख व्यक्ति ही अपने को तुच्छचित्त, हीनता का अनुभव करते हैं। आत्म-ज्ञानी अपने को हीन या तुच्छ नहीं समझते। रामतीर्थ अपने आपको बादशाह (राजा) कहते थे।

### सूत्र-17

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।

अगाधबुद्धिश्चक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः ॥

शब्दार्थ—निरपेक्षः—जिसे किसी की अपेक्षा न हो, निर्विकार—जिसमें कोई, किसी भी प्रकार का विकार न हो, निर्भरः—जिस पर सभी निर्भर हैं, शीतलाशयः—जो सभी प्रकार के सुखों, शांति का स्थान है, अगाध बुद्धि—अति विस्तृत बुद्धि रूप है, अक्षोभ—जिसमें किसी भी तरह का क्षोभ नहीं है, भव—हो जाओ, चिन्मात्र—चैतन्य मात्र स्वरूप में, वासन—निवास करने वाले।

प्रसंग—तू निरपेक्ष (अपेक्षारहित) है किसी भी प्रकार का विकार

नहीं है, जो कि शान्ति का स्थान है जो ज्ञान का सागर है। जिसमें किसी प्रकार की बेचैनी उत्पन्न नहीं होती, इस प्रकार का तेरा चेतन रूप है, इसलिए तू अपने वास्तविक रूप में वास कर।

**व्याख्या**—अष्टावक्र राजा जनक को आत्मा के स्वरूप के बोध को सुदृढ़ करते हुए कहते हैं कि हे राजन्! तू आत्मा होने से निरपेक्ष (किसी की अपेक्षा न करते हुए) है। अपेक्षा शरीर और मन की होती है। तेरे अन्दर किसी प्रकार का कोई दोष नहीं है। भूख और प्यास प्राणों के लिए है शोक और मोह या ममता, मन के धर्म हैं और जन्म एवं मृत्यु शरीर के गुण हैं, आत्मा इन सबसे ऊपर है। ये आत्मा के गुण या दोष नहीं हैं। आत्मा केवल देखने वाली है, अतः यह दोष रहित है शरीर के अभिमान के कारण ही तू स्वयं को अनेक दोषों से युक्त समझता है, इसी कारण से तू परमुखापेक्षी है। आत्मा किसी पर निर्भर नहीं है। तू आत्मस्वरूप होने से शांति और मुक्ति का स्थान है, अशांति आत्मा का स्वभाव नहीं है, यह दगा, खींचतान, संघर्ष, बेचैनी, महत्त्वाकांक्षा, ईर्ष्या, आक्रमण सब राजनीति है जो कि मानव की बाहरी प्रतिभा को दर्शाती है, प्राणी की आन्तरिक नैतिकता का अनुपयोग है, चाहे वह नीति धन की, पद-प्रतिष्ठा की हो, जिसका कोई औचित्य नहीं है। शान्ति और मुक्ति इनमें नहीं होती। ये तो आत्मा के गुण हैं। तेरे अन्दर तो बुद्धि का सागर है और कार्य तेरे बुद्धिहीन की तरह है। तेरे ये कार्य ही तुझे तुच्छ वृत्ति का बनाते हैं, तूने स्वयं को नहीं प्रकृति को महत्त्व दिया, इसी कारण तू तुच्छ दिखाई पड़ता है, वरना आत्मा में तुच्छता नहीं होती। अतः तू अपने से दूर में सांसारिक पदार्थों की कामना को त्याग कर इस चेतन आत्मज्ञान को धारण कर। वह तेरे पास ही है, उसे केवल जाग्रत करना है।

### सूत्र-18

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम्।

एतत्तत्त्वोपदेशान न पुनर्भवसम्भवः ॥

शब्दार्थ—साकार—जिसका आकार है (नाम रूपात्मक है जो),

अनृतम्—झूठा (जो न था, न है, न होगा), विद्धि—ज्ञान, (और जो), निराकारम्—नाम रूप से परे है, तु—तो, निश्चलम्—सदैव रहने वाला (जान), एतत्—यह, तत्त्व—असल है, इसके, उपदेशेन—कहे जाने वाले वाक्यों का अनुभव करने से, न—नहीं, पुनर्भव संभव—दोबारा से संसार में आना संभव।

प्रसंग—जिसका आकार है उसे झूठा समझ और जो आकार रहित है उसको सत्य (स्थिर) जान। यह जानकर वह गतिमान नहीं होता। इसका अनुभव कर लेने पर तू फिर दोबारा संसार में नहीं आएगा।

व्याख्या—इस श्लोक के माध्यम से अष्टावक्र पुनः जन्म का कारण बताते हुए राजा जनक से कहते हैं कि यह बिना आकार वाला और आकार वाला, छोटा और बड़ा, जड़ और चेतन संसार और परमात्मा एक ही परमात्मा चेतन तत्त्व के रूप हैं। यह आकार, बड़ा, जड़ आदि जो दिखाई देते हैं, जिन्हें इन्द्रियों के द्वारा स्पर्श (महसूस) किया जा सकता है वे सब झूठे हैं। जो दिखाई नहीं देते और जिनका कोई नाम नहीं है, जिनको इन्द्रियां स्पर्श नहीं करतीं वे ही निश्चित और परम सत्य हैं, इसमें जो सुख-दुःख का अभाव होता है, वह भी सत्य नहीं है, शाश्वत नहीं है और अलग-अलग प्राणियों को अलग-अलग अनुभूतियां होती हैं, ये सब उनके मन के कारण हैं। मन भी परिवर्तनशील है, अतः उस पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। ये शरीर भी विश्वास करने योग्य नहीं है क्योंकि न तो इसके पैदा होने का पता है, न मृत्यु का, न जवानी का और न ही बुढ़ापे का पता है। सुख-दुःख कब आता है, कब किससे घृणा, दुश्मनी, मित्रता या प्रेम हो जाता है, कब अपने ही पराए हो जाते हैं और गैर अपने हो जाते हैं, कब कार्य का फल प्राप्त होता है, आदि इस आकार रूपी संसार से जुड़े हुए अनेक प्रश्न हैं। जिनका उत्तर आज तक किसी को प्राप्त नहीं हुआ। उसे झूठा नहीं कहा जाए तो और क्या कहा जाएगा। इसी कारण से इस साकार संसार का अपना कोई साम्राज्य नहीं है, परिवर्तन ही इसका

गुण है। अतः इस पर भी विश्वास नहीं किया जा सकता। विश्वास करने योग्य परमात्मा है जो कि चेतन, बिना आकार वाला एवं सूक्ष्म है तथा प्रत्येक पदार्थ में आत्मा रूप में स्थित है। वही निश्चित है, नित्य है और विश्वास करने योग्य है, वह कल भी था आज भी है और कल भी रहेगा। वह कभी भी समाप्त नहीं होगा। जैसे आभूषण नष्ट होने पर उनकी मूल धातु सोना कभी नष्ट नहीं होता। अतः उस ब्रह्म को जान जिसकी दोबारा उत्पत्ति नहीं होती, जिस प्राणी ने निराकार आत्मा को पहचान लिया उसकी दोबारा उत्पत्ति का कोई कारण ही नहीं रह जाता। जब महल मिल जाते हैं तो झोंपड़ी में वास करने के लिए कोई नहीं आता। अष्टावक्र कहते हैं कि इस साकार संसार से मुक्ति के लिए यही आत्मज्ञान ही एकमात्र उपाय है।

### सूत्र-19

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः ।

तथैवास्मिञ्छरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः ॥

शब्दार्थ—यथा—जिस प्रकार, एव—ही (निश्चयपूर्वक), आदर्शमध्यस्थे—दर्पण के बीच में, रूपे—प्रतिबिम्ब में, अन्तः परितः—बाहर-भीतर, तु—तो, सः—वह (है), तथा—उसी प्रकार, एव—ही, अस्मिन्—इस, शरीरे—शरीर में, अन्तःपरितः—बाहर और भीतर, परमेश्वर—वह परम ईश्वर ही विद्यमान है।

प्रसंग—जिस प्रकार दर्पण में चेहरे का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, बाहर भी और भीतर भी। उसी प्रकार वह परमात्मा भी सभी शरीर धारियों के अन्दर और बाहर भी विराजमान है।

व्याख्या—यहां पर अष्टावक्र आत्मा के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि—परमेश्वर (परमात्मा) कोई व्यक्ति के समान नहीं है कि एक ही स्थान पर स्थित होकर वह सारे संसार के स्वामी (राजा) की भांति नियंत्रण रखता है बल्कि वह तो कण-कण में बसा हुआ है। संसार में कोई भी ऐसा कण नहीं है, जिसमें वह न

बसा हो। मानव शरीर में ही वह बाहर और अन्दर बसा हुआ है, शरीर में वह आत्मा रूप में और संसार में वह परमात्मा के रूप में बसा हुआ है, दर्पण (शीशे) में देखा गया अपना चित्त अपना ही है, उसी प्रकार आत्मा में भी अपना ही चित्र दिखाई पड़ता है।

### सूत्र-20

एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे।  
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणो तथा ॥

शब्दार्थ—एकम्—एकमात्र, सर्वगतम्—सर्वगत, व्योम—आकाश, बहिरन्तः—बाहर-भीतर, यथा—जिस प्रकार, घटे—घट में (स्थित है), नित्य—नित्य, निरन्तरम्—निरन्तर, ब्रह्म—परमात्मा, सर्वभूतगणो—सर्व चराचर में, तथा—उसी प्रकार (स्थित है)।

प्रसंग—जिस प्रकार सर्वव्यापक आकाश घर के बाहर तथा भीतर (कण-कण) में समाया हुआ है उसी प्रकार ब्रह्म भी सदैव ही इस विश्व (संसार) के बाहर और अन्दर सभी जगह समाया हुआ है। इस जगत् में ओत-प्रोत है।

व्याख्या—अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए महर्षि अष्टावक्र ने जनक को उदाहरण देते हुए बताया कि—इस संसार के सब भूत-प्रेतों में, संसार के समस्त पदार्थों में वह निरन्तर और नित्य ब्रह्म उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार शरीर के अन्दर और बाहर एक ही ब्रह्म बसा हुआ है। शरीर में जीवन, चेतन है, आवागमन है, वह उसी चेतन आत्मा के प्रभाव से ही है। जिसके चले जाने पर शरीर अचेतन हो जाता है। यदि यह चेतनता स्वयं शरीर की होती तो मनुष्य कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, जिस प्रकार समय-समय पर मशीन के पुर्जे बदलकर उसकी आयु में वृद्धि की जा सकती है, उसी प्रकार शरीर के अंगों को परिवर्तित करके उसे सैकड़ों वर्षों तक जीवित रखा जा सकता है। परन्तु उस आत्मा रूपी चेतनता के निकल जाने पर इन अंगों को बदलना भी बेकार ही हो जाता है। अतः यह आत्मा ही मुख्य



है शरीर नहीं। राजा जनक को अष्टावक्र के द्वारा दिए गए आत्मज्ञान के उपदेश का सारांश इतना ही है कि आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्व हैं। उसे प्राप्त करना नहीं है, वह तो प्राप्त ही है। उसे तो अज्ञानता के कारण हम भूल गए हैं, अब तो उसे दोबारा ज्ञान से जगाना है। ये ध्यान, उपासना, पूजा-पाठ, आन्तरिक स्वच्छता के साधन हैं। शरीर में स्थित उस चेतन आत्मा की शक्ति को सहन करने के लिए तैयारी है, जिसके द्वारा व्यक्ति उसकी शक्ति को सहन करने के योग्य हो जाता है। अचानक कोई घटना घट जाए तो प्राणी पागल भी हो जाता है। इस तैयारी का महत्त्व केवल इतना ही है कि आत्मज्ञान में व्यक्ति की स्थिति कैसी होती है ये उसे जानने के लिए की जाती है। उस समय प्राणी को भयभीत नहीं होना चाहिए क्योंकि हमारी बुद्धि का क्षेत्र बहुत ही सीमित है और उसका ज्ञान बहुत बड़ा है जिसको अपनी सीमा में स्थित करना एक कठिन कार्य है।

यह आत्मज्ञान का उपदेश (सिद्धान्त) इतना प्रभावशाली था कि राजा जनक को इसके सुनने मात्र से ही आत्मज्ञान हो गया, स्व-स्वरूप का भी ज्ञान हो गया। इसका प्रमुख कारण यह भी था कि उनकी योग्यता सम्पूर्ण थी। अगर योग्यता सम्पूर्ण नहीं होती तो उन पर कोई प्रभाव ही नहीं होता। अधिकांश समय योग्यता को पाने में लगता है। उसके पश्चात् प्राप्त करने में समय नहीं लगता। क्षण भर में सब कुछ प्राप्त हो जाता है।

□□

## दूसरा अध्याय

### सूत्र-1

( जनक उवाच )

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः ।

एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः ॥

शब्दार्थ—अहो—आश्चर्य है, निरञ्जनः—सभी दोषों से परे, शान्तः—सभी प्रकार विक्षेपों से परे, बोधः—अनुभव व ज्ञान रूप, अहम्—मैं, प्रकृतेः—प्रकृति से, परः—परे (हूँ मैं), फिर भी, एतावन्तम्—इतने, कालम्—समय बीत जाने पर भी, मोहेन—मोह से, एव—ही, विडम्बितः—ठगा जाता है ।

प्रसंग—राजा जनक को अष्टावक्र का उपदेश सुनने मात्र से ही आत्म-ज्ञान हो गया । वे कहते हैं—“मैं (निरंजन) सब दोषों से मुक्त हूँ, शान्त हूँ, बोध हूँ, प्रकृति से परे हूँ, आश्चर्य है । किन्तु मैं इतने समय तक मोह के द्वारा ठगा गया हूँ ।”

व्याख्या—महर्षि अष्टावक्र के द्वारा ज्ञान के उपदेशों को सुनकर ही राजा जनक का ज्ञान का दीपक जल उठा, जिसके प्रभाव से उनका सारा अज्ञान समाप्त हो गया है । वे आत्म-ज्ञान में स्थित हो गए । उनके अन्दर मोह, माया, ममता, अभिलाषाएं, अहंकार, स्वार्थ आदि सारी भ्रान्तियां समाप्त हो गईं । उनका सोचने-समझने और देखने का ढंग ही बदल गया । यह सारा संसार एक सपने के समान दिखाई देने लगा जैसे सपने में व्यक्ति अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे कार्यों को करते दिखाई पड़ता है, लेकिन सपने से जागने पर उसे ऐसा कुछ नहीं दिखाई

पड़ता। उसी तरह से राजा जनक को भी यह सपने के समान सन्देहात्मक दिखाई देने लगा। अब वे स्वयं को सांसारिक प्राणी न जानकर आत्मा समझने लगे। शरीर, मन, प्रकृति और वासनाओं से सम्बन्ध टूट गया। एक नए जीवन की रचना हुई। यह सब कुछ अचानक नहीं हुआ था वरना जनक इस ज्ञान को जान भी नहीं पाते। उनमें पहले से ही इस आत्मज्ञान को जानने के लिए योग्यता थी, शक्ति की अवधारणा की क्षमता तो थी फिर भी वे विस्मित हो गए और कहने लगे कि, “आश्चर्य है, मैं आत्म-रूप हूं, इसलिए दोषों से भी रहित हूं, आत्मा के समान ही शान्त और स्वयं बोध हूं, साक्षी हूं, प्रकृति से भी परे हूं। मैं इतने समय से मोह माया के बन्धन के द्वारा ठगा जाता रहा हूं। जिसके फलस्वरूप मैं वास्तविक ज्ञान से वंचित रहा हूं। वास्तव में यह मोह माया ही व्यक्ति को बंधन में डाले रखती है। कबीर ने भी कहा है— “माया महा ठगिनी मैं जानी।” इस माया के प्रभाव के कारण ही हम संसार की वास्तविकता को नहीं जान पाते हैं। जनक इस मोह-माया रूपी-बन्धन से जाग्रत हो गए हैं। वे अपने वास्तविक रूप को पहचान गए हैं। गुरु की महिमा भी ऐसी ही होती है, जिस शिष्य पर गुरु की कृपा हो जाती है, वह उसे मिट्टी से सोना बना देते हैं। राजा जनक अब अपने आपको दोष रहित बताते हैं, उन्हें ऐसा लग रहा है कि मैं तो बिना मुकुट धारण किए ही राजा हूं, और जो प्राणी सांसारिक धन-दौलत को प्राप्त कर अपने आपको राजा समझते हैं। वे तो वास्तव में बड़े ही निर्धन हैं। इस प्रकार अष्टावक्र के द्वारा ज्ञान को जाग्रत किए जाने पर राजा जनक को वास्तविकता का ज्ञान हो गया और वे इस संसार में मोह के बंधन के कारण जो सत को असत्य और असत्य को सत्य समझ रहे थे, वो उसकी यथार्थता को जान गए और कहने लगे कि इस मोह माया ने मुझे बहुत दिनों तक ठगा है, लेकिन अब मैं इसके ठगे में नहीं आऊंगा, क्योंकि मुझे वास्तविकता का ज्ञान हो गया है।

## सूत्र-2

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत् ।  
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन ॥

शब्दार्थ—यथा—जिस प्रकार, प्रकाशयामि—प्रकाशित कर रहा हूं, एकः—अकेला, देहमेनम्—इस शरीर को, तथा—उसी तरह, जगत्—संसार (विश्व)को भी, अतः—इसलिए, मम—मेरा, जगत्सर्वम्—यह सारा जगत् है, अथवा—या फिर, न च किंचन—कुछ भी नहीं है ।

प्रसंग—जिस प्रकार मैं अकेला ही इस शरीर को प्रकाशित कर रहा हूं उसी प्रकार से इस जगत् को भी प्रकाशित कर रहा हूं । इसीलिए या तो यह सारा संसार मेरा है अथवा कुछ भी मेरा नहीं है ।

व्याख्या—राजा जनक अपने आत्मज्ञान को समझाते हुए बताते हैं कि मैं शरीर नहीं, आत्मा हूं, जिससे कि यह शरीर प्रकाशित हो रहा है । ये मेरी ही आत्मा सारे संसार को भी प्रकाशित कर रही है । इसलिए यह सारा संसार (आत्मा और परमात्मा) मेरा है, अज्ञानता के कारण जिसे मैं अपना समझता था, वास्तव में वह मेरा नहीं है, सभी में परमात्मा है, आत्मा से अलग इस संसार का कोई आधार नहीं है । गीता में रणभूमि में अर्जुन की भी इसी प्रकार की मनोस्थिति थी, परन्तु जब श्रीकृष्ण ने उसे आत्मज्ञान कराया तो वह वास्तविकता को जान गया । राजा जनक पहले से ही आत्मज्ञान को जानने के लिए उत्सुक थे, इसी कारण उन्होंने न तो कोई तर्क-वितर्क किया और न ही किसी प्रकार का कोई प्रश्न ही किया । वो तो आत्मज्ञान को पाते ही तृप्त हो गए । उनकी तो सोयी हुई आत्मा ज्ञान के स्पर्श से तुरन्त ही जाग गई । उनके लिए यह एक आश्चर्यजनक घटना ही थी ।

## सूत्र-3

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽधुना ।  
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते ॥

**शब्दार्थ—सशरीरम्—**शरीर सहित, **अहो—**आश्चर्य है, **विश्वम्—**विश्व को, **परित्यज्य—**छोड़ (त्याग) कर, **मया—**मेरे द्वारा, **अधुना—**इस समय, **कुतश्चित—**थोड़े से, **कौशलात्—**कुशलता से ही, **परमात्मा—**परमात्मा, **विलोक्यते—**दिखाई दे रहा है।

**प्रसंग—**राजा जनक बताते हैं कि कितने आश्चर्य की बात है कि शरीर के साथ संसार का त्याग करने के कारण थोड़ी-सी कुशलता से इस समय मुझे परमात्मा के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं।

**व्याख्या—**राजा जनक को आत्मज्ञान होने के बाद आत्मा का स्वरूप साफ दिखाई देने लगा। और उन्हें यह भी ज्ञात हो गया कि आत्मा और परमात्मा दोनों अलग-अलग नहीं हैं। अतः वे कहते हैं कि मैं गुरु की निपुणता के कारण ही परमात्मा के दर्शन कर सका हूँ और इस ज्ञान के कारण ही मैंने शरीर और संसार का त्याग कर दिया है। मोह-माया के प्रभाव के कारण मैं इस नाशवान शरीर को अपना समझता था एवं संसार को देखने का जो मेरा नजरिया था, उन सबसे मैं मुक्त हो गया। राजा जनक ने उनका त्याग नहीं किया अपितु उनमें स्वयं ही कमी आ गई। किसी वस्तु पदार्थ का त्याग नहीं किया जाता। जहां पर हम करने की बात करते हैं, उसमें अहंकार (घमण्ड) की उत्पत्ति हो जाती है। त्याग ज्ञान का मन्त्र है। सत्य एवं वास्तविकता का ज्ञान हो जाने पर असत्य एवं सांसारिक अपने आप ही छूट जाते हैं। कुछ धर्मों में ऐसी मान्यता है कि प्राणी को यहां त्याग करने से उसे स्वर्ग और अधिक फल प्राप्त होता है। कुछ धर्मों का ऐसा मानना है कि सब कुछ को त्याग दो, यहां तक कि शरीर से वस्त्रों का भी त्याग कर दो तो मोक्ष की प्राप्ति होगी। परन्तु त्याग करना मोक्ष प्राप्त करने का कोई आवश्यक नियम नहीं है। त्याग करने का अर्थ ऐसा नहीं है कि हम आज से इस वस्तु या पदार्थ का उपयोग नहीं करेंगे, बल्कि ये जान लेना है कि यह सभी परमेश्वर का है, मेरा इसमें कुछ भी नहीं है, और जिस पर हमारा अधिकार नहीं है, उसका त्याग हम कैसे कर सकते

हैं। ईशावास्य उपनिषद् कहता है कि “जो कुछ इस संसार में है वह सभी परमात्मा का है, अतः तुम उसको त्यागते हुए उसका उपयोग करो। जिस प्रकार प्राणी स्वप्न में राजा बन जाता है और नींद से जागने पर वह यह नहीं कहता कि मैंने अपने राज्य को त्याग दिया है, उसी प्रकार आत्मज्ञान हो जाने पर व्यक्ति को जगत्, देह, धन-संपत्ति आदि के जो प्रति लगाव है, उस सबका प्रभाव स्वयं ही समाप्त हो जाता है। जनक बताते हैं कि ये ज्ञान गुरु की निपुणता के कारण ही प्राप्त हुआ है। सांसारिक प्राणी परमात्मा को प्राप्त करने के लिए योग, उपासना, यज्ञ, भजन-कीर्तन आदि अनेक प्रकार के कार्य करते हैं, लेकिन उन्हें परमात्मा नहीं मिलता, परन्तु मुझे गुरु की कुशलता के कारण घर पर बैठे हुए ही परमात्मा के साक्षात् दर्शन हो रहे हैं।”

#### सूत्र-4

यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गा फेनबुदबुदाः ।

आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ॥

शब्दार्थ—यथा—जैसे, न—नहीं, तोयतः—जल से, भिन्नाः—अलग, तरंगाः—तरंगे, फेनबुद बुदाः—फेन और बुलबुले, आत्मनः—आत्मा से, न—नहीं, तथा—वैसे, भिन्नम्—अलग, विश्वम्—जगत्, आत्मविनिर्गतम्—आत्मा से उत्पन्न होने और उसमें लय होने वाले अर्थात् आत्मविष्ट ।

प्रसंग—जिस प्रकार जल से तरंग (लहरें) फेन (झाग) और बुलबुले अलग नहीं हैं उसी प्रकार से संसार आत्मा से अलग नहीं है, परन्तु आत्मा से ही निकला हुआ है ।

व्याख्या—परमात्मा और शरीर रूपी संसर्ग के सम्बन्ध को समझाते हुए जनक कहते हैं कि जल के अलग-अलग कई नामरूप हैं, इनमें तरंगें (लहरें), झाग और बुलबुले ये जल से ही बनते हैं और जल में ही विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार से परमात्मा से ही यह अनेक नाम वाले संसार की उत्पत्ति हुई है। व्यक्ति इसी में पैदा होता है तथा मृत्यु



के बाद इसी में विलीन हो जाता है। इस सारी क्रिया का जिस प्रकार जल में कोई प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा और आत्मा भी एक ही है। जो व्यक्ति आत्मा को परमात्मा से अलग जानता है, उसे अभी आत्मज्ञान नहीं हुआ है। ज्ञानी व्यक्ति को कण-कण में परमात्मा ही दिखाई पड़ते हैं। यह बात तो अब वैज्ञानिक रूप ले चुकी है, विज्ञान के अनुसार इस सारे संसार का आधार ऊर्जा रूपी आत्मा ही है। आत्माओं को अलग-अलग जानना और कहना कि आत्माएं अनंत हैं, आत्मा और संसार अलग हैं ये सब अज्ञानता के कारण ही है।

### सूत्र-5

तन्तुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारतः।

आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम्॥

शब्दार्थ—तन्तुमात्रः—तंतुमात्र, भवेत्—होता है, एव—ही, पटो—वस्त्र, यद्वत्—जैसे, आत्मतन्मात्रम्—आत्म-सत्तामात्र, एव—ही, इदम्—यह, तद्—उसी तरह, विश्व—यह संसार, विचारितम्—प्रतीत होता है।

प्रसंग—विचारपूर्वक देखने पर जिस प्रकार वस्त्र धागों के ताने-बाने का बना हुआ है, इसी प्रकार विचार करने पर, इस संसार में परमात्मा से अलग और कुछ नहीं है। धागों के बिना जैसे वस्त्र सत्ता नहीं है, वैसे ही आत्म-सत्ता को संसार में से निकाल लेने पर विश्व का ही कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

व्याख्या—राजा जनक अपने आत्मज्ञान की स्थिति में आत्मा एवं संसार की एकता का अनुभव कर रहे हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए वे एक उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार हमें कपड़ा (वस्त्र) दिखाई देता है लेकिन वह अनेक धागों से बनाया जाता है, उसका आधार तो वह सूत का बना हुआ धागा ही है, क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में हम वस्त्र का निर्माण नहीं कर सकते हैं। इसी प्रकार से यह संसार भी आत्मा रूपी तन्तु से बना है। फिर यह संसार इससे अलग कैसे हो

सकता है। यदि आत्मा नहीं है तो संसार भी नहीं है। वास्तव में इस संसार का मूल आधार आत्मा ही है। वैज्ञानिक इस मूल आधार की व्याख्या को विद्युत बताते हैं। यह विद्युत भी चेतन आत्मा की ही शक्ति है। जड़ विद्युत से सांसारिक पदार्थों का निर्माण तो हो सकता है, किन्तु इससे चेतन आत्मा रूपी विद्युत का निर्माण होना संभव नहीं है।

### सूत्र-6

यथैवक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा।

तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम्॥

शब्दार्थ—यथा—जैसे, इक्षुरसे—गन्ने के रस में, क्लृप्ता—प्रतीत, तेन—उससे, व्याप्त—व्याप्त, एव—ही (निश्चय), शर्करा—शक्कर, तथा—वैसे ही, विश्वम्—यह समस्त संसार, मयि—मुझमें, क्लृप्तम्—प्रतीत, मया—मेरे द्वारा, व्याप्तम्—व्याप्त है, निरन्तरम्—सदैव।

प्रसंग—जिस प्रकार गन्ने के रस में शक्कर (मिठास) होता है, उसी प्रकार यह समस्त संसार मुझमें ही विलीन है, और मैं इसमें विलीन हूँ।

व्याख्या—अभाव से भाव की रचना नहीं होती, यह एक आध्यात्मिक और वैज्ञानिक नियम है। इस नियम के अनुसार परमात्मा व संसार के संबंध को देखा जाए तो यह सिद्ध होता है कि कार्य कारण से अलग नहीं बल्कि कारण का ही एक रूप है। गन्ने के रस से चीनी का निर्माण होता है तो उस रस में उसकी मिठास स्थित है। इसी प्रकार से यह संसार भी आत्मा में बसा हुआ है, अन्यथा इसका निर्माण होना ही असंभव था। जैसे चीनी में मिठास उसको बनाने वाले रस के मीठे होने से होती है। जिसको इस रस की मिठास का ज्ञान नहीं, वह चीनी, मिश्री, गुड़, मिठाई आदि को अलग-अलग जानते हैं। वे उनकी अभिन्नता को नहीं जान पाते हैं, इसलिए उनके रूप, रंग और गुण अलग-अलग हैं तो उन्हें एक कैसे माना जा सकता है, परन्तु ज्ञानी

पुरुष उस रस की मिठास को जानते हुए कहते हैं कि यह रस उस मिठास में मिला हुआ है और मिठास इसके कण-कण में व्याप्त है। इसी प्रकार से आत्मा से बना हुआ यह संसार आत्मा से अलग नहीं है। आत्मा इस संसार में है और संसार आत्मा में व्याप्त है। राजा जनक को इस मूल तत्त्व की पहचान हुई, जिससे कि उन्होंने इसकी अभिन्नता का अनुभव किया।

### सूत्र-7

आत्माऽज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते।

रज्ज्वज्ञानादहिभीति तज्ज्ञानाद्भासते न हि॥

शब्दार्थ—आत्माज्ञानात्—आत्म के बारे में अज्ञान के फलस्वरूप, जगत्—यह समस्त विश्व, भाति—भासित होता है, आत्माज्ञानाम्—आत्मा का ज्ञान हो जाने से, न भासते—नहीं भासित होता, रज्ज्वज्ञानात्—रस्सी के अज्ञान के कारण, अहिः—सर्प, भांति—प्रतीत होता है, तज्ज्ञानात्—उसके (रस्सी के) ज्ञान से, भासते न हि—वह (सर्प) नहीं भासता।

प्रसंग—आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है, आत्मा के ज्ञान से नहीं भासता है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सांप भासता है, उसके ज्ञान से नहीं भासता है।

व्याख्या—राजा जनक को महर्षि अष्टावक्र के द्वारा आत्मज्ञान हुआ, जिसके कारण उन्हें सारा संसार ही आत्मा रूप दिखाई देने लगा। यहां पर वे संसार में दिखाई पड़ने वाली विविधता का कारण बताते हुए कहते हैं, यह जगत् आत्मा या ब्रह्मस्वरूप ही है क्योंकि यह उसी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, लेकिन यह उस परमात्मा से अलग दिखाई पड़ता है। इसका मुख्य कारण व्यक्ति को आत्मज्ञान का न होना है। प्राणी जब तक आत्मज्ञान को नहीं जान पाएगा, उसे यह संसार भिन्न प्रकार का प्रतीत होगा। वास्तव में यह संसार तो आत्मस्वरूप ही है। जिस प्रकार कभी-कभी भय के कारण या स्पष्ट न देख सकने

के कारण रस्सी को भी सांप समझ लेता है, लेकिन उसका यह सन्देह तब तक ही रहता है, जब तक उसे वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता और जैसे ही उसे यथार्थ वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है तो उसके सारे सन्देह समाप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार यह संसार भी आत्मा का ज्ञान न होने से ऐसा ही दिखाई पड़ता है। इस सूत्र का मुख्य आधार ये है, जिस व्यक्ति की आत्मा जाग गई, जिसने आत्मा को पहचान लिया, उसका संसार स्वयं ही छूट जाता है, संसार को त्याग देने से आत्मज्ञान नहीं प्राप्त होता। संसार का त्याग करो, यह माया है, मोह है, मिथ्या है, सन्देह है, असत्य है। इसी प्रकार क्रोध, लोभ, मोह, वासना, काम, स्वार्थ, घृणा, लगाव या हीनता आदि का त्याग करो तो परमात्मा की प्राप्ति होगी। ये सब धारणाएं भ्रम मात्र हैं। ये सब बातें ज्ञानी पुरुषों के अनुभव से आए हैं। अज्ञानी प्राणी इन्हें मानकर वैसा ही कार्य करेगा तो उसमें अहंकार (घमण्ड) की वृद्धि होगी, जिसके कारण उसका नैतिक पतन होगा। प्राणी को संसार, लालच, मोह, माया, क्रोध (गुस्सा) आदि को त्यागने से उसकी वास्तविकता को अनुभव किया जाए तो प्राणी को कुछ लाभ हो सकता है। संसार में रहकर उसने अनुभव प्राप्त कर लिया तो वह स्वयं ही त्याग देगा, यह जगत् अनुभव को सिखाने वाली पाठशाला है, इसमें रहकर व्यक्ति अपने अन्तःकरण (हृदय) रूपी आत्मा को पवित्र कर सकता है। परन्तु आत्मज्ञान को जानने की अलग विधि है। रस्सी को सांप जानकर दूर भाग जाने से उसका सन्देह दूर नहीं हुआ, वह सन्देह तो अपनी आंखों के द्वारा देखने से ही समाप्त होगा। इसीलिए जनक बताते हैं कि आत्मा के अज्ञान के कारण ही यह संसार प्राणी को आकर्षित करने लगता है, जिस व्यक्ति को आत्मा का ज्ञान हो जाता है, वह इस सांसारिक मोह माया को छोड़कर आत्मा के दर्शन करने लग जाता है। आत्मज्ञान के बाद भी संसार तो रहता है, परन्तु ज्ञानी और अज्ञानी को वह अलग-अलग दिखाई देता है। वह कहता है करने से अहंकार (घमण्ड) की वृद्धि होगी, करने वाला तो वो परमात्मा ही है। सब कुछ उसी पर छोड़ देना चाहिए। जो हो रहा

है, उसे होने दो। तुम संकल्प (निश्चय) लेकर कोई कार्य मत करो। सब कुछ स्वीकार करके कर्ता न बनकर उसे देखने वाली साक्षी बन जाओ। संसार का नियम है सब स्वयं ही हो रहा है। साक्षी का अर्थ अकर्मण्य (कर्म न करने वाला) वाला नहीं बल्कि स्वयं को कर्ता बनने से स्वतंत्र करना है। सब कुछ उस परमात्मा का ही है, वह जो कर रहा है, उसको रोकना उसके कार्य में बाधा डालने जैसा है। ऐसा जानने वाला योगी ही शान्त होकर साधक की योग्यता बनती है।

### सूत्र-8

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।

यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽहं भास एव हि॥

शब्दार्थ—प्रकाशः—प्रकाश, मे—मेरा, निजम्—अपना, रूपम्—स्वरूप, नातिरिक्तः—(उसके) अलावा नहीं, अहम्—मैं, ततः—उससे, यदा—जब, प्रकाशिते—प्रकाशित होता है, विश्वम्—संसार, तदा—तब, अहंभास—मेरे प्रकाश से, एव—ही, हि—निश्चयपूर्वक।

प्रसंग—प्रकाश मेरा निजी स्वरूप है। मैं उससे अलग नहीं हूँ। जब संसार प्रकाशित होता है, तब वह मेरे ही से प्रकाशित होता है।

व्याख्या—राजा जनक आत्मज्ञान के आनन्द के बारे में बताते हैं कि—मैं आत्म-स्वरूप (आत्मा के समान) हूँ, इस कारण से आत्मा के सारे गुण मेरे ही गुण हैं। ये आत्मा स्वयं प्रकाश है, इसे किसी दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती। सांसारिक पदार्थों में जो प्रकाश दिखाई देता है, यह भी उसी आत्मा का ही प्रकाश है, जीसस ने भी बताया है, ईश्वर प्रकाश है। शास्त्रों में भी इसे ज्योतिषाम ज्योति बताया गया है। यह प्रकाश उसके स्वभाव रूपी ही है। वो बिना आकार वाला परमात्मा भी प्रकाश मात्र ही है। ज्ञान प्राप्ति के समय में प्राणी को दिव्य प्रकाश का अनुभव होता है, वो प्रकाश इतना तेज होता है कि जैसे बारह सूर्य एक साथ प्रकाशित हो रहे हों। सूर्य आदि ग्रहों में भी उसी

का प्रकाश विद्यमान है। किसी पदार्थ को जब जलाते हैं तो उसमें से भी प्रकाश की उत्पत्ति होती है। यह चेतन आत्मा का ही प्रकाश होता है जो कि गोपनीय रूप में छिपा रहता है। परमाणुओं के विस्फोटों में भी प्रकाश ही निकलता है। जो कि इसका आधार स्वरूप है। विद्युतीय प्रकाश भी उसी आत्मा रूपी परमात्मा का प्रकाश है। अध्यात्म के जानने वालों ने इस प्रकाश को हजारों वर्ष पहले ही जान लिया था।

### सूत्र-9

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।

रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा ॥

शब्दार्थ—अहो—महान आश्चर्य, विकल्पितम्—विशेष रूप से कल्पित, विश्वम्—यह संसार, अज्ञानात्—अज्ञान से, मयि—मुझको, भासते—प्रतीत हो रहा है, रूप्यम्—चांदी, शुक्तौ—सीप में, फणी—सर्प, रज्जौ—रस्सी में, वारि—जल, सूर्यकरे—सूर्य की किरणों में, यथा—जैसे।

प्रसंग—महान आश्चर्य है कि अज्ञान से विकल्पित यह संसार अज्ञान से मुझको वैसे ही प्रतीत हो रहा है कि जैसे सीप में चांदी, रस्सी में सांप और जल में सूर्य की किरणें प्रतीत होती हैं।

व्याख्या—राजा जनक को आत्मज्ञान होने से उनकी सारी शंकाएं मिट गईं। उनको ज्ञान हो गया कि मेरा वास्तविक स्वरूप आत्मा है, शरीर नहीं। इसी प्रकार जगत् का वास्तविक स्वरूप भी आत्मा ही है, नाशवान पदार्थ नहीं। ये संसार जो प्राणी को अज्ञान के कारण दिखाई पड़ता है, वास्तव में ऐसा नहीं है, यह तो मात्र एक कल्पना है। इसकी वास्तविकता को प्रत्येक प्राणी जान ही नहीं पाया है, संसार में ऐसे बहुत ही कम विद्वान पुरुष हुए हैं, जिन्होंने इसकी वास्तविकता को पहचाना है। यह संसार सीपी के समान है इसका महत्त्वहीन है लेकिन इसका मूल्य चांदी के बराबर है। यह रस्सी के समान प्राणहीन है, किन्तु अज्ञानता के कारण इसे प्राणी सांप के समान मान लेता है। जिस



प्रकार जल में सूर्य की छाया दिखाई दे जाती है, वैसे ही यह संसार हमें दिखाई पड़ता है। यह हिरन की मरीचिका के समान है, जैसे हिरन मरीचिका को खोजता रहता है और वह अज्ञानता के कारण यह नहीं जान पाता कि मरीचिका तो स्वयं ही उसके पास पहले से है। इन तीनों दृष्टान्तों से इस संसार के तीन अर्थ स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, सीपी में चांदी के होने से यह चांदी की गति मूल्यवान एवं सुन्दर दिखाई पड़ती है, लेकिन वास्तव में यह सीपी के समान मूल्यहीन है। सांप के समान डराने वाला लेकिन रस्सी के समान निर्जीव है और जल के समान ऐसा लगता है कि यह हमारी सब इच्छाओं को प्राप्त करा देगा, लेकिन आज तक किसी भी प्राणी की कामना रूपी प्यास इस संसार के द्वारा नहीं बुझ पाई है। व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं की प्यास को बुझाते हुए ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, परन्तु उसकी कामनाएं मृत्यु के बाद भी पूर्ण नहीं हो पातीं। इसलिए प्राणी की इस वासना को अष्टावक्र जी ने हिरन की मरीचिका के समान बताया है कि यह केवल सन्देह मात्र है, वास्तविकता नहीं। वास्तविकता तो केवल आत्मा ही है, जो कि कण-कण में व्याप्त है, और व्यक्ति का परम लक्ष्य है।

### सूत्र-10

मत्तौ विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।

मृद कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा ॥

शब्दार्थ—मत्तः—मुझसे, विनिर्गतम्—पैदा हुआ, विश्वम्—यह संसार, मयि—मुझमें, एव—ही (निश्चयपूर्वक), लयम्—लय को, एष्यति—प्राप्त होता है, मृदि—मिट्टी में, कुम्भों—घड़ा, जले—जल में, वीचिः—लहरें, कनके—स्वर्ण में, कटकम्—आभूषण, यथा—जैसे।

प्रसंग—मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार मुझमें उसी तरह लीन हो जाता है, जैसे घड़ा मिट्टी में, लहरें जल में और सारे आभूषण जेवरात (अपने नाम रूप के साथ) स्वर्ण (सोने की धातु) में मिल जाते हैं।

**व्याख्या**—राजा जनक को आत्मज्ञान हो जाने से ऐसा प्रतीत होने लगा कि यही आत्मज्ञान ही इस संसार का मूल आधार है, जिससे कि मैं और यह सारा संसार बना है। यह मूल आधार संसार के आरम्भ से ही बिना आकार वाला जिसका कोई निश्चित नाम, स्थान व किसी से भी अलग न रहने वाला था। संकल्प से इसकी चेतना अवस्था में लहरें उत्पन्न हुईं और वही चेतना ही बढ़ती हुई चली आ रही है। लेकिन जब से चेतना समाप्त होगी तो उस समय इसकी क्या दशा होगी ? यह एक विचार करने की बात है। ज्ञानी पुरुष बताते हैं कि जब इस चेतना का अन्त हो जाएगा तो यह दोबारा अपने इसी मूलरूप में उत्पन्न हो जाएगी और संसार की उत्पत्ति होगी। यह चक्र सदैव चलता ही रहेगा। कुछ धर्मों की ऐसी मान्यता है कि यह संसार ईश्वर के द्वारा बनाया गया है, वही इसको बनाने वाला, पालन करने वाला तथा वही विनाश करने वाला है, लेकिन यह वैज्ञानिक आधार पर स्वीकार नहीं किया जाता। अगर संसार की उत्पत्ति करने वाला ईश्वर है तो प्राणी दुखी क्यों है, इसके दुखी होने का क्या कारण है ? इस प्रश्न का उत्तर कोई धर्म नहीं दे सकता है, जिसे विज्ञान स्वीकार कर ले। लेकिन संसार की उत्पत्ति की यह व्याख्या विज्ञान के द्वारा मान्य है। वर्तमान में नहीं तो भविष्य में विज्ञान इस बात को अवश्य ही सहमत हो जाएगा। जो व्यक्ति या धर्म ये कहते हैं कि संसार की उत्पत्ति करने वाला कोई नहीं है तो इसमें थोड़ी-सी सत्यता अवश्य ही है कि किसी व्यक्ति विशेष ने इसका निर्माण नहीं किया बल्कि यह सृजन की स्वाभाविक प्रक्रिया से बनी है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है, पदार्थ कभी समाप्त नहीं होता केवल रूप बदल जाता है। यह पदार्थ ऊर्जा रूप में बदल सकता है। और ऊर्जा से उसी पदार्थ का दोबारा निर्माण हो जाता है, ऐसी विज्ञान की मान्यता है। राजा जनक भी इसी वैज्ञानिक बात को बता रहे हैं कि ये संसार आत्मा (ब्रह्म) से ही उत्पन्न हुआ है, जो कि संसार का मूल आधार है। ये सभी आकार ऊर्जा के ही रूप हैं जो कि विभिन्न पदार्थों को मिलाकर बने हैं। प्रलय के समय ये पदार्थ ऊर्जा में

बदलकर बिना कोई रूप, आकार वाले अन्य व्यक्ति में समा जाएंगे, जिस प्रकार से घड़ा मिट्टी से ही बनता है और बाद में उसी मिट्टी में दोबारा मिल जाता है, तरंगों के शान्त होने पर समुद्र में पानी ही शेष बच जाता है और स्वर्ण धातु से बने आभूषणों को गलाकर वह स्वर्ण ही रह जाता है। ये सभी अपने मूल संरचना में आ जाते हैं, जिस प्रकार पानी से बर्फ का निर्माण होता है और बर्फ पिघलकर फिर अपने मूलरूप पानी में ही हो जाती है, इसी प्रकार से इस संसार का मूल तत्त्व आत्मा रूपी (परमात्मा) ही है तो समाप्त होने पर भी वह अपने मूल रूप में ही रहता है। जिस प्रकार से एक व्यक्ति किसी का पिता, किसी का पुत्र किसी का भाई, किसी का पति आदि होता है, परन्तु वह देखने में एक ही होता है, इसी प्रकार से यह आत्मा अनेक रूपों में बसी हुई है, परन्तु वास्तव में वह एक ही है जो कि समाप्त होने पर उस परब्रह्म में मिल जाती है, जिसे जन साधारण मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं।

### सूत्र-11

अहो अहं नमो मह्यं विनाशी यस्य नास्ति मे।

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशोऽपि तिष्ठतः ॥

शब्दार्थ—अहो—आश्चर्य है, अहम्—मैं, नमो—नमस्कार करता हूँ, मह्यम्—स्वयं को (मुझको), विनाशः—नाश, यस्य—जिसके, नास्ति—नहीं होता है, मे—मेरा, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम्—ब्रह्मा से तृण पर्यन्त, जगन्नाशोऽपि—संसार का नाश (बाधित हो जाने पर भी) हो जाने पर भी, तिष्ठतः—होते हुए का।

प्रसंग—ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त (तृण-मूल) तक संसार का नाश हो जाने पर भी मेरा या मेरे स्वरूप का, विनाश नहीं होता, जो स्थिर और स्थित रहता है, ऐसे आश्चर्य रूपी आत्मा को मैं स्वयं ही नमस्कार करता हूँ।

व्याख्या—जो प्राणी आत्मा ज्ञान के परम स्वाद को चखने का अपने जीवन का लक्ष्य नहीं मानते, बल्कि यज्ञ, उपासना, योग, ध्यान

आदि के विविध लोकों को प्राप्त करना चाहते हैं। उन लोकों को प्राप्त कर लेने के बाद भी प्राणी अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों (चौरासी लाख योनियों) में भ्रमण करता रहता है, गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा है—“आ ब्रह्मा भुवनान्नोकापुनरावर्तिनोऽपिर्जुन” हे अर्जुन—ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेने के बाद भी प्राणी को दोबारा इस मृत्यु लोक में आना ही पड़ता है। कार्य के द्वारा जो व्यक्ति अर्जित करता है, वह स्थायी नहीं होता। यहां पर राजा जनक इससे भी आगे का व्यक्ति को बोध कराते हुए कहते हैं कि—मैं आत्मा होने से स्वयं ही नित्य ब्रह्म हूं। ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक का नाश हो जाता है पर मेरा कभी नाश नहीं हो सकता है। मैं आश्चर्यचकित हूं। मैं स्वयं को ही नमस्कार करता हूं। यह परब्रह्म का शासन है, इसे किसी ने नहीं बताया बल्कि इसने ही सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। सारे संसार को बनाने के बाद भी उसकी पूर्णता में कोई अभाव नहीं हुआ। यह संसार तो नाशवान है अर्थात् इसका विनाश तो होना स्वाभाविक है, परन्तु ब्रह्मा भी उस ब्रह्म का साकार रूप है, अतः उनका भी विनाश होना संभव है, क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है उसकी मृत्यु अवश्य है। यह तो संसार का एक मुख्य नियम है। जो है, और जो आगे भी रहेगा वह कोई और नहीं स्वयं मैं आत्मा ही हूं, जिसका कभी विनाश नहीं होता है। मेरा जो यह अविनाशी रूप है, वह स्वर्ग लोक आदि से भी उत्तम है। मैं अपने उस आत्मारूपी स्वरूप को नमस्कार करता हूं। अभी तक तो अज्ञानता होने के कारण मैं अन्य देवी-देवताओं को नमस्कार या उनकी आराधना करता रहा कि वे मुझ पर अपनी प्रसन्नता से अपने लोक में निवास करने का अवसर प्रदान करेंगे, लेकिन जब मुझे आत्मज्ञान हो गया तो मैंने जान लिया कि ये देवगण तो विनाशी हैं अर्थात् एक दिन इनका भी विनाश हो जाएगा तो मुझे आश्चर्य हुआ कि मैं तो इन देवगणों से भी अच्छे सौभाग्य वाला हूं जो मुझे ऐसा आत्मज्ञान हुआ है। जिसका विनाश होना असंभव है। मैं स्वयं को प्रणाम करता हूं।

## सूत्र-12

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि ।

क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः ॥

शब्दार्थ—अहो—आश्चर्य, अहम्—मैं, नमः—नमस्कार करता हूँ, मह्यम्—मुझको, एकः—अकेला, देहवानपि—देह धारी होने पर भी, क्वचित्—कहीं, न—नहीं, गन्ता—जाने वाला, अगन्ता—आने वाला, व्याप्य—व्याप्त होकर, विश्वम्—संसार को, अवस्थितः—स्थित हूँ ।

प्रसंग—मैं स्वयं को नमस्कार करता हूँ, जो कि एक शरीरधारी होते हुए भी न कहीं जाता है, न ही कहीं से आता है और समस्त शरीरों में निवास करता हूँ, कितना आश्चर्य है ।

व्याख्या—राजा जनक को आत्मज्ञान व उस ब्रह्म का अनुभव हो जाने से एक साथ ही सबका ज्ञान प्राप्त हो गया । वे आश्चर्यचकित होते हुए स्वयं को नमस्कार करते हुए कहते हैं कि मैं एक शरीरधारी प्राणी हूँ फिर भी मुझे अध्यात्म का ज्ञान प्राप्त हो गया है । जबकि शरीर को धारण करने वाले जीव अपने आपको उस परमपिता परमेश्वर से अलग मानते हैं और जिसका शरीर से लगाव समाप्त नहीं हुआ है आत्मा को भी अलग-अलग शरीरों में अलग-अलग ही मानते हैं । यह विविधता ज्ञान न होने के कारण है । जिस प्रकार से सभी पानी के कुओं में जल अलग-अलग दिखाई पड़ता है, लेकिन उनका एक महासागर से ही सम्बन्ध है । जिस प्रकार प्राणी को अनेक जलाशयों में चन्द्रमा की छाया अलग-अलग दिखाई देती है, लेकिन चन्द्रमा तो सब जगह एक ही है । ये सब उसे ज्ञान का अनुभव होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है । ज्ञान रहित प्राणी ही सुख-दुःख, राग-विराग, मोह-माया, बुरा-अच्छा, जन्म-मृत्यु, पुनर्जन्म आदि मानते हुए आत्मा को अलग-अलग जाते हैं जबकि ये समस्त गुण शरीर और मन के होते हैं लेकिन व्यक्ति ने अज्ञान के कारण इन्हें आत्मा के खाते में डाल दिया है ।



वास्तव में ऐसा नहीं है। आत्मा तो एक ही है, वह इस संसार के कण-कण में रमी हुई है, उसके गुण-दोष तो अलग हैं, जनक आत्मा को एक बताते हुए कहते हैं कि वह तो प्रत्येक जीव-जन्तु में एक समान रूप से स्थित है जो न तो कहीं जाती है और न आती है और संसार के कण-कण में स्थित है।

### सूत्र-13

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः ।

असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ॥

शब्दार्थ—अहो—आश्चर्य! अहं नमः मह्यम्—मैं स्वयं को नमस्कार करता हूँ, दक्षः—चतुर, नास्ति—नहीं है, इह—इस सृष्टि से (संसार में), मत्समः—मेरे समान, असंस्पृश्य—अलग रहकर, शरीरेण—शरीर से, येन—जिससे, विश्वम्—संसार, चिरम्—चिरकाल पर्यन्त, धृतम्—धारण किया गया।

प्रसंग—महान आश्चर्य है कि सभी प्रकार के संसर्गों से अलग रहकर, मैंने इस सारे संसार को धारण किया हुआ है। मैं ऐसा शरीर में रहते हुए भी उससे अलग रहकर करता हूँ, मेरे समान दूसरा कोई चतुर, निपुण और कौन होगा। मैं अपने आपको नमस्कार करता हूँ।

व्याख्या—राजा जनक बताते हैं कि इस सम्पूर्ण-जगत् में मेरे समान कोई (कुशल) योग्य नहीं है, इस आत्मज्ञान की बड़ी कुशल है कि यह संग न होते हुए बिना किसी शरीर को छोड़ इस जगत् को सदैव से ही धारण किए आ रहा है। विश्व जगत् आत्म तत्त्व की अनुपस्थिति में कैसे रह सकता है। जिस प्रकार से व्यक्ति (शरीर) की आत्मा अलग हो जाती है और उस शरीर को मृतक शरीर कहा जाने लगता है। सभी शरीरों को सजीव रखने वाला यही आत्म तत्त्व है। अनेक शरीरों को आत्मा ने ही धारण कर रखा है। इसलिए इस आत्मा को संसार की आत्मा (परमात्मा) कहा जाता है। यह इसका मुख्य गुण है, यह स्वयं कोई कार्य न करने के बाद भी उसके गुणों के प्रभाव से ही स्वाभाविक



रूप से होते रहते हैं, जिस प्रकार चुम्बक लोहे को प्रयास करके नहीं खींचता, सूर्य अपनी इच्छा से धूप व ताप, प्रकाश नहीं देता। गुरुत्वाकर्षण (गुरुत्व बल) किसी की आज्ञा को मानकर पदार्थ को अपनी ओर आकर्षित नहीं करता। इसी प्रकार से बादल किसी की आज्ञा मानकर वर्षा नहीं करते। ये सारे कार्य उनके मौलिक गुण-धर्म हैं जो कि स्वयं अपने आप ही चलती रहती है। इसी प्रकार से यह आत्मा ही जगत् को धारण किए हुए है, जिस प्रकार अग्नि घी की डली को दूर से ही पिघला देती है, उसकी इच्छा से नहीं, बल्कि अपने स्वाभाविक गुणों के आधार पर ये सब कार्य होते हैं, यह बहुत बड़ा वैज्ञानिक सत्य है, जिसको राजा जनक ने स्पष्ट किया। जो प्राणी सभी कार्य ईश्वर की इच्छा के द्वारा हुआ जानते हैं कि वही कर्ता एवं धर्ता है, उन्हें इससे बड़ी निराशा होगी। वैज्ञानिक का आधार भी यही है।

### सूत्र-14

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन।

अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम्॥

शब्दार्थ—अहो—आश्चर्य, अहं नमो मह्यम्—मैं स्वयं को नमस्कार करता हूँ, यस्य—जिसका, मे—मेरा, नास्ति—नहीं है, किञ्चन—कुछ भी, अथवा—या फिर, यस्य—जिसका, मे—मेरा, सर्वम्—सब कुछ है, यत्—जो, वाङ्मनस गोचरम्—वाणी और मन की पहुंच के भीतर है, जहां तक वाणी और मन की गति है।

प्रसंग—मैं आश्चर्यचकित होकर मैं स्वयं को, उस स्वयं को नमस्कार करता हूँ, जिसका अपना कुछ नहीं है या फिर वह सब कुछ उसका है, जहां तक मन और वाणी जाते हैं।

व्याख्या—राजा जनक आत्मा के बारे में बताते हैं कि मैं आत्मरूप हूँ अतः मेरा इस संसार में कुछ भी नहीं है। मेरा वही होता है, जहां पर किसी को अधीन कर रखा हो या जिस पर अपना अधिकार कर रखा हो। आत्मा ने न तो किसी पर अपना अधिकार ही कर रखा है और न

ही किसी को सेवक बना रखा है। वह संगति रहित है, करने वाला और उपभोग करने वालों से अलग है, इस कारण ही आत्मा के लिए कोई अपना-पराया नहीं है, वह तो केवल देखने वाली है, उसकी देख-रेख में ही सब कुछ होता रहता है। जनक बताते हैं कि सब कुछ मेरा है यानी सब कुछ आत्मा का ही है। यह सारा संसार उसी की लीला है। वह कुछ भी नहीं करती परन्तु सब कुछ उसी से हो रहा है। लेकिन वह कार्य में शामिल नहीं है। ये सांसारिक भोग वासनाएं मन और इन्द्रियों के विषय हैं। आत्मा का इनसे कोई लेन-देन नहीं है। आत्मा इस भोग वाले शरीर में स्थित होते हुए भी सदैव इनसे अलग ही रहती है। इसी महान सुन्दर आत्मा को मैं प्रणाम करता हूँ। नमन करता हूँ।

### सूत्र-15

ज्ञान ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।

अज्ञानाद्भाति यत्रेंद्र सोऽहभस्मि निरञ्जनः ॥

शब्दार्थ—ज्ञानम्—ज्ञान, ज्ञेयम्—जिसे जाना जाता है, तथा—और, ज्ञाता—जो जानता है, त्रितयम्—ये तीनों ही, नास्ति—नहीं हैं, वास्तवम्—वास्तविक, अज्ञानात्—अज्ञान के कारण, भाति—भासमान होता है, यत्र—जहां, इदम्—यह, सः—वह, अहम्—मैं, अस्मि—हूँ, निरंजन—सभी प्रकार के दोषों से परे।

प्रसंग—जिससे जाना जाता है, जिसे जानना है, और जो जानने वाला है, ये तीनों वास्तविक नहीं हैं। ये तीनों अज्ञान के कारण ही जहां प्रतीत हो रहे हैं वह निरंजन रूप सभी प्रकार के दोषों से रहित परे मैं हूँ, वही मेरा यथार्थ रूप है।

व्याख्या—जो जानता है, वह ज्ञाता है। जो जानने योग्य है, जिसे जानना चाहिए उसे 'ज्ञेय' कहते हैं। ज्ञाता जिस माध्यम द्वारा जिन प्रमाणों से जानने योग्य को जानता है, वह ज्ञान है। किसी वस्तु को जानने के लिए इन तीनों का उपस्थित होना अनिवार्य है, नहीं तो हम

उसके बारे में नहीं जान पाएंगे। यहां ज्ञान साधन समान है। इन तीनों को जानकर ही साधना, तपस्या आदि सब व्यवहार होते हैं। किसी दूसरे के बारे में जानना हो तब यह प्रक्रिया अपनाई जाती है, लेकिन जब ज्ञेय ज्ञाता से अलग नहीं है, अनन्य है, ज्ञान किसी दूसरे का नहीं स्वयं का ही करना चाहता है। यदि जानने वाला है, तभी ज्ञेय और ज्ञान हो सकते हैं, अगर ज्ञाता और जिसे जानना है दोनों नहीं तो ज्ञान कहां से होगा। इस श्लोक में राजा जनक ने आत्मा स्वयं ज्ञान का ही रूप है, उसे किसी दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, उसके अतिरिक्त और कुछ जानने के योग्य नहीं है, जब तक प्राणी अज्ञान के स्वरूप है, तब तक ही उसे ज्ञान की जरूरत है, मैं स्वयं आत्मा हूं, ज्ञान स्वरूप हूं, आत्मा के लिए ये तीनों वास्तविक नहीं हैं। मैं आत्मा होने से दोष रहित हूं मुझे ज्ञान की जरूरत नहीं है। ज्ञान, ज्ञाता (ज्ञान को जानने वाला) और ज्ञेय तीनों जब तक ज्ञान रहित हैं, तभी तक प्रतीत होते हैं। ज्ञानी पुरुष के लिए ये झूठे हैं। ज्ञान रहित प्राणी को ज्ञान चाहिए। अगर वह ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसे किस वस्तु का ज्ञान चाहिए और ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसे कुछ साधनों की भी आवश्यकता होगी। आत्मा तो स्वयं ही ज्ञान है, वह तो इस जगत् के समस्त ज्ञानों का ज्ञान है, अतः वह स्वयं और किसके बारे में ज्ञान प्राप्त करे। उसके लिए तो तीनों ही वास्तविक नहीं हैं। ज्ञान रहित प्राणी इस संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, लेकिन सब कुछ जान नहीं पाता। उसमें अज्ञान रह ही जाता है, लेकिन आत्मज्ञान को जान लेने वाला प्राणी सब कुछ जानकर सन्तुष्ट हो जाता है। उसे किसी दूसरे ज्ञान को जानने की इच्छा नहीं रहती, आत्मज्ञान को जान लेना ही परम ज्ञान को जान लेना है।

### सूत्र-16

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।

दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः ॥

शब्दार्थ—द्वैतमूलम्—जिसके कारण रूप में द्वैत स्थित है,

अहो—आश्चर्य है, दुःखम्—दुःख, नान्यत्—दूसरा कोई नहीं, तस्य—उसकी, अस्ति—है, भेषजम्—औषधि, दृश्यम्—जो कुछ दिखाई दे रहा है, एतत्—यह सब, मृषा—मिथ्या (झूठा है), सर्वम्—सब कुछ, एकः—अकेला (अद्वैत रूप), अहम्—मैं, चिद्रसः—चैतन्य रस, अमलः—सभी मलों (दोषों) से परे, शुभ्र—स्वच्छ हूं।

**प्रसंग**—अहो! दुःख का मूल कारण द्वैत है, उसकी औषधि कोई और नहीं। यह सब संसार झूठा है। मैं एक शुद्ध चैतन्य रस हूं।

**व्याख्या**—इस जगत् में जितने भी रोग (बीमारी) हैं, उनकी औषधि (दवाई) भी है। परन्तु द्वैत के कारण बीमार रूप यह संसार उत्पन्न हुआ है और उसके फल के रूप में जो दुःख है, उसकी कोई दवाई नहीं है। द्वैत के रहने पर दुःख का इलाज हो जाए ऐसा आवश्यक नहीं है। दुःख की मात्रा के घट जाने से भले ही प्राणी सुख की अनुभूति करने लगता है, लेकिन वह उसका मात्र सन्देह है। वह वस्तुओं को अलग-अलग रूपों में देखता है। वह सोचता है कि मैं तो अकेला हूं, संसार मुझसे अलग है, मैं उस सम्पूर्ण का भाग नहीं हूं मेरा अलग अस्तित्व है, ऐसा जानकर वह सम्पूर्ण अस्तित्व से विरोध करता है, प्रकृति को जीतना चाहता है, जिसके लिए वह चोरी, हत्या और समाज द्वारा निन्दित कार्य आदि सब कुछ कर सकता है। ये सभी कार्य व्यक्ति अपने को सम्पूर्ण से अलग समझने के कारण ही करता है। यही व्यक्ति के दुःख का मुख्य कारण है। लेकिन यह द्वैत झूठा है, अतः इसको वह जानना नहीं चाहता। ऐसा करने से उसका अहंकार (घमण्ड) समाप्त हो जाएगा, उसका वह अमूल्य नष्ट जाएगा, जिसे वो नष्ट करना नहीं चाहता। लेकिन उसे इस रहस्य का ज्ञान नहीं है कि मिटता कुछ नहीं है। अहंकार (घमण्ड) जो कि तुच्छ है उसका विनाश होने पर प्राणी का सम्बन्ध उस आत्मा रूपी परम तत्त्व से हो जाता है। तरंगें समाप्त होकर समुद्र बन जाएंगी, बीज विकसित होकर एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेगा, व्यक्ति की बाहरी इच्छाओं का विनाश होकर आत्मा रूप से परमात्मा बन जाएगा। व्यक्ति को जो

सफलता होगी, कई गुना होगी। इस तथ्य का ज्ञान न होने के कारण व्यक्ति तुच्छ (झूठे) सांसारिक मोह-माया के बन्धनों में फंसा हुआ है। जिस पल प्राणी को उस अखण्ड परमात्मा के भाग हो जाने का ज्ञान हो जाता है, उसी पल से वह सम्पूर्णता का ज्ञान प्राप्त करके सारे दुःखों से मुक्त हो जाता है। परमात्मा को जान लेने की विविधता करना भी एक पाखंडता है। व्यक्ति में दुर्गुणों के रहते उसके सभी उपाय व्यर्थ हो जाते हैं। व्यक्ति समाज में अपने दिखाने मात्र के लिए मन्दिरों में जाना, तिलक या गेरुए रंग के वस्त्र धारण करना, उपासना, जाप, यज्ञ-व्रत, योग एवं हठ योग साधना आदि अनेक क्रियाओं (कार्य) के द्वारा स्वयं को भगवान का भक्त बनने का प्रयास करता है, परन्तु उसके मन में दुर्गुण का समावेश रहता है। अतः उसके ये सब कार्य व्यर्थ हो जाते हैं, कहते भी हैं कि—“मन चंगा तो कठौती में गंगा” ये कार्य व्यक्ति में अवगुणों की वृद्धि करते हैं और व्यक्ति परमपिता परमेश्वर से दूर होता चला जाता है। परमेश्वर अनेक प्रकार के उपायों (साधनों) से नहीं मिलता, वह तो हमारे अन्दर ही बैठा हुआ है लेकिन ज्ञान न होने के कारण हमें दिखाई नहीं पड़ रहा है, उस पर धूल जम गई है, हमें तो केवल इतना करना है कि उस धूल की सफाई करना है। इस धूल के हटते ही वह हमें प्रत्यक्ष दिखाई देने लगेगा। उस समय तुम्हें अध्यात्म का अनुभव भी प्राप्त होगा। तभी तुम्हें अपने इस जीवन का सच्चा सुख और परम आनन्द मिलेगा। अपनी आंखों को खोलकर और अपने वास्तविक चेहरे को पहचानने की आवश्यकता मात्र है। यहां पर गुरु की आवश्यकता केवल इतनी है कि गुरु सारे सन्देहों को समाप्त करके उस परम सत्य का ज्ञान करा देता है। इसी ज्ञान को राजा जनक समग्रता को ज्ञान लेना बताते हैं और कहते हैं कि अध्यात्म का ज्ञान हो जाने से मैं जाग गया और कहने लगा कि मैं ही स्वच्छ चेतन रस हूं। संसार रूपी सन्देह का जाल टूट गया। ये सभी कार्य गुरु की कृपा के कारण ही संभव हो सका।



## सूत्र-17

बोधमात्रोऽहमज्ञानदुपाधिः कल्पितो मया ।

एवं विमृश्यतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम ॥

शब्दार्थ—बोधमात्र—मात्र ज्ञान रूप, अहम्—मैं, अज्ञानात्—अज्ञान से, उपाधिः—उपाधि, —कल्पितः—कल्पित किया गया है, मया—मुझसे, एवम्—इस प्रकार, विमृश्यतो—विचार करते हुए, नित्यम्—नित्य, निर्विकल्पे—जिसका कोई अन्य विकल्प न हो, उसमें, स्थितिः—स्थिति है, मम—मेरी ।

प्रसंग—(वास्तव में) मैं बोधरूप ज्ञान रूप हूँ। ज्ञान रहित होने के कारण ही मुझमें अलग-अलग नामरूप आदि उपाधियों की कल्पना की गई जो कि आरोपमात्र है, ऐसा विचार करते हुए कि नित्य निर्विकल्प में मेरी स्थिति है, आश्चर्य है ।

व्याख्या—राजा जनक अपने आत्मज्ञान को बढ़ाते हुए कहते हैं कि मैं आत्मा रूप होने से शुद्ध एवं ज्ञान हूँ। आत्म रूपी यह संसार अखण्ड है, जिसको छोटे-छोटे टुकड़ों में नहीं बांटा सकता है। यह तो एक होते हुए सम्पूर्ण है। इसको अलग-अलग रूपों में बांटने से इसकी आवश्यकता ही नष्ट हो जाती है, सम्पूर्णता की सुन्दरता ही समाप्त हो जाती है। शरीर एक है व पूर्ण होने के कारण सुन्दर है। उसके सभी भागों को अलग-अलग करने पर उसकी क्या स्थिति होगी। इसी प्रकार की स्थिति इस संसार की है। जिस प्रकार से प्राणी के सभी अंगों को यथावत क्रम में स्थित होने से उसमें आत्मा का स्थित होने का पता चलता है, उसी प्रकार से इस जगत में भी एकत्व के होने से परमात्मा या परब्रह्म का पता चलता है, संसार की विविध वस्तुओं में भिन्नता नहीं है, बल्कि एकता है, लेकिन उनके अलग-अलग नाम रख देने से ही उनके विविधता का आभास होता है। इस अलग-अलग नाम रखने से पहले सभी एक ही था। ये अलग-अलग व उपाधि ज्ञान के न होने के कारण ही है। हाथ, पैर, कान, आंख, नाक आदि के नाम को जान लेने से सम्पूर्ण मानव को जान लेना नहीं है, लेकिन सम्पूर्ण मानव के



ज्ञान से इन सबका ज्ञान स्वयं ही हो जाता है। अनेक उद्योगों में बनने वाले अनेक प्रकार के पुर्जे एक जगह जोड़कर मशीन (यन्त्र) का निर्माण होता है, लेकिन प्राणी के शरीर की उत्पत्ति इस प्रकार की नहीं है। वह तो एक चेतन तत्त्व से बना है, इसी प्रकार से इस संसार का निर्माण भी एक ही परम तत्त्व ब्रह्म से हुई है। अतः इसमें एकत्व होता है। विविध प्रकार के पुर्जों को जोड़ देने से मानव यन्त्र (रोबोट) तो हो सकता है, लेकिन वह चेतना से पूर्ण मानव नहीं। प्राणी फिएट और एम्बेसेडर कारों के अनेक माडल नहीं है, बल्कि इनको चलाने वाला एक ही तत्त्व होता है। इसी प्रकार का यह संसार है जो ज्ञान रहित प्राणी को अलग-अलग दिखाई देता है। ज्ञानी लोग इसमें एक तत्त्व को देखते हैं। हिन्दू धर्म को मानने वालों का अपना एक विचित्र ही विचार था। उन्होंने एक संसार पुरुष की कल्पना की और संसार के सभी भागों को उसके शरीर के अंग के रूप में जाना जिससे कि संसार की एकत्व भावना का विनाश हो जाए। इस उदाहरण के माध्यम से जनक इस तथ्य को प्रकट कर रहे हैं कि इन सभी उपाधि की कल्पना अज्ञानता के कारण ही हुआ है। जिस प्राणी को आत्मा का ज्ञान नहीं है, परमात्मा का ज्ञान नहीं है वे पदार्थ को पदार्थ मानकर नाम रख देते हैं। वास्तव में यह संसार ही आत्मा है। विचार साधक के लिए भी है और आत्मज्ञान के अनुभव करने वाले प्राणियों के लिए भी है। पहली प्रकार के विचार सापेक्षिक विकल्प लिये होते हैं, जबकि आत्मज्ञान का अनुभव कर लेने वालों के विचार निश्चित होते हैं। वह कभी इधर-उधर की नहीं सोचता, इसलिए उसमें बिना किसी विकल्प की स्थिति बनी रहती है।

### सूत्र-18

अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।

न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्ता निराश्रया ॥

शब्दार्थ—अहो—आश्चर्य है, मयि—मुझमें, स्थितम्—स्थित, विश्वम्—संसार, वस्तुतः—असल में, न—नहीं, स्थितम्—स्थित

है, मे—मेरा, बन्धः—बन्धन, अस्ति—है, मोक्षो—मोक्ष, वा—  
या, भ्रान्ति—भ्रान्ति, शान्ता—शांत (और) निराश्रया—आधारहीन  
(हुई)।

**प्रसंग**—कितना महान आश्चर्य है कि समस्त संसार मुझमें स्थित है जो कि वास्तव में मुझमें स्थित नहीं है। न मुझमें बन्धन है और न ही मोक्ष। इस प्रकार का सन्देह से भरा हुआ मेरा विचार था (मैं बन्धनयुक्त या मुक्त हूं) अब शान्त हुआ, आधारहीन सिद्ध हुआ।

**व्याख्या**—राजा जनक को एकत्व का ज्ञान हो गया कि यह संसार और परमात्मा अलग-अलग नहीं है। परमात्मा या आत्मा ही इस संसार (जगत्) का फैलाव है। जब व्यक्ति किसी के अधीन या बन्धन में होता है तो वह मुक्त होने का विचार करता है। बन्धन से तात्पर्य यह नहीं कि हमने किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा बन्धन बना लिए हों और हम उसके बन्धन से मुक्त (स्वतन्त्र) होने के लिए बेचैन हो रहे हों। जब तक मुझे आत्मज्ञान नहीं हो सका था तब तक मैं इस विश्व को आत्मा से अलग ही समझता था, लेकिन जब मुझे पता चला कि ये आत्मा ही इस संसार का मूल तत्त्व है तो मेरे सारे बन्धन स्वयं ही टूट गए। जिस प्रकार ज्ञान न होने के कारण मुझे यह जगत् का रूप दिखाई देता था, उसी प्रकार बन्धन भी अज्ञान के कारण ही थे। ये विश्व झूठा था तो इसके बन्धन भी झूठे ही थे। जब बन्धन है तो मोक्ष भी गलत ही है। दोनों ही झूठे हैं। मैं किसी के भी पक्ष (शरण) में नहीं हूं, इसलिए अज्ञान रूपी बन्धन और मोक्ष का सन्देह दूर हो गया। अज्ञान के समय में मुझमें यह संसार स्थित था लेकिन अब यह सारे सन्देह समाप्त हो गए हैं, अब मैं आत्मा से युक्त हूं और जगत् मुझमें स्थित नहीं है। मैं अज्ञान के कारण अपने शरीर, इन्द्रियां आदि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, जाति व आश्रम व्यवस्था वाला, कर्ता (करने वाला), भोक्ता, (उपभोग करने वाला) आदि न जाने क्या-क्या समझता था। यही मेरा संसार (जगत्) और बन्धन थे। लेकिन अब संसार मुझमें नहीं है, इसीलिए किसी प्रकार का कोई बन्धन भी नहीं है और बन्धन न होने

के कारण मोक्ष भी नहीं है। यह उसी प्रकार है, जैसे कि स्वप्न में किसी व्यक्ति को सजा (जेल) हो जाती है और प्रयास करके वह सजा से मुक्त (स्वतन्त्र) हो जाता है और जब व्यक्ति जाग जाता है तो वह अन्य व्यक्तियों को अपने स्वप्न के बारे में बताता है। स्वप्न को सुनने वाले व्यक्ति उस व्यक्ति को कारावास से मुक्त हो जाने के लिए बधाई देते हैं।

## सूत्र-19

सशरीरमिदं विश्वं न किञ्चितदिति निश्चितम्।

शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाऽधुना ॥

शब्दार्थ—सशरीरम्—शरीर के साथ, इदम्—यह, विश्वम्—जगत्, न—नहीं है, किञ्चिदिति—कुछ भी, निश्चितम्—सुनिश्चित है, शुद्ध—निर्विकार, चिन्मात्र—चेतनामात्र, आत्मा—आत्मा, च—और, तत्—वह (जगत्), कस्मिन्—किसमें, कल्पना—कल्पित है, अधुना—इस समय।

प्रसंग—अपने सम्पूर्ण आकार नाम-रूप के सहित यह वास्तविक रूप में कुछ भी नहीं है, ऐसा निश्चित है। और यह भी कि आत्मा शुद्ध चिन्मात्र है। यदि ऐसा है तो फिर यह ऐसा संसार जो अस्तित्वहीन है, दिखाई क्यों देता है? कल्पना मात्र है बस।

व्याख्या—राजा जनक बताते हैं कि शरीरों वाला यह जगत् वास्तव में कुछ भी नहीं है। सन्देह के लिए प्रकाश और अंधेरा दोनों का होना ही आवश्यक है। पूर्णरूप से अंधेरे में सन्देह संभव नहीं है और सम्पूर्ण प्रकाश में सन्देह की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि उजाले में तो पदार्थ साफ (स्पष्ट) दिखाई पड़ता है। ये संसार केवल शुद्ध चेतन आत्मा ही है। आत्मा का कोई निश्चित आकार नहीं है। उसी का साकार रूप यह संसार है, अतः ये आत्मा से अलग नहीं है, बल्कि आत्मा ही है, ऐसा मुझे निश्चित लग रहा है। फिर इसमें किसकी कल्पना की जाए। कल्पना का निर्माण करने में दो पदार्थों या

दो विचारों की आवश्यकता होती है, जब ज्ञान हो जाता है और अधिष्ठाता स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है तो शरीर वाला इस संसार का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जब सब कुछ साफ दिखाई दे रहा है तो इस संसार की कल्पना क्यों करे। रस्सी में सांप को समझना ये तो अज्ञान के कारण ही होता है। इसका तो राजा जनक के अनुभव कर लेने के पश्चात् निश्चित हो गया है।

### सूत्र-20

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा ।

कल्पनामात्र मेवैतत्किमे कार्यं चिदात्मनः ॥

शब्दार्थ—शरीरम्—यह शरीर, स्वर्गनरकौ—स्वर्ग और नरक, बन्धमोक्षौ—बन्धन और मोक्ष, भयम्—भय, तथा—और, कल्पनामात्रम्—प्रतीति मात्र, एव—ही है (निश्चयपूर्वक), तत्—तो, किम्—क्या, मे—मेरा, कार्यम्—कर्तव्य, चिदात्मनः—चैतन्य रूप आत्मा का।

प्रसंग—शरीर स्वर्ग-नरक बन्धन और भय आदि मात्र कल्पना है, वास्तविक कुछ नहीं है तो चेतन आत्मरूप मेरे लिए किन कर्तव्यों का पालन निहित है, मैं क्या करूं और कौन-से कार्यों को न करूं।

व्याख्या—जब इस संसार का कोई अस्तित्व नहीं है तो स्वर्ग-नरक बन्धन-मोक्ष आदि शब्दों की क्या आवश्यकता है। लेकिन इन्हीं शब्दों के द्वारा ही कर्तव्यों और अकर्तव्यों का विधान विविध शास्त्रों में वर्णन किया गया है। धर्म के द्वारा स्वर्ग जैसे उत्तम लोक की प्राप्ति होती है। बिना स्वार्थ रहित कार्य और उपासना के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है और शुद्ध अन्तःकरण में सच्चे गुरु की सहायता से आत्मज्ञान होता है। ये सब उपयोगी एवं अनउपयोगी कार्य संसार की सत्यता को जानकर किए जाते हैं, लेकिन जब आत्मज्ञान हो जाता है तो कर्तव्यों की क्या आवश्यकता रह जाती है। ज्ञानी पुरुष जब इस तरह की बातें करते हैं तो अधिकांश व्यक्ति सन्देह (भ्रमित) हो जाते हैं। उन्हें ऐसा

आभास होता है कि ज्ञानी पुरुष कोई व्यवहार कर बैठे जो कि शास्त्रों के द्वारा निषेध हो, इसी व्यवहार का अनुकरण और व्यक्ति (साधक) करते हैं। जिसका परिणाम अधर्म रूपी व्यवहार होगा। लेकिन ऐसा नहीं होता। पुष्प (फूल) यदि सुगन्धित है तो उसकी सुगन्ध स्वयं ही दूर-दूर तक पहुंच जाती है। निडर ज्ञानीजनों का एक प्रमुख और सहज लक्षण है जो संसार और आत्मा के स्वरूप को जान लेता है, उसे संसार के किसी सांसारिक रूप से भय नहीं लगता। वह तो सब पदार्थों में उस आत्मा के ही दर्शन करता है।

### सूत्र-21

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।

अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्॥

शब्दार्थ—अहो—आश्चर्य है! जन समूहे—समस्त प्राणियों (जड़-चेतन) में, अपि—भी, न—नहीं, द्वैतम्—दुई, पश्यतो—देखते हुए, मम—मेरा, अरण्यम्—जंगल, इव—की तरह, संवृत्तम्—प्रवृत्त, क्व—कहां, रतिम्—राग या मोह, करवाणि—करूं, अहम्—मैं।

प्रसंग—मैं आश्चर्यचकित हूं। संसार के विविध जड़-चेतन रूपों में देखता हुआ मैं द्वैतरूपी अरण्य में नहीं भटकता हूं, क्योंकि द्वैत प्रतीति की वास्तविकता को भली-भांति जान चुका हूं, देख रहा हूं, इसीलिए मैं इससे मोहित होकर कैसा व्यवहार करूं मैं सभी प्रकार के मोह-बन्धनों से मुक्त हूं।

व्याख्या—राजा जनक को एक नई दृष्टि मिल गई। यह जगत् तो पहले के जैसा ही था, परन्तु उसे देखने का तरीका बदल गया। जो संसार पहले अच्छा या दुःखों का सागर था, अब वह न तो सुख देने वाला रहा और न ही दुःख देने वाला। सुख और दुःख प्रेम और घृणा, अपना-पराया ये सब मन की अवस्थाएं हैं। आत्मा के लिए वह केवल 'हैं', उनसे इनका न तो प्रेम है और न ही घृणा, यह अन्तर ही समाप्त



हो गया है। उसके होने को केवल देखने (दर्शक) के भाव से देख रहे हैं। पहले तो राजा जनक ने शरीर, स्वर्ग-नरक, बन्धन, मोक्ष, डर एवं इस जगत् को मात्र एक कल्पना बताया, अब उन्हें यह सारा जनसमूह एक वन की भांति दिखाई पड़ रहा है, उसमें भी कहीं पर भी एकत्व नहीं दिखाई पड़ता। इसमें रहने वाले मानव अलग-अलग हैं, इनकी आत्माएं भी अलग-अलग दिखाई पड़ती हैं, इनके अन्दर मित्रता, शत्रुता एवं प्रेम के भाव आदि हैं। लेकिन व्यक्तिगत मान्यताएं सब समाप्त हो गई हैं। इस वन के समान जनसमूह में भी एकत्व की भावना दिखाई पड़ी। आत्मा रूपी परमात्मा के दर्शन हुए। एकता के सारे बन्धन टूट गए और समाज (संसार) में जाति, धर्म, भाषा, लिंग, सम्प्रदाय, राष्ट्रीयता आदि विश्व बन्धुत्व की भावना का उदय हो गया। यह सब ज्ञान के महत्त्व के कारण ही संभव हो सका। ज्ञान रहित मानव की जो भिन्न-भिन्न मानने की दृष्टि थी वह दृष्टि भी समाप्त हो गई। रह गया केवल अस्तित्व। इसी परम ज्ञान को राजा जनक ने अष्टावक्र गुरु की कृपा से प्राप्त किया। उन्होंने नाशवान को त्यागकर वास्तविकता को उपलब्ध कर लिया।

## सूत्र-22

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।

अयमेव हि मे बंध आसीद्या जीविते स्पृहा ॥

शब्दार्थ—न—नहीं, अहम्—मैं, देहः—शरीर (हूं), मे—मेरा, देह—शरीर (है), जीव—जीव, न—नहीं (हूं), अहम्—मैं, हि—निश्चयपूर्वक, चित्त—चैतन्यरूप, अयम्—यह, एव—ही, मे—मेरा, बंधः—बंधन, आसीत्—था, या—जो, जीविते—जीवन में, स्पृहा—इच्छा (वासना)।

प्रसंग—न मैं शरीर हूं, न मेरा शरीर है, मैं जीव भी नहीं हूं, वास्तव में मैं चैतन्य रूप हूं। जीने की वासना ने ही मुझे बंधन में डाला हुआ था। जीने की वासनाएं ही बन्धन हैं और बांधने का कारण भी यही हैं।



**व्याख्या**— राजा जनक ने अपने आत्मज्ञान को जानकर अध्यात्म के संसार की जिस ऊंचाई को थोड़े से ही ज्ञान के उपदेश मात्र से जान लिया उस प्रकार की स्थिति कम ही व्यक्तियों को प्राप्त हुई। यह वास्तव में एक आश्चर्य है कि एक ही बार में सारी रुकावटों को पार करके सारे बन्धनों को छोड़कर सुमेरु पर्वत के समान उसके शिखर पर जाकर खड़े हो गए और सारे संसार एक ही दृष्टि से देखने लगे। यहां पर इस सूत्र में वो जीने की कामना को बन्धन मानकर उससे भी मुक्त हो जाते हैं। जीने की कामना भी एक बन्धन है, इसको जानना भी आवश्यक है। जनक बताते हैं कि मैं तो केवल चेतना मात्र हूं, इसीलिए न तो मैं शरीर हूं न मेरा ही कोई शरीर है न तो शरीर ही आत्मा है और न ही आत्मा कोई शरीर है, वह तो बिना शरीर वाली है। ये सारे शरीर उससे अलग नहीं हैं। अलग होने पर ही 'मेरा' कहा जा सकता है। मैं कोई जीव भी नहीं हूं अर्थात् आत्मा कोई जीव भी नहीं है। पांच तत्त्वों से बना हुआ तथा सोलह तत्त्वों के रूप में विकसित यह त्रिगुणमय संघात ही लिंग शरीर (सूक्ष्म शरीर) है, यह चेतना शक्ति से सम्पूर्ण होकर ही जीव कहलाता है (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) ये पांच तन्मात्राएं हैं। इनके द्वारा पांच भूतों की रचना हुई—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। ये पांच भूत, दस इन्द्रियां तथा मन इन सोलह तत्त्वों के रूप में विकसित तथा सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण इन तीन गुणों से सम्पूर्ण यह लिंग शरीर है। यह चेतन-शक्ति आत्मा के साथ मिलकर ही जीव कहलाता है। इसी कारण से जनक कहते हैं कि मैं तो केवल चेतना मात्र हूं जीव नहीं हूं।

जनक आगे बताते हैं कि मेरा सबसे बड़ा बन्धन यही था कि मैं जीना चाहता था। यह जीने की कामना ही सबसे बड़ी वासना है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि प्राणी को आत्महत्या जैसे निन्दित कार्य के द्वारा अपने जीवन को समाप्त कर लेना चाहिए। इस प्रकार मृत्यु को प्राप्त करने से तो केवल शरीर को समाप्त किया जा सकता है। लेकिन जीने की जो इच्छा है वह समाप्त नहीं होती, उस प्राणी को

अपनी इच्छा की पूर्ति करने के लिए पुनः शरीर को धारण करना पड़ता है। ये इच्छा पूरी न हो पाने के कारण ही प्राणी को बार-बार शरीर को धारण करना पड़ता है। ये मनुष्य का जीवन कर्मयोग एवं भोग योनि दोनों ही हैं। अन्य पशु-पक्षी केवल भोग योनि के ही सदस्य हैं। मानव के पास अनेक-जन्मों में किए गए अच्छे-बुरे कार्यों एवं वासनाओं का बहुत बड़ा भण्डार है। जिनमें से कुछ तो वह अपने इस जन्म में भोगता है तथा बचे हुए को अगले जन्मों में भोगने के लिए सुरक्षित रख लेता है। यह मानव शरीर उसे निर्धारित समय के लिए ही प्राप्त होता है, जिसके कारण वह इस जन्म में भोगने योग्य कार्य व उनके फलों को भोग लेता है। लेकिन समय से पहले इस जीवन को नष्ट (समाप्त) कर देने अभोग्य कार्य व उसका फल अगले जन्म (जीवन) में भोगने योग्य कार्यों के साथ भोगने पड़ते हैं, अतः सभी प्राचीन धर्म आत्महत्या को बुरा व पाप मानते हैं। पाप मानने का एक कारण यह भी है कि ईश्वर या प्रकृति के द्वारा जो एक शरीर हमें प्राप्त हुआ है और जो केवल निश्चित समय के लिए है उसे समय से पहले समाप्त कर देना ईश्वर के नियम का उल्लंघन करना है। यह एक पाप है, जिसकी सजा हमें ईश्वर देता है। आत्महत्या के पीछे एक धारणा यह भी है कि ये भी एक वासना ही है, जिसकी इच्छाएं अधिक होती हैं और वे उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, ऐसे व्यक्ति ही आत्म-हत्या की शरण (सहारा) लेते हैं। व्यक्ति के द्वारा स्वयं को ही समाप्त कर लेना इच्छाओं की मुक्ति का उपाय नहीं है, महात्मा बुद्ध आत्मज्ञान होने के बाद भी चालीस वर्ष तक जीवित रहे। उन्होंने कहा कि निश्चित समय से पहले इस जीवन रूपी घड़े को क्यों फोड़ दूं। इस शरीर से मेरा कार्य सफल हो गया है तो इसे नष्ट कर दूं! ऐसा करना तो अज्ञानता को दोबारा प्राप्त कर लेना है। इसका निर्धारित समय जब समाप्त हो जाएगा तो ये अपने स्वाभाविक गुण के कारण स्वयं ही समाप्त हो जाएगा। क्योंकि इस संसार का एक मुख्य गुण है कि “जो पैदा हुआ है, उसका अन्त निश्चित है।” जो व्यक्ति भूखे रहकर इस मानव देह को जबरदस्ती छोड़ना (त्यागना)

चाहते हैं वो भी पाप ही कर रहे हैं जो कि संसार के नियमों के अनुकूल है। ऐसा प्राणी जीवन जीने के लिए भी शर्त रख देता है कि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाने पर ही मैं जीवित रहूंगा वरना जीवित नहीं रहूंगा। प्राणी की वह शर्त पूरी न होने पर व्यक्ति आत्महत्या का सहारा लेता है। कभी-कभी वह अपनी बात को सिद्ध करने की दृष्टि से भी आत्महत्या कर लेता है। आत्महत्या करने वाला प्राणी भोग की इच्छा से ग्रसित है। इसलिए आत्महत्या भी धर्म और कानून की दृष्टि से निन्दित कार्य है।

लेकिन राजा जनक जीने की कामना में बन्धन क्यों बता रहे हैं ? वे बताते हैं कि इच्छा मात्र ही बन्धन है। जीने की इच्छा भी बन्धन ही हुआ। व्यक्ति में जीने की इच्छा इस संसार के सांसारिक पदार्थों का आनन्द प्राप्त करने के लिए ही हुई। व्यक्ति सोचता है कि जितने अधिक समय तक मैं जीवित रहूँ उतना ही अधिक इन सांसारिक पदार्थों का उपभोग कर सकूँ। यदि प्राणी के अन्दर भोगने की इच्छा नहीं, अन्य किसी प्रकार की कोई वासना नहीं है तो सारा जगत् उसे आत्मा रूपी दिखाई देने लग जाएगा। व्यक्तिगत जितनी आकांक्षाएं थीं, सबके समाप्त हो जाने पर भी व्यक्ति के अन्दर जीने की इच्छा करने का अर्थ है कि अभी उसमें वासनाएं शेष हैं। इसीलिए राजा जनक जीने की इच्छा को बन्धन कहते हैं। सारी आकांक्षाओं को त्यागने के पश्चात् व्यक्ति का जो शरीर बचेगा, वह बिना किसी आकांक्षा वाला होगा। साधारण जीवन चलता रहेगा, कार्य एवं विश्व के लिए आग्रह नहीं होगा। ऐसा प्राणी ही जीवन से मुक्त होता है। ऐसा जीवन-यापन करना भी एक विशेष प्रकार की विधि है। ज्ञान रहित प्राणी इस कला को न जानने के कारण ही दुखी रहते हैं। दुःख न तो भाग्य का ही फल है और न ही परमेश्वर के द्वारा दिया गया अभिशाप। मानव की गलत धारण ही इसका कारण है।

जिज्ञासु प्राणी अधिकतर ये प्रश्न करते हैं कि जीना ही क्यों है ? यह जीवन किसलिए है ? इसका क्या लक्ष्य है ? जीवन प्राप्त ही क्यों

हुआ है ? जीवन का परम उद्देश्य क्या है ? क्या खाना, पीना, सन्तान उत्पन्न करना व अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाना ही जीवन है ? ज्ञानी ऐसे प्रश्न नहीं करता । वह तो सीधे ही मुक्ति को प्राप्त करने की इच्छा करता है, बुद्धि वाले ही ऐसी इच्छा करते हैं, ज्ञान के सारे प्रश्न समाप्त हो जाते हैं उनको अपना उत्तर मिल जाता है । मूर्ख प्राणी में इतनी बुद्धि न होने के कारण ही उनको ऐसी जिज्ञासा होती है । यह सारी परेशानी जिज्ञासु व्यक्ति की है और जैसे ही जिज्ञासु व्यक्ति ने ऐसा प्रश्न किया कि उसका उत्तर देने वाले प्रतिक्षण तैयार बैठे रहते हैं । सबकी अलग-अलग मान्यताएं हैं कि जीवन का लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त करना है, कोई बताता है कि जीवन जीने के लिए है तो कोई बताता है कि जीवन ईश्वर प्राप्ति का साधन है तो कोई कहता है कि जीवन दूसरों की सेवा करने एवं भलाई करने के लिए है । लेकिन जनक बताते हैं कि जीवन जैसा भी है, उसे उसी रूप में स्वीकर करके साधारण रूप में जीना ही सबसे उतम है । न तो इसका त्याग करना चाहिए और न ही इसका मोह करना चाहिए । ये जीवन हमें किसी पाप के परिणाम स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ है । बल्कि यह तो उस परमात्मा का दिया हुआ उपहार है, परमात्मा की इच्छा समझकर इसे स्वीकार कर लेना ही अच्छा है । न तो भोगने की इच्छा करो, न त्याग करने की, न जीने की इच्छा करो और न ही मृत्यु की । परमात्मा ने जो दिया है, वह बहुत अच्छा है । अगर वह उसे वापस ले ले तो भी अच्छा है, सभी कार्य उसकी इच्छा से होने दो । तुम बेकार में ही इसका लक्ष्य निर्धारित मत करो । जीने की इच्छा करने से तुम अनेक प्रकार के पाप, चोरी, हत्या, शोषण, बेईमानी करने के बाद भी अपने आपको जीवित रखने का प्रयास करोगे तो वो भी पाप ही होगा, जितना अधिक जीवित रहने की इच्छा होगी उस इच्छा के कारण प्राणी को उतने ही अधिक पाप करने पड़ेंगे । अतः साधारण रूप से बिना पाप कार्य किए जीवित रहना है तो रह लो लेकिन जहां तुम्हारी जीने की इच्छा में वृद्धि हुई तो पाप स्वयं ही बढ़ने लग जाएंगे । जीना तो अच्छा है, लेकिन जीने की इच्छा उसकी वासना

बन जाएगी और वासना के पूर्ण न होने पर फिर जन्म लेना पड़ेगा। अब मैं मुक्त हूँ।

### सूत्र-23

अहो भुवन कल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थिम् ।  
मय्यनन्त महाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते ॥

**शब्दार्थ**—अहो—आश्चर्य (है), भुवनकल्लोलैः—संसार रूपी लहरों के साथ, विचित्रै—रूप-नाम आदि विचित्रताओं वाले, द्राक्—अत्यन्त, समुत्थितम्—अभिन्नता, मयि—मुझमें, अनन्त—जिसके आर-पार का पता नहीं, महाम्भोधौ—विशाल समुद्र में, चित्तवाते—अन्तःकरण में वायु के रूप में, समुद्यते—उठने पर।

**प्रसंग**—आश्चर्य है कि अनन्त समुद्र रूपी मुझमें अनेक नाम, रूपों वाली, नाना विचित्रताओं से भरी चित्त रूपी हवा के बहने के परिणास्वरूप उठी तरंगों, मुझसे अलग नहीं हैं, अभिन्न हैं।

**व्याख्या**—जनक बताते हैं कि यह संसार इस आत्मरूपी अनन्त महासागर में उठी हुई विचित्र लहरें हैं जो कि चित्त (मन) रूपी वायु के झोंके से उठती हैं। इनमें तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो यह आत्मा या ब्रह्म विशाल महासागर के समान हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है जो कि विशाल आकार वाला है, जिसे सीमा में नहीं बांधा जा सकता। जिस प्रकार वायु के झोंकों से सागर में ऊंची-ऊंची एवं विविध प्रकार की लहरें उठती हैं, उसी प्रकार चित्त (मन) रूपी वायु के झोंकों से इस आत्मा में विविध वासनाओं की तरंगें उठती हैं। यह, काम, क्रोध, लालच, मोह, प्रेम, घृणा, वासना, उत्तेजना आदि इस आत्मा में उठी लहरें ही हैं जो कि चित्त (मन) की चंचलता के कारण उठती हैं। इन्हें न मनुष्य उठा सकता है न रोक सकता है। इन लहरों का नाम ही संसार है। ये लहरें समुद्र से अलग नहीं हैं, इसी प्रकार यह संसार आत्मा से अलग नहीं है। मन हवा (वायु) के समान चंचल है। इससे आत्मा रूपी जगत् में लहरें उठेंगी ही। योग साधना भी इसी मन के अवगुणों



को रोकने की बात करता है “योगश्चित्तवृत्तिनिरोध”। अगर इन मन की चंचल वासनाओं को रोक लिया तो तुम उस आत्मा को उपलब्ध हो जाओगे। चन्द्रमा की छाया सागर के जल में दिखाई पड़ती है, लेकिन लहरों के कारण हम उसे स्पष्ट नहीं देख पाते। तरंगों के शान्त हो जाने पर हम उसकी छाया को स्पष्ट देख सकते हैं।

### सूत्र-24

मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति ।

अभाग्याज्जीव वणिजो जगत्पोतो विनश्वरः ॥

शब्दार्थ—मयि—मुझमें, अनन्त महाम्भोधौ—अनन्त और महान समुद्र में, चित्तवाते—चित्त रूपी वायु, प्रशाम्यति—शांत हो जाने पर, अभाग्यात्—दुर्भाग्य से, जीव वणिजो—जीव रूपी व्यापारी की, जगत्पोतः—संसार रूपी नौका, विनश्वरः—नष्ट हुई।

प्रसंग—जब मुझमें, मुझ अनन्त और महान समुद्र में चित्त रूपी वायु शांत हो जाती है, तो जीवन रूपी व्यापारी का दुर्भाग्य घटित होता है, क्योंकि इसकी संसार रूपी नौका की गति अवरुद्ध हो जाती है।

व्याख्या—जनक कहते हैं कि आत्मरूपी सागर तो शान्त है, निर्मल है, क्षोभ रहित है, दोष रहित है और जिसका कोई आकार नहीं है। यदि मन रूपी वायु न चले तो उसमें तरंगें उठेंगी ही नहीं। यह मन ही उस शान्त सागर को उत्साहित करता है, वही तरंगें उठाता है। मन की इच्छाओं के कारण ही तरंगें उठती हैं। ये तरंगें ही विश्व (संसार) है जो कि आत्मरूपी सागर से अलग नहीं है लेकिन अहंकार भावना के कारण ये अलग दिखाई देने लगती हैं। यही अज्ञानता है जो कि अहंकार (घमण्ड) के कारण उत्पन्न हुआ। संसार को आत्मा से अलग जानने का भी यही कारण है। प्राणी अपने को आत्मा से अलग, अकेला, स्वतन्त्र जानने के कारण ही काम, क्रोध, लालच, मोह, माया आदि सांसारिक वासनाओं की वृद्धि हो गई, तृष्णा व वासना का विकास हुआ। दूसरों की संपत्ति को देखकर उसे पाने की आकांक्षाओं



का जन्म हुआ। प्राणी में जीने की इच्छा बढ़ी आदि अनेक रूपों में इसका विस्तार बढ़ता ही गया और प्राणी स्वयं के बनाए हुए मोह माया के जल में उलझता हुआ प्रतिक्षण नैतिक पतन की ओर बढ़ रहा है। जनक बताते हैं कि ये लहरें ही संसार है जो आत्मा के समान सागर में मन रूपी वायु से उत्पन्न हुई। यह जीव रूप व्यापारी संसार के भोगों का आकांक्षी है। इसकी जीवन की कश्ती इस मन रूपी वायु के सहारे से ही चलती है, संसार का अस्तित्व तभी तक है, जब तक कि यह मन स्थित है। यदि यह मन रूपी वायु अधिक तेज हो जाती है तो विश्व में अत्याचार, विषय, वासनाएं, अहंकार, लालच आदि की संख्या में वृद्धि हो जाती है और संसार में अत्याचार, अनाचार, दुराचारी, घृणा, हत्या आदि इतनी बढ़ जाती है कि यह विश्व रूपी नाव डूबने लगती है लेकिन यदि यह वायु शान्त हो जाती है तो भी इन हवाओं के सहारे आगे जाने वाली नाव आगे नहीं जा पाती है, वह वहीं समाप्त हो जाती है। इसी कारण से यह मन रूपी वायु ही इस संसार का मूल आधार है तथा जीवन रूपी व्यापारी इसी के सहारे इस विश्व में अपना जीवन-यापन करता है। इस जीवरूपी व्यापारी के लिए यही उचित होगा कि न तो वायु अधिक तेज ही चले, जिसके कारण आंधी, तूफान भी न आवें। और न ही यह वायु बिलकुल शान्त हो जाए कि जिससे कि नाव चले ही नहीं। जनक जीव को व्यापारी की संज्ञा देते हैं और वास्तव में ही यह व्यापारी ही है। इसका अपना हिसाब है। उसी तराजू पर यह जीवन की घटनाओं को तौलता है, लाभ-हानि, मान, अपमान, जीवन-मृत्यु आदि इस जीव रूपी व्यापारी की कसौटियां हैं। जब इस जीवरूपी व्यापारी का भाग्य नष्ट हो जाता है, समस्त कार्य क्षीण होते हैं। तो शरीर के समान नाव भी समाप्त हो जाती है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीनों ही शरीर नष्ट हो जाते हैं, उस समय जीव और जगत् दोनों ही आत्मा में विलीन हो जाते हैं।

## सूत्र-25

मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्य जीववीचयः ।

उद्यन्ति, धनन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः ॥

शब्दार्थ—मयि—मुझमें, अनन्त महाम्भोधौ—अनन्त समुद्र में, आश्चर्य—आश्चर्य है, जीववीचयः—जीव रूपी तरंगें, उद्यन्ति—उठती हैं, धनन्ति—टकराती हैं, खेलन्ति—खेलती हैं, प्रविशन्ति—प्रविष्ट हो जाती हैं, स्वभावतः—स्वभाव वश ।

प्रसंग—मुझ अनन्त सागर में जीव रूपी लहरें स्वभाव वश सहज भाव से उठती हैं, आपस में टकराती हैं, खेलती-कूदती हैं और फिर लय को प्राप्त करती हैं, इसी में जन्म लेती हैं इसी में डूबती हैं, जीवन बिताती हैं और फिर नष्ट हो जाती हैं ।

व्याख्या—राजा जनक महर्षि अष्टावक्र के समक्ष अपने आत्मज्ञान के अनुभव को प्रकट कर रहे हैं । अनुभव के इस चरण से वे आत्मज्ञान के समय में कैसा अनुभव करते हैं, इसका सारा सार रख देते हैं । कुछ भी छिपाए बिना जो सत्य है उसे सारा बताते हैं । जिसके कारण अष्टावक्र को विश्वास हो जाए कि उसे वास्तव में आत्मज्ञान हुआ है या मात्र सन्देह ही है । जनक बताते हैं कि मैं अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा को उपलब्ध हो गया । मैं अब किसी सीमा में रहने वाला प्राणी नहीं हूँ । इस समुद्र की मात्र लहर नहीं हूँ, बल्कि विशाल महासागर हूँ, महासागर तो मैं पहले ही से था लेकिन ज्ञान न होने के कारण ही मैं स्वयं को एक लहर समझता था, यह अज्ञान मेरे में मन की चंचलता एवं अहंकार (घमण्ड) के कारण उत्पन्न हो गया था । आज यह सारी शंकाएं समाप्त हो गई हैं । मैं अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा में ही स्थापित हो गया हूँ । अहंकार (घमण्ड) समाप्त हो गया, विविधताएं समाप्त हो गईं, एक तत्त्व का ज्ञान हो गया, एक छोटी-सी बूंद से सागर बन गया । अन्त से अनन्त हो गया, सीमित से असीमित हो गया, सारी बाधाएं समाप्त हो गईं । अब मैं अकेला ही आत्म-रूप में स्थित हूँ, यह

गुरु की महिमा ही है। अब इस आत्मा रूपी महासागर में मुझमें जीव रूपी तरंगें उठती हैं, आपस में झगड़ती हैं, खेलती हैं तथा स्वभाव के कारण ही स्वयं शान्त हो जाती हैं। इसमें यह बात जानने योग्य है कि जब लहरें शान्त हो जाती हैं, फिर उठती ही क्यों हैं और उठती हैं तो इसका अर्थ है अभी शान्त हुई नहीं। इस बारे में जनक कहते हैं कि एक बार शान्त हो गया, तरंगें उठना बन्द हो गईं, मैंने अपने स्वरूप को पहचान लिया कि मैं जगत् नहीं आत्मा हूँ। लहर नहीं है, सागर हूँ, जीव नहीं आत्मा हूँ, लेकिन मन का स्वभाव ही चंचलता है, इससे लहरें उठेंगी ही, ये वासना की लहरें फिर भी उठती हैं, आपस में झगड़ती हैं, खेलती हैं लेकिन जब मैंने इनसे स्वयं को अलग कर लिया तो अब इनसे प्रभावित नहीं होता। मैं इन सबको देखने वाला बन गया। अब मैं केवल इन्हें देख ही रहा हूँ। पहले इनका मेरे ऊपर अधिकार था अब मैं इन पर अधिकार करने लगा हूँ। मेरे देखने वाले हो जाने से ये अपने आप उछल-कूद कर अपने स्वभाव के कारण ही शान्त हो जाती हैं। पहले इन्हें शान्त करने के लिए मैं योग, समाधि, जप, तप, उपासना आदि अनेक विधियों से इन्हें रोकने की बात सोचता था। अब मेरे देखने मात्र हो जाने से ये स्वभाव से अपने आप शान्त हो जाती हैं। मैं अब ऐसा हो गया हूँ कि जैसे मैं इन सब की लीला देख रहा हूँ, सागर के किनारे बैठकर इनका सारा खेल देख रहा हूँ। यही आत्मज्ञान है। संसार तो पहले के जैसा ही है, उसमें किसी भी तरह का कोई परिवर्तन नहीं। किसी प्राणी को आत्मज्ञान हो जाने से सांसारिक गतिविधियों में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होता। केवल ज्ञानी को यथार्थ का ज्ञान हो जाने से उसकी संसार को देखने वाली दृष्टि परिवर्तित हो जाती है, ज्ञान रहित प्राणी सांसारिक मोह माया में आसक्त रहता है। जबकि ज्ञानी मानव किनारे पर खड़ा हो जाता है, वह संसार में रहते हुए भी जल में कमल के समान स्थित रहता है। यही ज्ञानी पुरुष की उपलब्धि है। आत्मज्ञान में मन, बुद्धि, घमण्ड आदि कुछ भी नष्ट नहीं होते, बल्कि ये आत्मा में विलीन हो

जाते हैं और अपने स्वभाव के कारण दोबारा उठ जाते हैं लेकिन बार-बार इनका विरोध करना नहीं पड़ता। ज्ञानी पुरुष साक्षी हो जाता है। जिससे कि ये प्रभावित नहीं होते। राजा जनक के साथ जो भी हुआ वह अनमोल ही था। ऐसी घटना धीरे-धीरे नहीं घटती, बल्कि अचानक ही एक ही पल में हो जाती है। उस समय में साधक पूर्ण योग्य नहीं होता तो वह उस शक्ति को सहन नहीं कर पाता, जिसके कारण वह पागल भी हो सकता है या उसकी मृत्यु भी हो सकती है। इस घटना के समय में सच्चे गुरु का उपस्थित होना अति आवश्यक है। जो कि अचानक ही एवं समस्त परिवर्तन को उसके शरीर, मन, इन्द्रियां, घमण्ड, स्नायु संस्थान को हिला देता है। यह कोई सामान्य अनुभव नहीं है। इसी महान शक्तिशाली आत्मा के दर्शन से अर्जुन भी भयभीत हो गया था, तब उसने श्रीकृष्ण से कहा कि हे प्रभो! अपने इस विराट तेज को नियंत्रित करो। प्राणी तो सामान्य सुख से ही पागल हो जाता है तो वह इस विराट शक्ति को कैसे सहन कर सकता है। अतः गुरु ही उस समय सहायता करता है।

□□

## तीसरा अध्याय

### सूत्र-1

अविनाशिनभात्मान मेकं विज्ञाय तत्त्वतः ।

तवात्मज्ञास्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः ॥

शब्दार्थ—अविनाशिनम्—सदैव रहने वाली, त्रिकालाबाधित, आत्मानम्—आत्मा को, एकम्—एक (को), विज्ञाय—जानकर, तत्त्वतः—सही रूप में, तव—तुम्हारा, आत्मज्ञस्य—आत्मस्वरूप को जानने वाले के, धीरस्य—धीर पुरुष के, कथम्—कैसे, अर्थार्जने—धन आदि अर्जन करने में, रतिः—प्रीति (है) ।

प्रसंग—अविनाशी, एक, अद्वैत रूप आत्मा को उसके वास्तविक रूप में जान लेने के बाद, आत्म वेत्ता तुम धीर स्वयं को धन आदि के उपार्जन में कैसे लगा सकते हो, करते हो । तुम्हारी उसमें कैसी प्रीति है ।

व्याख्या—राजा जनक अष्टावक्र गुरु का उपदेश सुनकर जाग गए, सारी शंकाएं समाप्त हो गई हैं, उन्होंने सत्य को उपलब्ध कर लिया, उनके अन्दर अहंकार (घमण्ड) रूपी दुर्गुणों का विनाश हो गया । उन्हें एक नए जीवन की प्राप्ति हो गई । उन्होंने कहा कि यह सब स्वभाव के कारण ही हुआ है । जब तक मनुष्य करने वाला एवं भोगने वाला है, तब तक संघर्ष है, व्यक्ति तनाव में रहता है । जब यह जान लिया कि कर्त्तापन (कार्य करने वाला) घमण्ड के कारण है । सब कुछ स्वभाविक रूप से हो रहा है, जब व्यक्ति को अध्यात्म के रस का पान हो जाता है तो वह युक्त हो जाता है, यह संसार हमसे नहीं है बल्कि संसार से हम हैं । इस मान्यता से प्राणी में समर्पण होता है, उसके



स्वभाव में विनम्रता आती है, उसके बाद ही परमेश्वर का आनन्द प्राप्त होता है, राजा जनक को आत्मज्ञान का अनुभव हो जाने के बाद महर्षि अष्टावक्र उनकी परीक्षा लेने के लिए कई सवाल करते हैं। जिनके माध्यम से वह यह जानना चाहते हैं कि वास्तव में जनक को आत्मज्ञान हो गया है या उनकी बुद्धि को सन्देह है। अष्टावक्र कोई सामान्य अध्यापक नहीं हैं, बल्कि वे तो महान् गुरु हैं, अध्यापक तो केवल सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कराता है, लेकिन गुरु तो अपने शिष्य को अनुभव कराता है। गुरु के द्वारा ही प्राणी को मुक्ति मिलती है। सैद्धान्तिक ज्ञान से ज्ञानी होने का सन्देह हो सकता है, शास्त्रों के पढ़ने एवं उपदेश सुनने से जानकारी प्राप्त होती है, ज्ञान तो आत्मा को जगाने से होता है। अष्टावक्र राजा जनक की परीक्षा लेने के लिए प्रश्न करते हैं—

जब तूने आत्मा को एक और विनाश न होने वाली जान लिया है तो फिर धन को प्राप्त करने में तेरी प्रीति क्यों है ? राजा जनक ने भौतिक (नाशवान) पदार्थों को नहीं छोड़ा उन्होंने अपने वस्त्र भी नहीं बदले, संन्यासी भी नहीं हुए, नग्न भी नहीं हुए, अपने महलों को त्यागकर वनों में नहीं गए। अपने राज्य में सब पहले की तरह ही चल रहा था। इसी कारण अष्टावक्र पूछते हैं कि आत्मज्ञान को जान लेने के बाद भी तुझे धन कमाने की इच्छा क्यों है, क्या अभी भी तेरी दूसरों की संपत्ति को प्राप्त करने की इच्छा है क्या अभी भी तेरी मान, मर्यादा, प्रतिष्ठा और सिंहासन पर बैठने की कामना है। जिस प्राणी को अनमोल रत्न (हीरा) की प्राप्ति नहीं होती है, वही कंकड़ों-पत्थरों को चुनता फिरता है जो स्वयं सम्मानित नहीं है, वह दूसरों के सम्मान को प्राप्त करना चाहता है जो अन्दर से भिखारी है, वही बाहरी वस्तुओं को एकत्रित करता है, जिस प्राणी को सुख नहीं मिला वो बाहरी पदार्थों में सुख को ढूँढ़ता है। आत्मज्ञान और काम, इच्छाएं एक साथ नहीं रह सकतीं, उजाले का सूर्य उदय हो जाने पर अंधेरा ठहर नहीं सकता है, आत्मज्ञान को जानने वाले व्यक्ति के ये सांसारिक पदार्थों का होना बुरा नहीं है, न ही पाप है। धन का उत्पादन करना, पत्नी, संतान एवं गृहस्थी होना



भी गलत नहीं है, लेकिन इनमें लीन रहना ही बुराई है, बिना लीन हुए भी सब कुछ रखा जा सकता है, उपभोग किया जा सकता है एवं कुछ भी न होने पर बुराई हो सकती है, अतः ज्ञान और अज्ञान का नाता सांसारिक पदार्थों को छोड़ने या एकत्रित करने से नहीं है बल्कि आसक्ति (लीनता) से है। अष्टावक्र इस प्रश्न के द्वारा जनक से यही जानना चाहते हैं कि विषयों में इसकी इच्छा है या नहीं, धन ही कामनाओं को बढ़ाता है और वासनाओं के बढ़ जाने पर व्यक्ति अनुचित ढंग से धन प्राप्त करने की इच्छा करने लगता है। इस धन की इच्छा के कारण ही लालच मोह-माया, राग-द्वेष, घृणा-ईर्ष्या, छीना-झपटी, दूसरों की संपत्ति को पाने की इच्छा, हत्या, आदि अनेक प्रकार के पापों को कार्य करने के लिए उत्साहित करता है। इसी कारण से धन को सारे पापों का आधार कहा गया है। अष्टावक्र भी इसी कारण से जनक से सबसे पहले धन के बारे में ही प्रश्न करते हैं। अगर प्राणी को धन की इच्छा नहीं है तो वह अनेक पापों से स्वयं ही बच जाता है। फिर इनको त्यागने की आवश्यकता नहीं है और अधिक धन कमाने की इच्छा से इनसे बच पाना संभव नहीं है। उचित ढंग से प्राप्त किया हुआ धन का उपयोग करना लाभदायक है कोई पाप कार्य नहीं है, धर्म के विरुद्ध भी नहीं है। सब कुछ त्यागकर गेरुए वस्त्र धारण करके वन में जाने वाला ही धार्मिक या ज्ञान को जानता है और सभी गृहस्थ में रहने वाले प्राणी पापी हैं, ऐसा विचार करने वाले प्राणी मूर्ख के अतिरिक्त और कोई नहीं हैं।

## सूत्र-2

आत्माऽज्ञानादहो प्रीतिर्विषय भ्रमगोचरे।

शुक्तेर ज्ञान तो लोभो यथा रजतविभ्रमे॥

शब्दार्थ—आत्माज्ञानात्—आत्मा की अज्ञानता से, अहो—आश्चर्य है, प्रीतिः—मोह, प्रवृत्ति, विषयभ्रमगोचरे—विषयों का भ्रम होने पर, शुक्तेः—सीपी के, अज्ञानतः—अज्ञान से, लोभः—

प्राप्त करने की लालसा, यथा—जैसे, रजत विभ्रमे—चांदी की भ्रान्ति में।

**प्रसंग**—आश्चर्य है कि आत्मा के अज्ञान से विषय का भ्रम होने पर वैसी ही प्रीति होती है, जैसे सीपी के अज्ञान से चांदी की भ्रान्ति में लोभ पैदा होता है।

**व्याख्या**—यहां पर अष्टावक्र आसक्ति किसी पदार्थ में लीन हो जाने का कारण बताते हुए जनक से फिर पूछते हैं कि जिस प्रकार सीपी के अज्ञान से उसके चांदी होने का सन्देह होता है और इसी चांदी के सन्देह के कारण लालच उत्पन्न होता है, लेकिन जब हम स्पष्ट रूप में देख लेते हैं कि ये चांदी नहीं बल्कि सीपी है तो लालच समाप्त हो जाना चाहिए। लालच के कारण ही यह सन्देह था कि यह चांदी है। इसी प्रकार से आत्मा के ज्ञान न होने के कारण सांसारिक पदार्थों में व्यक्ति लीन हो जाता है, और समझता है कि यही मेरे लिए सच्चा सुख दे सकते हैं, लेकिन अब तो आत्मज्ञान हो जाने से यह सन्देह समाप्त हो जाने चाहिए थे। कितने आश्चर्य की बात है कि प्राणी को आत्मज्ञान हो जाने के बाद भी वह इन सांसारिक पदार्थों को छोड़ नहीं पा रहा है और इनसे प्रेम रखे हुए है। ऐसा क्यों है? यदि ऐसा होता है तो इसका मतलब है कि सांसारिक पदार्थों के प्रति व्यक्ति में स्नेहाशीष है क्योंकि संसार के स्वरूपों को उसके स्वभाव रूप में ही जाना जाता है।

### सूत्र-3

विश्व स्फुरित यत्रेदं तरंग इव सागरे।

सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि॥

शब्दार्थ—विश्वम्—संसार, स्फुरित—स्फुरित, यत्र—जहां, इदम्—यह, तरंगाः—लहरों की तरह, इव सागरे—समुद्र में, सः—वह (आत्मा), अहम्—मैं, अस्मि—हूं, इति—ऐसा, विज्ञाय—जानकर, किम्—क्या, दीन इव—अभावग्रस्त की तरह, धावसि—दौड़ोगे (प्रवृत्त होओगे)।

**प्रसंग**—जहां यह विश्व आत्मा में समुद्र में तरंग के समान स्फुरित होता है, 'वही मैं हूँ' ऐसा जानकर क्यों तू दीन की तरह दौड़ता है।

**व्याख्या**—दीन वह है जिसमें आकांक्षाएं हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिए जिसने प्रयास किया है, लेकिन वो प्राणी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाया है। इतना ही नहीं, अब उसके दिमाग में यह बात भी बैठ गई है कि अब वो स्वयं उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता। स्वयं पर विश्वास न होने के कारण वह अन्य लोगों के पास घूमता-फिरता है, देवी-देवताओं के पास जाता है, वह सबके पास जाता है और गिड़गिड़ाता है, जिन्हें वह समझता है कि उनसे उसकी इच्छाएं पूरी हो जाएंगी। पर वह लगातार गलती पर गलती किए जा रहा है, उसकी पहली गलती तो ये है, विषय उसकी इच्छाओं को पूरा करेंगे, दूसरी यह कि कोई अन्य उसे विषयों की पूर्ति करवाएगा। एक-दूसरे के परस्पर मिलने से आनन्द की प्राप्ति होगी, लेकिन ये उसका सन्देह है। न तो विषय ही सुख के कारण हैं और न ही किसी को कोई सुख दे सकता है। अगर ऐसा संभव होता तो इस संसार में सभी प्राणी प्रसन्न रहते। लेकिन ऐसा होना संभव नहीं है। ये सारी गलतियां अज्ञान के कारण ही होती हैं, महर्षि पूछते हैं कि यह कैसे हो सकता है, कि जो विश्व का अधिष्ठान रूप अपने आपको जान गया है, वह भिखारी बनकर इधर-उधर भागता फिरे। यह भागते रहना उसी प्रकार का सन्देह है जैसे कि रेगिस्तान में मृग (हिरन) की होती है। वह यह मानकर भटकता है, पहले सन्देह था लेकिन इस बार ऐसा नहीं हो रहा है, लेकिन गलती दोबारा फिर हो जाती है, क्योंकि वह मिथ्या को सत्य मान रहा था, इससे बड़ी गलती और क्या हो सकती है। लेकिन जब उसे कोई बता देता है तो उसे विश्वास हो जाता है कि रेगिस्तान में वह कितना ही खोजता फिरे, लेकिन उसे पानी नहीं मिल सकता है। इसलिए वह दर-दर पर क्यों भटकता फिरे। इसलिए जनक अपने अन्दर झांक कर देखो कहीं तुम्हारे अन्दर दीनता के विचार तो नहीं हैं। भटकना समाप्त

हुआ या नहीं, क्योंकि 'वह मैं हूँ' इस ज्ञान को जानने के बाद भटकना और दीनता सब समाप्त हो जाते हैं।

#### सूत्र-4

श्रुत्वाऽऽपि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम् ।  
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तौ मालिन्यमधिगच्छति ॥

शब्दार्थ—श्रुत्वा—सुनकर, अपि—भी, शुद्ध चैतन्यम्—शुद्ध चैतन्यरूप, आत्मानम्—आत्मा को, अति सुन्दरम्—समस्त रूप से सौन्दर्यरूप, उपस्थे—आसपास, इर्द-गिर्द रहने वाले, अत्यन्त संसक्तः—अत्यन्त आसक्त हुआ पुरुष ही, मालिन्यम्—मलिनता को, अधिगच्छति—प्राप्त होता है।

प्रसंग—परम शुद्ध आत्मा के परम सौंदर्य का श्रवण करने के बाद, अपने आस-पास के विषयों में (जो कि विकारों में रसे-बसे और सौन्दर्य विहीन हैं) मूढ़, अविवेकी पुरुष की ही आसक्ति होती है, दूसरे शब्दों में विषयों में आसक्ति करने वाला मूढ़ होता है।

व्याख्या—अष्टावक्र भी आश्चर्य करने लगे कि राजा जनक को केवल सुन लेने से ही आत्मज्ञान कैसे हो गया? वे पूछते हैं कि जब तूने आत्मा को शुद्ध (पवित्र) चेतन, और बहुत सुन्दर जान लेने के बाद भी तू काम वासनाओं में लिप्त होकर इस सांसारिक विषय वासनाओं में भोगने को इच्छुक हैं। इन सांसारिक विषय-वासनाओं में ज्ञान रहित प्राणी लिप्त रहते हैं क्योंकि उनको अभी तक उस परम सुख का स्वाद प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिए वे इस तुच्छ आनन्द को प्राप्त करके उसमें ही प्रसन्न रहना चाहते हैं लेकिन जिन महान आत्माओं ने आत्मज्ञान रूपी परम सुख का रस पी लिया है और वो इस तुच्छ सुख की कामना करता है तो इसका मतलब है कि उसे अभी तक परम सुख की प्राप्ति नहीं हुई, उसे केवल सन्देह ही हो गया है। जनक के उत्तर देने के बाद ही महर्षि अष्टावक्र ये सुनिश्चित करेंगे कि इसे वास्तव में आत्मज्ञान

हुआ है या उसे केवल सन्देह मात्र है कि मैंने आत्मज्ञान को पा लिया है।

### सूत्र-5

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।  
मुनेर्जनित आश्चर्यं ममत्व मनुवर्तते ॥

शब्दार्थ—सर्वभूतेषु—समस्त चराचर प्राणियों में, च—और, आत्मानम्—स्वयं को, सर्वभूतानि—सभी प्राणियों में, च—और, आत्मनि—अपने में, मुनेः—मुनियों के, जानत—जान लेने के बाद भी, आश्चर्यम्—आश्चर्य है, ममत्वम्—मेरा-तेरा (ममता), अनुवर्तते—बरतते हैं।

प्रसंग—सभी प्राणियों में स्वयं अपनी आत्मा को, औरों को स्वयं अपनी आत्मा में सारे चराचर को देखने के बाद मुनि कैसे ममता भरा-मेरे-तेरे का व्यवहार करते हैं? आश्चर्य है?

व्याख्या—अध्यापक विद्यार्थियों को विद्या अध्ययन कराता है और अन्त में उनकी परीक्षा लेकर परिणाम पत्र भी देता है। इसी भांति एक सच्चा गुरु भी अपने शिष्य को दिए गए ज्ञान और अनुभव की परीक्षा लेता है और ये जानने का प्रयास करता है कि शिष्य में अभी कितने ज्ञान का अभाव है या वह स्वर्ण बन चुका है या अभी उसके अन्दर किसी प्रकार का कोई अवगुण शेष तो नहीं है। बिना परीक्षा लिये ऐसा ज्ञात हो पाना संभव नहीं है। ग्रंथों को पढ़ लेने के बाद कोई प्राणी अपने को विद्वान होने की घोषणा करने लगे तो ज्ञान रहित प्राणी उसकी बात को मान भी ले, ज्ञानी गुरु इस ज्ञान को स्वीकार नहीं कर सकते। प्रकृति के अनेक रूप ऐसे हैं, जिनसे हमारा कुछ इस तरह का सम्बन्ध है, जिसको हम सहज रूप में स्वीकार नहीं कर पाते हैं और उसकी हानि कर लेते हैं। पेड़ों से हमारा क्या सम्बन्ध है, पर्वतों से हमारा क्या वास्ता है, नदियों से केवल पानी ही तो प्राप्त होता है, इनसे केवल इतना ही नाता है। अष्टावक्र ने अभी राजा जनक के ज्ञान को



स्वीकार नहीं किया है। अभी वे उनकी परीक्षा ले रहे हैं कि तूने सारे भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को पहचान लिया है। इस प्रकार जगत् और आत्मा के रहस्य को जानकर भी तुझे इस जगत् से प्रेम हो रहा है ये आश्चर्यजनक है।

### सूत्र-6

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।

आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया ॥

शब्दार्थ—आस्थितः—स्थित होने के बाद भी, परमाद्वैतम्—पवित्र अद्वैत तत्त्व में, मोक्षार्थे—मोक्षरूपी परम पुरुषार्थ में, अपि—भी, व्यवस्थितः—प्रवृत्त, आश्चर्यम्—हैरानगी (है), कामवशगः—काम के वशीभूत हुए, विकलः—बेचैन (होता है), केलिशिक्षया—काम भोगों के उपयोग के लिए।

प्रसंग—परम अद्वैत में स्थित हुआ और मोक्ष के लिए उद्यत हुआ, पुरुष काम के वश में होकर क्रीड़ा के अभ्यास से व्याकुल होता है ये बहुत आश्चर्यजनक बात है।

व्याख्या—महर्षि अष्टावक्र इस सूत्र के माध्यम से जनक में 'काम' की भावना की ओर संकेत करते हुए आश्चर्यचकित हो रहे हैं ऐसा क्यों होता है, इसका क्या कारण है कि मुक्ति को चाहने वाला प्राणी परम अध्यात्म को पहचानने का विश्वास दिलाने वाला (घोषणा करने वाला) ज्ञानी पुरुष 'काम' की भावना से व्याकुल हो जाता है और इसे प्राप्त करने के लिए नई-नई विधियों को खोजता है। इस कारण वो राजा जनक से कहते हैं कि हे जनक, तुम अपने अन्दर झाँककर देखो कि कहीं तुम्हारे अन्दर नारी के प्रति अभी तुम्हारा मोह समाप्त हो गया है या शेष है। यह मोह तो सरलता से ही समाप्त हो जाता है, जब आत्मरति का प्राणी को सुख मिल जाता है। राम के सुख को बिना प्राप्त किए काम को जीतने का घमण्ड तो किया जाता है लेकिन वास्तव में उसको जीत लेना संभव नहीं है। सभी सांसारिक सुखों से



अलग ये काम सुख है। जड़ वस्तुओं में तो केवल इच्छा ही होती है, लेकिन इस सुख में तो साथ ही साथ क्रिया भी होती है। यह प्रकृति के द्वारा दिया गया सरल सुख है। इस सुख को ग्रंथों में ब्रह्मानंद का सहोदर कहा गया है। तन्त्र शास्त्र की ऐसी धारणा है कि काम का सुख ही वह सुख है जो किसी ऐसे आनंद की ओर जाने को उत्साहित करता है, जहां समय स्थिर हो जाता है, जहां पर मन और घमण्ड के साथ सारी इन्द्रियां तृप्त हो जाती हैं। इस सुख को सन्तान उत्पत्ति के रूप में इस संसार में देखा जा सकता है। लेकिन प्राणी का इससे ऊपर उठ जाने का मतलब है कि उसने प्रकृति से भी ऊपर उठने का प्रयास किया है और वह इस प्रकृति के सभी सांसारिक सुखों को त्यागता हुआ मुक्ति की ओर जा रहा है। इस कारण से उसके मन पर काम वासना का कोई प्रभाव नहीं होता है। वह उसे व्याकुल नहीं करती है।

### सूत्र-7

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्याति दुर्बलः ।

आश्चर्यं काममाकाङ्क्षेत्कालमन्त मनुश्रितः ॥

शब्दार्थ—उद्भूतम्—उत्पन्न हुए, ज्ञानदुर्मित्रम्—ज्ञान के शत्रु रूप को, अवधार्य—धारण करके, अतिदुर्बलः—शक्तिहीन हो जाता है, आश्चर्यम्—आश्चर्य है, कामम्—काम को, आकांक्षेत्—आकांक्षा करता हुआ, कालम्—समय, अन्त—अन्त, अनुश्रित—आश्रय करता हुआ।

प्रसंग—आश्चर्य है कि काम, ज्ञान के शत्रु को धारण करता हुआ, अत्यन्त दीन-हीन भावना को अनुभव करता हुआ, जीव अन्त काल के समीप होने पर भी उसी काम को चाहता है—उन काम वासनाओं की ओर प्रेरित होता है।

व्याख्या—कामनाएं विविध तरह की होती हैं लेकिन इन सबमें 'काम' की इच्छा मानव में सबसे अधिक गति वाली होती है और वासनाओं को तो प्राणी त्याग भी सकता है, परन्तु इस वासना का त्याग

साधारणतया कठिन है, अनेक ऋषि, महात्मा, साधु संन्यासी, योगी, भक्त, तपस्या करने वाले ध्यानी भी इससे मुक्त नहीं हो पाते हैं। इस काम वासना ने तो देवी-देवताओं तक को भी नहीं छोड़ा है। यह काम एक शक्तिशाली ऊर्जा है, जिस पर किसी प्रकार का कोई दबाव या समाप्त नहीं किया जा सकता है, इसे परिवर्तित किया जा सकता है। इस संसार की रचना 'काम' के कारण ही हुई है। यह शक्ति परमेश्वर के द्वारा दी गई है, अतः इसका उपयोग वासना रूप में करना चाहिए। अष्टावक्र इन सूत्रों में काम के लिप्तता के बारे में राजा जनक को सचेत करते हैं वे कहते हैं कि एक बहुत ही शरीर से पतला सा व्यक्ति जिसकी आयु मृत्यु के निकट पहुंच चुकी है, वह व्यक्ति जिसमें 'काम' की शक्ति ही नहीं रहती है अगर काम वासना की इच्छा करता है तो ये कितने आश्चर्य की बात है। इसी भांति यह काम उस व्यक्ति का परम शत्रु है जिसको अभी-अभी ज्ञान की प्राप्ति हो पाई है, क्योंकि जन्म-जन्मांतर से वह इस काम वासना को भोगता रहा है तो उसे आत्मज्ञान हो जाने से एक ही पल में कैसे त्याग सकता है, जिसका कि वह आदी रह चुका हो। आत्मज्ञान तो व्यक्ति को एक पल में हो जाता है, परन्तु मन की वासनाओं का त्याग करने में समय लगता है। जब इनका सम्पूर्ण रूप से व्यक्ति त्याग कर देता है तब व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार से एक म्यान में दो तलवार एक साथ नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार ज्ञान और विश्व, ज्ञान और काम एवं ज्ञान और वासना एक साथ नहीं रह सकते हैं। यदि व्यक्ति को ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो उस व्यक्ति से संसार, काम, वासना आदि नहीं रहेंगी और यदि प्राणी के अन्दर ये हैं तो उसे ज्ञान नहीं हुआ है, उसे केवल सन्देह ही हुआ है। इसीलिए ज्ञानी व्यक्ति इस जगत् को माया, झूठा और सन्देह बताता है लेकिन ज्ञान रहित मानव को यह ज्ञान, भगवान, आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि सब स्वप्न या कल्पना मात्र लगते हैं, आत्मज्ञान की इसी कसौटी पर अष्टावक्र जनक को कसते हुए पूछते हैं कि तुझे आत्मज्ञान हो गया है ऐसा प्रतीत होता है, लेकिन ज्ञान की

स्थिति में तूने यह जान लिया कि यह काम, उस परम ज्ञान का दुश्मन है। काम वासना में तो वर्षों से लिप्त रहा है लेकिन आत्मज्ञान तो तुझे अभी ही प्राप्त हो पाया है, अतः तेरे लिए यह एक नया सुख है और तुझे कामवासना कभी भी अपनी ओर मोहित कर सकती है। इतना सब कुछ जान लेने के बाद भी तू काम-वासना में लिप्त होना चाहता है तो ये बहुत ही आश्चर्यजनक है। अष्टावक्र जानना चाहते हैं कि राजा जनक काम भोगने की इच्छा करता है तो वह उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ है, बल्कि उसको ऐसा सन्देह है कि उसने आत्मज्ञान को प्राप्त कर लिया है।

### सूत्र-8

इहा मुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।

आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका॥

शब्दार्थ—इह—इस संसार (मर्त्यलोक), अमुत्र—स्वर्गदिलोक, विरक्तस्य—जिसकी आसक्ति समाप्त हो गई है, उसके नित्यानित्यविवेकिनः—नित्य और अनित्य विवेक करने वाले के, आश्चर्यम्—आश्चर्य है, मोक्षकामस्य—मोक्ष की कामना करने वाले के, मोक्षादेव—मोक्ष से ही, विभीषिका—भय है।

प्रसंग—आश्चर्य है, जो व्यक्ति इस संसार और परलोक में मिलने वाले सभी प्रकार के वैषयिक सुखों के प्रति पूर्णतया विरक्त है, जो यह विवेक कर सकता है कि नित्य क्या है और अनित्य क्या है, जो मुक्ति की कामना करता है, मुक्त होना चाहता है, वही मोक्ष से डरा हुआ है, सच में इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है।

व्याख्या—सांसारिक प्राणी का जीवन संघर्षों से भरा हुआ है। अच्छा-बुरा, लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रेम-घृणा, जय-पराजय आदि समस्याएं ही संघर्ष का रूप हैं, नैतिक ज्ञान वाला व्यक्ति इन्हें अलग रूप में देखता है, वह अच्छे को पुण्य व बुरे को पाप बताता है। संसार में रहकर वह अपने जीवन में विविध कार्यों के द्वारा अच्छे-बुरे धन को

प्राप्त करता है। व्यक्ति जब इस संसार को त्याग देता है तो उसके कार्य तो यहीं रह जाते हैं लेकिन वह अच्छी व बुरी संपत्ति अपने साथ ले जाता है, इसका पूरा हिसाब वह अपने साथ ले जाता है। यदि व्यक्ति ने अच्छे कार्य अधिक किए हैं तो उसे स्वर्ग में स्थान प्राप्त हो जाता है और यदि उसके जीवन-खाते में बुरे कार्य अधिक हैं तो उसे नरक में स्थान मिलता है। जब प्राणी अपने इन कार्यों का परिणाम प्राप्त करके उसका भोग कर लेता है तो वह दोबारा संसार में आ जाता है। व्यक्ति का कोई भी कार्य हो, उसका परिणाम तो अवश्य ही होगा। अतः कार्य मुक्ति का साधन नहीं बन सकता। जो व्यक्ति स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा से कार्य करते हैं वे भी भोग की ही इच्छा कर रहे हैं। वह स्वर्ग इस संसार से भी अधिक सुन्दर एवं उपयोगी होगा। लेकिन मोक्ष (मुक्ति) की इच्छा करने वाला प्राणी इन दोनों प्रकार के भोगों से अलग रहता है। वह इन दोनों के चक्करों से पार हो जाता है। उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यदि इस संसार के भोग नाशवान हैं तो स्वर्ग के भोग भी इसी प्रकार के होंगे। इसीलिए वह प्राणी सदैव रहने वाला परम सुख की प्राप्ति की इच्छा करता है, इसलिए अष्टावक्र जनक से प्रश्न करते हैं कि तुझे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया इसलिए तू इस जगत् और स्वर्ग के भोगों से अलग हो गया है। आत्मज्ञान हो जाने के बाद प्राणी का चरण मुक्ति को प्राप्त हो ही जाता है, तू उसे भी प्राप्त करने वाला है। तेरे अन्दर जो संस्कार, जो दोष बीज रूप में बचे हुए हैं, उनको समाप्त करके तू पूर्ण रूप से मुक्त होकर उस नित्य एवं शाश्वत को प्राप्त करना चाहता है। मोक्ष में, मुक्ति में बड़ा डर लगता है, सम्पूर्ण मुक्ति में बड़ा डर है, बड़ी ही असुरक्षा है, वहां भोग नहीं होंगे। इसलिए उपभोग की कामना करने वाले, प्राणी को मोक्ष से डर लगता है। इसका मतलब है कि उसमें अभी भोग करने की आकांक्षा रह गई है। यहां पर अष्टावक्र इस सूत्र में जनक से इसी कामना को जानना चाहते हैं कि वासना अभी बची हुई नहीं है।



## सूत्र-9

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा ।

आत्मानं केवलं पश्यन्नं तुष्यति न कुप्यति ॥

शब्दार्थ—धीरः—धीर पुरुषः, तु—तो, भोज्यमान—विषयों का भोग करता हुआ, अपि—भी, पीड्यमानः—उनसे सताया जाता हुआ, अपि—भी, सर्वदा—हमेशा, आत्मनम्—आत्मा को, केवलम्—एकमात्र, पश्यन्—देखता हुआ, न—न ही, तुष्यति—हर्षित होता है, न—न ही, कुप्यति—क्षुब्ध होता है ।

प्रसंग—धीर पुरुष, विषयों का भोग करता हुआ, उनकी अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियों से सुख-दुःख को प्राप्त हुआ भी, विशेषकर विपरीत स्थितियों द्वारा पीड़ित होता हुआ केवल आत्मा का क्योंकि दर्शन करता है, इसलिए न हर्षित होता है, न क्षुब्ध ।

व्याख्या—व्यक्ति का प्रसन्न होना, दुःखी होना ये सब कार्य उसके चित्त के धर्म हैं जो कि घमण्ड के कारण अपना प्रभाव दिखाते हैं । ज्ञान रहित प्राणी का जीवन मन (चित्त) और विषय-वासनाओं रूपी अहंकार से ही चलता है, इसलिए उनको इसका अनुभव होना स्वाभाविक है, आत्मज्ञान को पहचानने वाला व्यक्ति भी भोग तो भोगता ही है । वह अपने शुरू के कार्यों का फल तो भोगता ही है, इस जगत् में रहकर प्राणी को अपनी आवश्यकता के अनुसार तो कार्य करने ही पड़ते हैं और उनके परिणामों का उपभोग भी करना ही पड़ता है । अनेक ऐसे कार्यों के परिणामों का भी उन्हें उपभोग करना पड़ता है, जिनसे उन्हें बहुत कष्ट होता है, जैसे कि राम-कृष्ण को कैसर रोग की पीड़ा, कृष्ण के पैर में बाण लगने का कष्ट, जीसस को सूली पर लटका देना, सुकरात व मीरा को जहर पिला देना आदि से उत्पन्न हुए कष्ट को आत्मज्ञानी ही सहन करता है । उसे संसार में प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है, लेकिन इन दोनों परिस्थितियों में वह आत्मा को ही पहचानता हुआ खुशी एवं दुःख आदि से स्वतंत्र रहता है । इन भावों का उस पर

कोई प्रभाव नहीं होता। यदि ज्ञानी व्यक्ति पर इनका प्रभाव होता है तो इससे पता चलता है कि उसने पूर्ण ज्ञान को प्राप्त नहीं किया है। उसमें अभी बहुत कुछ जानना शेष है। अतः एक सच्चा आत्म-ज्ञानी वही हो सकता है, जिस पर किसी प्रकार का सुख या दुःख का कोई प्रभाव न पड़े।

### सूत्र-10

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्य शरीरवत्।

संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः ॥

शब्दार्थ—चेष्टमानम्—चेष्टाएं करते हुए, शरीरम्—शरीर को, स्वम्—अपने आपको, पश्यति—देखता है, अन्य शरीरवत्—दूसरे के शरीर की तरह, संस्तवे—स्तुति में, च—और, अपि—भी, निन्दायाम्—निन्दा में, कथम्—कैसे, क्षुभ्येत्—क्षुभित होता है, महाशयः—महाशय।

प्रसंग—जो अपने चेष्टारत शरीर को दूसरे के शरीर की भांति देखता है, वह महाशय पुरुष स्तुति और निन्दा में भी कैसे क्षोभ को प्राप्त होता है।

व्याख्या—इससे पूर्व के सूत्र में बताए गए तत्त्व ज्ञानी के लक्षण की विशेषता बताते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि जो व्यक्ति अपनी प्रशंसा (तारीफ) सुनकर प्रसन्न होता है और अपनी निन्दा को सुनकर गुस्सा (क्रोध) करता है, वह व्यक्ति अपने आपको शरीर माने। जो व्यक्ति तुम्हारी प्रशंसा या बुराई कर रहा है, वह भी तुम्हारे शरीर से आगे के विषय में कुछ नहीं जानता। तो अच्छाई या बुराई किसकी हो रही है? शरीर की! आत्मा की प्रशंसा या बुरा कौन कहेगा। और न ही प्रशंसा या निन्दा का आत्मा पर कुछ प्रभाव पड़ने वाला है। जो व्यक्ति अपने को केवल शरीर नहीं मानता बल्कि आत्मा मानता है, उसे न तो कोई प्रशंसा होगी और न ही क्रोध आएगा। व्यक्ति पर इनका प्रभाव तब होता है, जब वह प्रशंसा व निन्दा को अपनी प्रशंसा या निन्दा



जानता है। ज्ञानी इन्हें अलग रूप में देखता है और समझता है कि ये तो किसी अन्य व्यक्ति की प्रशंसा या निन्दा की जा रही है। शरीर से आत्मा का नाता टूटने पर ही ऐसा अनुभव होता है। अगर आत्मज्ञानी पर इन सबका प्रभाव पड़ता दिखाई पड़े तो जानना चाहिए कि अभी उस व्यक्ति को सम्पूर्ण आत्मज्ञान नहीं हुआ है। उसमें अभी सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति है। उसमें आत्मज्ञान का सन्देह हो गया है।

### सूत्र-11

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः।

अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः॥

शब्दार्थ—मायामात्रम्—प्रतीति मात्र, इदम्—यह, विश्वम्—विश्व को, पश्यन्—देखता हुआ, विगत कौतुकः—सभी प्रकार के मायारूपों को जानने-समझने वाला और उससे ऊपर उठा हुआ, अपि—भी, सन्निहिते—पास आने पर, मृत्योः—मृत्यु के, कथम्—कैसे, त्रस्यति—भयभीत होता है, धीरधीः—धैर्यशाली बुद्धिवाला।

प्रसंग—जिस धीर बुद्धि वाले व्यक्ति ने इस विश्व के न होने का अनुभव प्राप्त कर लिया है, जो माया के आश्चर्यजनक खेल से ऊपर उठ चुका है, वह मृत्यु के समक्ष आ खड़े होने पर कैसे भयभीत हो सकता है।

व्याख्या—महर्षि अष्टावक्र जनक से ये भी जानना चाहते हैं कि मृत्यु के डर के कारण भयभीत तो नहीं हो गया है। वे कहते हैं कि ज्ञान रहित प्राणी के लिए तो ये दुनिया ही वास्तविक है। वह इसी में रहकर, खाना-पीना, हंसना-खेलना, बड़ा होना और अपना विकास करते हुए संसार के राग, द्वेष, प्रेम, घृणा इन सबसे प्रभावित होता है, वह इस जगत् को ही भोग एवं विकास का मार्ग जानने लगता है। अनेक प्राणी तो इस विश्व को ही स्वर्ग मानते हैं। लेकिन आत्मज्ञानी को जब वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है तो वह इस जगत् को मोह-माया और सन्देह के समान काल्पनिक दिखाई देने लगता है, क्योंकि उसने इससे

भी अधिक अनमोल रस को प्राप्त कर लिया है, ज्ञान रहित प्राणी को इस विश्व की विचित्रताओं को देखकर आश्चर्य होता है लेकिन ज्ञानी व्यक्ति को ऐसा कुछ नहीं होता क्योंकि वह तो इन सबसे आगे निकल गया है। ज्ञान रहित प्राणी तो इस संसार को छोड़कर जाने से डरता ही है क्योंकि वह आगे मिलने वाले जगत् के बारे में सोचता है कि न जाने उसे कौन-सी योनि प्राप्त होगी। स्वर्ग और नरक में कौन-कौन से सुख या दुःख मिलेंगे। और उसका मृत्यु से डरने का सबसे बड़ा कारण यह है कि उसकी जीने की इच्छा व इस संसार के विषय-वासनाओं को भोगने की मृत्यु (अन्त) हो रही है और वह एक अनजान रास्ते पर जा रहा है। मरना तो सभी प्राणियों को है, इस बात को जानते हुए भी व्यक्ति मृत्यु को स्वीकार करना नहीं चाहता है। इस प्रकार के ज्ञान रहित प्राणी तो मर जाने से डरे हुए ही हैं, अष्टावक्र जनक से पूछते हैं कि क्या ज्ञानी होकर जब तूने इस जगत् को माया के समान जाना ही नहीं, देख लिया है तो भी मरने से डरता है क्योंकि ज्ञानी पुरुष मरने से नहीं डरते, वे तो किसी उत्सव के समान उसका स्वागत करते हैं। इस देह के प्रति स्वार्थ रखने वाले व्यक्ति ही मृत्यु से भयभीत होते हैं।

### सूत्र-12

निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः ।

तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते ॥

शब्दार्थ—निःस्पृहम्—इच्छा रहित, मानसम्—मनःस्थिति वाले को, यस्य—जिसका, नैराश्ये—मोक्ष में, अपि—भी, महात्मनः—महात्मा के, तस्य—उसकी, आत्मज्ञानतृप्तस्य—आत्म तृप्त की, तुलना—तुलना, केन—किससे, जायते—हो सकती है।

प्रसंग—जिसकी सभी इच्छाएं समाप्त हो चुकी हैं, यहां तक कि उसमें मोक्ष की कामना भी नहीं है, ऐसे आत्म तृप्त महात्मा की तुलना किससे की जा सकती है। ऐसा महात्मा तो अतुलनीय है।

व्याख्या—अष्टावक्र जनक से उच्च स्तर का प्रश्न करते हैं कि

अज्ञानी व्यक्ति तो मृत्यु से भयभीत होते ही हैं। लेकिन आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने वाले प्राणी को मृत्यु से नहीं डरना चाहिए। डर प्राणी की कामना और आकांक्षा के छोड़ देने से होता है वरना किसी प्रकार का कोई भय नहीं है। अष्टावक्र कहते हैं, आत्मज्ञानी तो इस जगत् की ही क्या मोक्ष (मुक्ति) की भी कामना नहीं करता है। अगर उसने मुक्ति की इच्छा की भी तो वह उसकी वासना ही बन जाएगी और जहां पर वासना निवास करती है वहां पर मुक्ति नहीं आ सकती। जो प्राणी किसी भी प्रकार की कोई कामना नहीं करते हुए आत्मज्ञान से संतुष्ट हैं, केवल आत्मज्ञान के आनन्द का रस पी रहे हैं, वह मोक्ष ही है। जो कि मुक्ति से भी अनमोल है। ऐसे प्राणी की तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती है। अष्टावक्र जनक से यही बात जानना चाहते हैं कि इसकी मोक्ष की वासना तो नहीं है। आत्मज्ञानी तो अतुलनीय है। उसके समान और कोई नहीं।

### सूत्र-13

स्वभावादेव जानानो दृश्यमेतन्न किञ्चन।

इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः ॥

शब्दार्थ—स्वभावात्—स्वभाव से, सहज रूप से, एव—ही, जानानः—जानने वाले, दृश्यम्—दृश्यमान जगत् को, सतत्—यह, न—नहीं, किञ्चन—कुछ भी, इदम्—यह, ग्राह्यम्—ग्रहण करने योग्य, इदम्—यह, त्याज्यम्—त्यागने योग्य, सः—वह, किम्—क्या (कैसे), पश्यति—देखता है, धीरधीः—धीर बुद्धिवाला।

प्रसंग—जो स्थिर बुद्धि वाला सहज रूप से इस बात को भली-भांति जान रहा है कि यह दिखाई देने वाला दृश्यमान जगत् है ही नहीं। उसकी दृष्टि में इस संसार से क्या ग्रहण करने योग्य है और क्या त्यागने योग्य होगा। कुछ भी नहीं।

व्याख्या—ज्ञान रहित प्राणी को आत्मा का ज्ञान न होने से वह इस विश्व को ही सब कुछ समझता है, लेकिन जिसे आत्मज्ञान हो

गया है, उस व्यक्ति को आत्मा का ही सम्पूर्ण शासन दिखाई देता है। वह विश्व को अनित्य, मायाजाल, सन्देह जानने लगता है। उसे आत्मा ही सर्वथा सत्य दिखाई देने लगती है। फिर वह इस नाशवान संसार से और क्या प्राप्त करने की कामना करेगा। जिसको अनमोल रस मिल गया उसे और क्या चाहिए। वह तुच्छ की कामना क्यों करेगा। आत्मज्ञान को जानने वाले व्यक्ति के लिए यह दिखाई देने वाला संसार कुछ नहीं है, उसे सब कुछ आत्मा में ही दिखाई पड़ता है। वह ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति इस संसार की कोई वस्तु या पदार्थ को न तो त्यागने के योग्य समझता है और न ही स्वीकार कर लेने योग्य। छोड़ देना और स्वीकार कर लेना तो स्वार्थ के कारण ही होते हैं। घमण्ड के कारण ही सांसारिक व्यक्ति सब कुछ अपनी प्रतिष्ठा के लिए पाना चाहता है और उनका त्याग करना भी उसके घमण्ड के ही कारण है। वह उसका त्याग इसीलिए करता है कि आगे स्वर्ग में जाकर वह दोबारा प्राप्त हो जाएगा। पाखण्डी, घमण्डी व्यक्ति सब कुछ त्याग कर नग्न हो जाता किन्तु उसका ये कार्य भी घमण्ड के कारण ही किया गया है तो यह उसका त्याग नहीं बल्कि मूर्खता है। त्याग करना, प्राप्त करने की शर्त नहीं है। जहां पर भी 'मैं' उपस्थित है, करने वाला (कर्त्ता) उपस्थित है वहां पर अहंकार (घमण्ड) होना स्वाभाविक ही है। ज्ञानी व्यक्ति त्याग करते नहीं बल्कि उस त्याग को कम करते हैं, त्याग हो जाता है, करने से नहीं होता। वह सब कुछ अपना मानता ही नहीं है। सब कुछ ईश्वर का दिया हुआ मानता है, वह इस जगत् को भी कंकड़-पत्थर से अधिक कुछ नहीं मानता है। ऐसे में वह किसको छोड़ दे और किसे स्वीकार कर ले। उपभोग करना और त्याग करना दोनों ही अहंकार (घमण्ड) के उपस्थित रहने के कारण हैं। ज्ञानी व्यक्ति के लिए दोनों ही महत्त्वहीन हैं। वह इनसे प्रभावित नहीं होता है।

## सूत्र-14

अन्तस्त्यक्त कषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ।

यदृच्छयाऽगतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये ॥

शब्दार्थ—अन्तः—भीतर, त्यक्त—छोड़े गए, कषायस्य—दोषों का, निर्द्वन्द्व—द्वन्द्वों से ऊपर उठा हुआ, अस्य—इसका, निराशिषः—जिसमें किसी प्रकार की लालसाएं, आशाएं नहीं हैं, यदृच्छया—भाग्यवशात् (प्रारब्ध के फलस्वरूप), आगतः—आया हुआ, भोगो—भोग, न दुःखाय—न दुःख के लिए है, न तुष्टये—न ही प्रसन्नता के लिए।

प्रसंग—जिस व्यक्ति ने अन्तःकरण के कषाय को त्याग दिया है और जो द्वन्द्व रहित और आशा रहित है। ऐसे पुरुष को दैवयोग से प्राप्त भोगों में न दुःख है और न ही सुख है।

व्याख्या—इस सूत्र में अष्टावक्र जनक से पूछते हैं कि तूने आत्मज्ञान को पहचान लिया है। तेरे अन्दर की विषय-वासनाओं रूपी सारी गन्दगी धुलकर साफ हो गई है। तू संघर्ष रहित और इच्छा रहित हो गया है। अब तेरे अन्दर कोई इच्छा शेष नहीं है। तुझे देवों की कृपा से प्राप्त भोगों को परमेश्वर का प्रसाद जानकर उपयोग करना चाहिए। तुझे अब इनसे सुखी या दुःखी नहीं होना चाहिए। तुझे जो भी अच्छा या बुरा प्राप्त होता है उसे देवों के द्वारा दिया हुआ जानकर उपभोग करना चाहिए। यदि ऐसा होता है तो इसका अर्थ है कि अभी चित्त जीवित है, आत्मज्ञान अभी हुआ ही नहीं है।

ज्ञानी व्यक्ति वही है जो स्व धैर्य से जीता है। क्या सही है क्या गलत है, क्या छोड़ना है और क्या स्वीकार करना है, इसका निर्णय स्वयं की बुद्धि से करता है। वह सांसारिक नियमों, रूढ़ियों, परम्पराओं सीमाओं से किसी भी तरह प्रभावित ही नहीं होता। अष्टावक्र इन चौदह सूत्रों के माध्यम से राजा जनक के आत्मज्ञान की परीक्षा ले रहे हैं। वो जानना चाहते हैं कि जनक को वास्तव में आत्मज्ञान हुआ या नहीं।

□ □



## चौथा अध्याय

### सूत्र-1

( जनक-उवाच )

हन्तामज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।

न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानतः ॥

शब्दार्थ—हन्त—असल में, आत्मज्ञस्य—आत्मतत्त्व को जानने वाले का, धीरस्य—धैर्यवान का, खेलतः—खेलते हुए, भोगलीलया—भोग की लीलाओं के साथ, न हि—नहीं, संसारवाहीकैः—संसार में लिप्त, संसार को ढोने वाले, मूढैः—अविवेकी, मोह से भ्रमित के, सह—साथ, समानता—समानता ।

प्रसंग—आत्म तत्त्व को जानने वाले धीर पुरुष की संसार की वस्तुओं के साथ क्रीड़ा और संसार को ढोने वाले अविवेकी पुरुष का सांसारिक वस्तुओं के साथ व्यवहार एक समान नहीं होता । यही वास्तविकता है ।

व्याख्या—पिछले प्रकरण में पूछे गए प्रश्नों का उत्तर जनक इस प्रकरण में सार गर्भित रूप में छः ही सूत्रों में दे देते हैं । वे बताते हैं कि ज्ञानी और ज्ञान रहित व्यक्ति के द्वारा किए गए कार्यों में अन्तर होता है । ज्ञानरहित व्यक्ति में घमण्ड (अहंकार) स्वार्थ होता है और उसके सभी कार्य स्वार्थ के कारण स्वयं को करने वाला मानकर करता है इसी कारण से उसे अपने कार्यों का फल भोगना पड़ता है । ज्ञानी में ऐसा नहीं होता, जिसके कारण वह करने वाला होने से मुक्त हो जाता है । इसी कारण से उसके द्वारा किए गए कार्य स्वाभाविक और धैर्यपूर्ण

होते हैं, जिसके कारण वह फल को नहीं भोगता है। वह समस्त कार्य ईश्वर के लिए जानकर करता है। लेकिन ज्ञानरहित प्राणी समस्त कार्य स्वार्थ और वासना की पूर्ति करने की इच्छा से करता है। जिसके परिणामस्वरूप वह फल को भोगने वाला हो जाता है। आत्मज्ञान को जानने वाला व्यक्ति केवल देखने वाला ही हो जाता है। जो कुछ उस परमेश्वर ने दिया है, उसका उपयोग करने में पाप नहीं है बल्कि उसका अपमान करना, स्वार्थ के कारण उसको त्याग देना ही पाप कर्म है। परमेश्वर के नियमों के विरुद्ध है। ज्ञानी व्यक्ति अपने कार्यों को बिना फल की इच्छा करते हुए करता है, वह निष्काम कर्म-योग हो जाता है। कार्य के प्रति उसका राग, द्वेष, स्वार्थ आदि नहीं होता, मानसिक तनाव भी नहीं होता, ऐसे कार्यों की निपुणता को वह प्राप्त कर लेता है, जबकि ज्ञान रहित व्यक्ति के कार्य स्वार्थ के कारणवश किए जाते हैं, उसमें करने वाले का स्वार्थ उपस्थित रहता है, ईर्ष्या द्वेष रहता है, मानसिक तनाव भी रहता है, इन सब कार्यों को करता हुआ वह ऐसा सोचता है कि ये सब मैं ही कर रहा हूँ। अगर मैं नहीं होता तो यह कार्य ही न हुआ होता। इस मैं के कारण ही सारा किया हुआ व्यर्थ हो जाता है। वह सारे जगत् का बोझ अपने सिर पर रखकर चलता है और सोचता है कि सारा संसार मेरे चलाने से ही चल रहा है लेकिन ज्ञानी व्यक्ति की सोच इससे विपरीत है, वो यह मानता है कि सारे संसार को वो एक ही परम शक्ति का स्वामी परमात्मा चला रहा है। मैं तो एक उसका हिस्सा हूँ। ऐसे व्यक्ति में स्वार्थ, घमण्ड नहीं होता। इसी बात को प्रकट करते हुए जनक कहते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति के कर्मों की तुलना ज्ञान रहित व्यक्ति के कर्मों से कैसे की जा सकती है। दोनों के विचारों में बड़ा ही अन्तर पाया जाता है। ज्ञानी व्यक्ति तो मरने के समय में भी प्रसन्न होता है लेकिन ज्ञान रहित व्यक्ति जीवित रहते हुए भी रोता रहता है। ज्ञानी पुरुष के पास कुछ भी न होते हुए भी वह सुखी होता है लेकिन ज्ञान रहित प्राणी के पास सब कुछ होते हुए भी दुःख व चिन्ता रहती है। ज्ञानी व्यक्ति कार्य को भी खेल समझता

है, ज्ञान रहित व्यक्ति खेल को भी कार्य समझता है, ज्ञानी व्यक्ति इस दुनिया को नाटक के समान स्वप्न रूपी मानता है लेकिन ज्ञान रहित व्यक्ति नाटक और स्वप्न को भी सत्य मानता है। ज्ञानी व्यक्ति व ज्ञान रहित व्यक्ति के कार्यों में एकता होने के बाद भी उनके सोचने-समझने और देखने के तरीकों में बहुत अन्तर होता है।

## सूत्र-2

यत्पदं प्रेप्सवो दीना शक्राद्याः सर्वदेवता।

अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥

शब्दार्थ—यत्—जिस, पदम्—पद को, प्रेप्सवः—विशेष रूप से चाहते हुए, दीना—दीनता को (प्राप्त होते हैं), शक्राद्याः—इंद्रादि, सर्वदेवता—सभी देवता, अहो—आश्चर्य है, तत्र स्थितः—उस पद पर स्थित, योगी—योगी, न—नहीं, हर्षम्—हर्ष को, उपगच्छति—प्राप्त होता है।

प्रसंग—जिस पद को प्राप्त करने के लिए इन्द्र और अन्य देवगण दीन-हीन बनकर व्यवहार करते हैं, उस पद पर आसीन होने पर भी योगियों को थोड़ा-सा भी हर्ष नहीं होता।

व्याख्या—इस सूत्र के माध्यम से राजा जनक बताते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति और ज्ञान रहित व्यक्ति दोनों ही कार्य तो करते हैं लेकिन ज्ञान रहित प्राणी उन कार्यों के फल को प्राप्त करने की इच्छा रखता है। जिसके कारण उस पर लाभ-हानि, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि का प्रभाव पड़ता है। इसका मूल कारण उसकी इच्छाएं एवं वासनाएं हैं। ज्ञान रहित व्यक्ति कार्य को शुरू करने से पहले ही उसके फल का विचार करने लगता है कि इस कार्य को करने से उसे कितना फायदा होगा और कितना सुख प्राप्त होगा। इसी लाभ के आधार पर वह अपने जीवन की समस्त योजनाएं बना लेता है कि इससे घर बनाऊंगा, गाड़ी खरीदूंगा, अपनी पत्नी व बच्चों की भली प्रकार देखभाल करूंगा। परन्तु जब उसकी इच्छाएं पूरी नहीं होतीं तो वह शेखचिल्ली के समान

उसके सारे इरादों पर पानी फिर जाता है। जिसके कारण उसे बहुत कष्ट होता है। यह कष्ट उसे पदार्थों से नहीं बल्कि उसकी कामनाओं के कारण होता है। जनक बताते हैं कि इन इच्छाओं के कारण तो इन्द्र को भी कष्ट हो रहा है। उसे भी यही डर सदैव बना रहता है कि कहीं दूसरा व्यक्ति उसके सिंहासन पर न बैठ जाए। अगर कोई व्यक्ति घोर तपस्या करने लगता है तो उसका आसन हिलने लगता है। उसे बचाने के लिए वह अनेक प्रकार की शक्तियों का उपयोग करता है। इस भोग करने की कामना के कारण ही देवता दीन होते जा रहे हैं। वे कभी इन्द्र की शरण में तो कभी विष्णु की शरण तो कभी शिव को खुश करने के लिए शिव लोक पहुंच जाते हैं और प्रार्थना करते हैं कि हमें इस विपत्ति से मुक्त करो। देवगण और इन्द्र जैसे असाधारण व्यक्ति भी वासनाओं में लिप्त रहने के कारण इस आत्मा के समान मोक्ष रूपी परम पद को नहीं पा सके हैं। वे इसको प्राप्त करने के लिए ही दीन हो रहे हैं, लेकिन जो ज्ञानी व्यक्ति इस परम सुख को पाकर भी प्रसन्न नहीं होता, यह कितनी आश्चर्यजनक बात है। अर्थात् मैं उस परम सुख को पाकर भी प्रसन्न नहीं हो रहा हूं, क्योंकि मैं इस प्रसन्न और अप्रसन्न रूपी संघर्ष से आगे निकल आया हूं, संघर्षशील स्थिति ही मुक्ति है। मैं अब प्राप्त करने योग्य और अप्राप्त करने योग्य दोनों ही स्थितियों को समान दृष्टि से देखता हूं। इस कारण से मैं नित्य एवं शाश्वत आत्मज्ञान के परम सुख को पा चुका हूं। गरीब व्यक्ति वह नहीं है जिसके पास कुछ नहीं है, बल्कि वह है जिसे सदैव अधिक से अधिक प्राप्त करने की इच्छा है। ये इच्छा ही व्यक्ति के गरीब होने का कारण है। इस प्रकार का व्यक्ति परमात्मा के द्वारा दिए हुए में संतोष नहीं करता है। उसे और अधिक प्राप्त करने की कामना बनी रहती है।

### सूत्र-3

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते ।  
न ह्यकाशस्य धूमेन दृश्यमानाऽपि संगतिः ॥



**शब्दार्थ—तज्ज्ञस्य—**उस, परमतत्त्वरूप आत्मस्वरूप ब्रह्म को जानने वाले का, **पुण्यपापाभ्यां—**पुण्य पाप से, **स्पर्श—**सम्बन्ध, **हि—**क्योंकि, **अन्तः—**अन्तःकरण का, **न—**नहीं, **जायते—**होता है, **न—**नहीं, **आकाशस्य—**आकाश के, **धूमेन—**धूम से, **दृश्यमान—**दिखाई देता हुआ, **अपि—**भी, **सङ्गति—**सम्बन्ध ।

**प्रसंग—**ब्रह्म तत्त्व को जानने वाले का अन्तःकरण पाप-पुण्य दोनों से बिल्कुल उसी प्रकार अस्पर्श्य रहता है, जिस प्रकार धुएं से आकाश । लगता है मानो पाप-पुण्य का संस्पर्श होता है, धुआं आकाश को मलिन करता है पर वास्तविकता में ऐसा कहां होता है ।

**व्याख्या—**व्यक्ति के अन्तःकरण के दो कार्य हैं, पहला, जब यह शरीर चित्त, बुद्धि और इन्द्रियों के साथ कामनाओं एवं वासनाओं में लिस रहता है तो यह पाप और पुण्य कार्यों का भागीदार होता है, लेकिन जब यह शुद्ध पवित्र होकर आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो यह सभी दोषों से मुक्त होकर पाप व पुण्य का भागी नहीं होता है । ये पाप और पुण्य की भावना उस व्यक्ति को स्पर्श (छू) भी नहीं सकती हैं । पाप-पुण्य मात्र एक धारणा है ये व्यक्ति के कार्य में न होकर उसकी भावना में है । ये शारीरिक नहीं बल्कि मानसिक है जिसका प्रभाव स्वार्थ के कारण होता है । व्यक्ति का मन जब विकारों और स्वार्थ से मुक्त हो जाता है, तब उसका अन्तःकरण शुद्ध व पवित्र हो जाता है । आत्मज्ञान वाले व्यक्ति का स्वार्थ, घमण्ड न जाने कहां चला जाता है । कार्य करने वाले का विनाश हो जाता है तो पाप-पुण्य का प्रभाव किस पर हो सकेगा । कार्य को करने वाला (कर्त्ता) ही पाप और पुण्य का मूल कारण है । इसलिए जनक बताते हैं कि उस आत्मज्ञान को जानने वाले व्यक्ति के अन्तःकरण का स्पर्श ये पाप-पुण्य नहीं कर पाते हैं, जिस प्रकार आकाश का धुएं के साथ कोई नाता नहीं होता, आकाश धुएं से बिना स्पर्श किए ही रहता है । लेकिन हमें ऐसा दिखाई देता है कि इस धुएं के कारण सारा आकाश व वायुमण्डल दूषित हो गया है । इसी प्रकार साधारण व्यक्ति ये समझते रहे कि ज्ञानी व्यक्ति



भी तो हमारे समान ही समस्त कार्य कर रहा है, अतः वह ज्ञानी नहीं भोगने वाला है, नाटक करता है। संसार को भ्रमित करने के लिए ज्ञानी होने की झूठी घोषणा कर रहा है। उस व्यक्ति ने वस्त्रों का त्याग नहीं किया, महल नहीं त्यागे सभी पहले जैसा ही है सब खाता-पीता है, अतः यह ज्ञानी हो ही नहीं सकता। ज्ञानी व्यक्ति की पभिषा जब ज्ञान रहित व्यक्ति भी करने लगते हैं तो अपनी मूर्खता उस पर आरोपित करने लगते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति तो नग्न रहता है, खाता-पीता नहीं है, व्रत करता है, उसका चेहरा उतरा हुआ होता है, जिसे ऐनीमिया हो गया हो, जो बोल न सकता हो, जिसके चेहरे पर तेज का अभाव हो जो मृतक प्राणी के समान हो, ऐसा प्राणी ज्ञानी कहलाता है। अगर किसी वानर को परमात्मा का चित्र बनाने के लिए कहा जाए तो वह उसका चित्र अपनी शक्ल के अनुसार ही बनाएगा। वह मनुष्य के समान क्यों बनाएगा। राजा जनक को जो आत्मज्ञान हुआ है, वह सही है क्योंकि वे गुरु के प्रश्नों का उत्तर सही दे पा रहे हैं। इन उत्तरों को भी अष्टावक्र के समान ही गुरु समझ सकता है। अज्ञानी व्यक्ति इसे समझ नहीं पाएगा।

#### सूत्र-4

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।

यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धु क्षमेत कः॥

शब्दार्थ—आत्मा—आत्मा, एव—ही, इदम्—यह, जगत्—संसार, सर्वम्—सब कुछ, ज्ञातम्—जान लिया है, येन—जिसने, महानत्मना—महान आत्मा ने, यदृच्छया—भाग्य से (प्रारब्ध से), वर्तमानम्—बरतने वाले, तं—उसको, निषेद्धुम्—निषिद्ध करने को, क्षमेत्—समर्थ है, कः—कौन।

प्रसंग—जिस महात्मा ने इस संसार को आत्म रूप में जान लिया है, जिसने यह जान लिया है कि सारा संसार उसी आत्मा का रूप है। प्रारब्ध के वश में पड़े उस महात्मा को निषेध करने में कौन समर्थवान है।

**व्याख्या**— जो अज्ञानी व्यक्ति अपने को आत्मा से अलग जानकर मन और स्वार्थ के कारण जो कार्य करता है, वही कार्य उसे पाप और पुण्य का परिणाम देते हैं तथा उन कार्यों को भोगने वाला भी चित्त और स्वार्थ ही होता है, लेकिन जो प्राणी इन सबसे आगे निकलकर चेतना रूपी आत्मा को पहचान गया है, जिसने इस समस्त संसार को आत्मा की तरह ही मान लिया है तो फिर न तो कार्य करने वाला ही शेष रहता है और न ही उसका परिणाम भोगने वाला क्योंकि आत्मा तो न मरने वाली है और न ही भोगने वाली है तथा जो चित्त एवं स्वार्थ भोगने वाला एवं करने वाला (कर्ता) था, वह समाप्त हो चुका अब उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए पाप या पुण्य का कोई झंझट ही नहीं है। राजा जनक यहां पर इसी बात को समझा रहे हैं कि जिस ज्ञानी व्यक्ति ने आत्मा को पहचान कर उसे जान लिया और इस सारे जगत् (संसार) को आत्मा के समान ही स्वीकार कर लिया, उस परम ज्ञानी व्यक्ति को अपनी कामना के अनुरूप व्यवहार करने से कौन रोक सकता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति, सामाजिक, राजनीतिक, व्यावहारिक, शास्त्रीय आदि सब बन्धनों से स्वतन्त्र होकर केवल परमात्मा के नियमों के अनुरूप ही कर्म एवं व्यवहार करता है, उसके सभी कार्य एवं व्यवहार अपने विवेक (बुद्धि) पर आधारित होते हैं। इसीलिए वह अपनी आत्मा की कामना के अनुसार कर्म करता है। वह मन (चित्त) यति, स्वार्थ (घमण्ड) और देह आदि की इच्छा के अनुसार नहीं चल पाता। इन सब बन्धनों से स्वतन्त्र होकर परम मुक्ति का अनुभव करता है। जब दूसरा उपस्थित है तभी पाप या पुण्य होने की संभावना रहती है। जब दो नहीं है तो पाप किसके लिए किए जाएंगे और क्यों किए जाएंगे। ये पाप और पुण्य ज्ञान को न जानने वालों की भाषा है। ज्ञानी व्यक्ति में तो एक तत्त्व का भाव हो जाता है। विविधता समाप्त हो जाती है। दो का अन्तर ही मिट जाता है। जिस प्रकार शरीर का एक भाग दूसरे भाग को नुकसान नहीं पहुंचाता है और सहयोग करता है, यदि कभी अज्ञानता के कारण नुकसान हो भी जाता है तो

दूसरा भाग उससे बदला नहीं लेता है, न ही उसे क्षमा मांगने के लिए कहता है और न ही उस भाग को किसी तरह का कोई पाप लगता है कि उसे इस कार्य का परिणाम भोगना ही पड़ेगा। या वह भाग नरक को प्राप्त करेगा, बाकी का सारा भाग स्वर्ग का उपयोग करेगा। ऐसा कभी नहीं होता। ये पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, दया, क्षमा आदि धारणाएं सब द्वैत धर्म की विचारधाराएं हैं जो कि अज्ञानी व्यक्ति के लिए ही हैं। अध्यात्म को प्राप्त कर चुका ज्ञानी व्यक्ति इन सबको पार करके आगे निकल जाता है। उसे एक तत्त्व के कोने का ज्ञान होना हो जाता है उसके लिए पाप-पुण्य आदि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है।

### सूत्र-5

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे ।  
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यामिच्छाऽनिच्छाविवर्जने ॥

शब्दार्थ—आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते—ब्रह्मा से लेकर चींटी तक, भूतग्रामे—प्राणी समूह में, चतुर्विधे—चार प्रकार में, विज्ञस्यैव—आत्मवेत्ता का ही, हि—निश्चयपूर्वक, सामर्थ्य—सामर्थ्य है, इच्छानिच्छा—इच्छा, अनिच्छा के, विवर्जने—त्याग करने में।

प्रसंग—ब्रह्मा से लेकर चींटियों तक जो चार प्रकार के प्राणी हैं—जरायु, अंडज, उद्भिज और स्वेदज। इन सभी में से केवल आत्मज्ञानी में ही यह शक्ति है कि इच्छा-अनिच्छा, दोनों का परित्याग कर सके।

व्याख्या—ये सारा संसार इच्छा और अनिच्छा के संघर्ष में उलझा हुआ है। चींटी से लेकर ब्रह्मा तक सभी इच्छाओं के सेवक हैं। ये कामना की बात तो समझ में आ जाती है लेकिन अनिच्छा क्या है? इसकी परिभाषा यदि आधुनिक समय के अनुसार की जाए तो अति उत्तम होगी। ऐच्छिक और अनैच्छिक दो प्रकार के कार्यों का वर्णन मनोविज्ञान करता है। ये ऐच्छिक क्रियाएं तो वो क्रिया है जो कि जीव अपने नियन्त्रण में करता है, वह उन अपनी शक्ति के अनुसार नियन्त्रण कर सकता है लेकिन अनैच्छिक कार्य वो कार्य है जिन पर प्राणी का

किसी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं होता। ये स्वयं ही होती रहती हैं। और आश्चर्यजनक तथ्य ये है कि इन अनैच्छिक क्रियाओं पर ही जीवन पूरी तरह से टिका हुआ है। ये परीक्षणों के द्वारा ज्ञात हो चुका है कि ये अनैच्छिक क्रियाएं भी वास्तव में ऐच्छिक ही हैं। अब प्रश्न ये उठता है कि अज्ञान और ज्ञानी में क्या भेद है। अज्ञानी (ज्ञान रहित) प्राणी इच्छाओं-अनिच्छाओं को नकार नहीं सकता, जबकि आत्मज्ञान को जानने वाला व्यक्ति इन दोनों को नकारने की शक्ति है। प्रवृत्ति में इच्छा-अनिच्छा दोनों ही एक समान और महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन आत्मज्ञान को जानने वाले व्यक्ति के व्यवहार में इन दोनों का ही कोई महत्त्व नहीं है। वह आरम्भ की गति को देखता हुआ कार्यों में प्रवृत्त हुआ सा प्रतीत होता है। इस संसार को बनाने वाला ब्रह्मा भी इच्छाओं से लिस है, संसार का निर्माण कराने की उसकी भी कामना है। फिर मानव कैसे इन इच्छाओं से मुक्त हो सकता है। इन सब पर विजय प्राप्त करने वाला तो केवल आत्मज्ञानी ही है।

### सूत्र-6

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम्।

यद्वेति तस्य कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित्॥

शब्दार्थ—आत्मानम्—आत्मा को, अद्वयम्—अद्वैतरूप से, कश्चित्—कोई (ही), जानाति—जानता है, जगदीश्वरम्—जगत् के स्वामी ईश्वर को, यत्—जो, वेत्ति—जानता है, तत—वह, सः—वह, कुरुतेन—करता नहीं, भयम्—भय, तस्य—उसका, कुत्रचित्—कहीं (भी)।

प्रसंग—कोई ही आत्मा और जगत् के स्वामी ईश्वर को एक रूप से, अद्वैतरूप से जानता है और जो ऐसा है उसे कहीं भी, किसी से किसी प्रकार का कोई भय नहीं रहता।

व्याख्या—जनक अष्टावक्र को बताते हैं कि इस दुनिया में नए-नए मुखौटे लगाकर बहुत से लोग ज्ञानी बने घूमते फिरते हैं। कोई

वस्त्रों को त्यागकर कोई हाथ में चिमटा लिये, कोई त्रिशूल उठाए, कोई खप्पर या खोपड़ी लिये कोई तिलक लगाकर तो कोई धूनी रमाते हुए, कोई पंचाग्नि तपस्या करते हैं और अनेक वेशभूषा को धारण किए घूमते रहते हैं। सब अलग-अलग धर्म (विचारधाराओं) को मानने वाले हैं कोई, ईश्वरवादी, कोई अध्यात्मवादी, कोई निरंकारी, कोई सनातनी, कोई कबीर पंथी तो कोई नानक पंथी आदि लेकिन इनमें से विरला ही कोई होगा जो आत्मा को जानता होगा कि आत्मा एक है इस सारे संसार में उसका ही फैलाव है। वही आत्मा ही जगदीश्वर है, उसी से संसार है। संसार व आत्मा तथा परमेश्वर अलग नहीं हैं, संसार व संसार को बनाने वाला अलग नहीं है। इस प्रकार का रहस्य प्रत्येक व्यक्ति नहीं जान सका है, इसको तो आत्मज्ञानी ही जान पाया है। इस प्रकार का ज्ञानी व्यक्ति करने योग्य कार्यों को ही करता है, वह किसी दूसरे के आधिपत्य होकर नहीं करता। उसे किसी से भी डर नहीं लगता है, क्योंकि वह चित्त और स्वार्थ, घमण्ड की सीमा को पार कर चुका है। भय तो द्वैत के कारण ही होता है अध्यात्म में डर होता ही नहीं है। राजा जनक ने अपने पूछे गए प्रश्नों का उत्तर सूक्ष्म-सार में अष्टावक्र को दिया।

□□



## पांचवां अध्याय

### सूत्र-1

#### ( अष्टावक्र-उवाच )

न ते सङ्गोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तु मिच्छसि ।

संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज ॥

शब्दार्थ—न—नहीं है, ते—तेरा, संगोऽस्ति—संग है, केन—  
किसी से, अपि—भी, किम्—क्या, शुद्धः—शुद्ध, त्यक्तुम्—  
छोड़ना, इच्छसि—चाहता है, संघात विलयम्—जुड़ना, विलय,  
कुर्वन्—करते हुए, एवमेव—ऐसे ही, लयम्—मोक्ष, व्रज—प्राप्त  
होओ।

प्रसंग—तुम्हारा किसी से किसी प्रकार का कोई संग नहीं है  
क्योंकि तुम शुद्ध हो, तब फिर किसका त्याग, इस प्रकार देहाभिमान  
को छोड़ते हुए मोक्ष को प्राप्त होओ। मुक्ति का अनुभव करो।

व्याख्या—राजा जनक द्वारा दिए गए उत्तरों को सुनकर अष्टावक्र  
को विश्वास हो गया कि जनक को वास्तव में आत्मज्ञान हो गया है।  
क्योंकि आत्मज्ञानी के समान स्थिति का अनुभव जनक को हो रहा है।  
अब इस प्रकरण में वे जनक को मोक्ष की प्राप्ति का उपदेश दे रहे हैं।  
अष्टावक्र बताते हैं कि जब तूने आत्म-ज्ञान की स्थिति में यह जान  
लिया है कि तू शुद्ध एक चेतन आत्मा मात्र है। तेरा कोई मित्र या साथी  
नहीं है। तू अकेला होकर किसे छोड़ना चाहता है, छोड़ा तो उसे जाता  
है जिसे हम अपना समझते हैं। जो हमारा है ही नहीं उसे हम कैसे  
छोड़ सकते हैं। इस संसार में जिसे हम अपना मानते हैं वो केवल इस

शरीर के अहंकार के कारण ही है। शरीर के अहंकार के कारण ही यह जगत् अनेक शरीरों वाला दिखाई देता है तथा व्यक्तियों का जो आपस में नाता है वो भी शरीर के अहंकार के कारण ही है। इस शरीर के अहंकार के कारण ही आत्माओं में भी अन्तर दिखाई पड़ता है कि जितने ये शरीर हैं, उतनी ही संख्या में आत्माएं हैं। देह (शरीर) अनेक हैं, इस कारण आत्मा भी अनेक हैं। यह मेरा, तेरा, अपना-पराया सब इस शरीर के अहंकार के कारण ही है। इस शरीर के अहंकार के कारण ही व्यक्ति पदार्थों (वस्तुओं) को अपना जानकर उनको दान में दे देते हैं। उनका त्याग करते हैं। ये मोह, ममता, लालच, घृणा, राग-द्वेष भी शरीर के अहंकार के कारण ही हैं। ये संपत्ति, कोठी-बंगले, पत्नी, पुत्र रिश्तेदार आदि को त्यागने से कुछ नहीं होगा। इस शरीर का अहंकार ही सबसे बड़ा बन्धन है। इसका त्याग करने से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है। यह शरीर का अहंकार ही अज्ञानता का कारण है। दीपक के जलने पर अंधेरे को त्याग नहीं करना पड़ता। जो है ही नहीं उसको छोड़ना कैसा। उस शरीर के अहंकार के कारण ही तुम्हें यह शंका हो गई थी कि ये मेरा है इसलिए इसे छोड़ने का विचार करते हो। ज्ञान के उजाले से ही तुम्हें वास्तविकता का पता चल सकता है। इस शरीर के अहंकार का समाप्त हो जाना ही मोक्ष है, तू इसे समाप्त करके मोक्ष को प्राप्त हो।

## सूत्र-2

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुदबुदः।

इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥

शब्दार्थ—उदेति—उदित होता है (उत्पन्न होता है), भवतः—तुमसे ही, विश्वम्—यह समूचा संसार, वारिधेः—समुद्र से, इव—की तरह, बुदबुदः—बुलबुले, इति—ऐसा, ज्ञात्वा—जानकर, एक—एकमात्र, आत्मानम्—आत्मा को, एवम्—इस प्रकार, एव—ही, लयम्—परम शांति को, व्रज—प्राप्त हो।

**प्रसंग**—तुझसे संसार उत्पन्न होता है जैसे समुद्र से बुलबुला। इस प्रकार आत्मा को एक जानते हुए मोक्ष को प्राप्त कर।

**व्याख्या**—यहां पर अष्टावक्र मोक्ष को पाने का उपाय (विधि) बताते हुए कह रहे हैं कि ये आत्मा तो सागर के समान है। जिसका कोई निश्चित आकार नहीं होता। और यह जगत् उस सागर में उठे हुए बुलबुले के समान है जो कि शान्त हो जाने पर जल में विलीन हो जाता है। इसलिए यह जगत् तेरी आत्मा से अलग नहीं है। सारा संसार एक ही तत्त्व के द्वारा बना हुआ है। अतः तू इस एक तत्त्व को जानते हुए मोक्ष (मुक्ति) को प्राप्त हो। देवी भागवत में भी कहा गया है कि ये बन्धन और मोक्ष चित्त के गुण हैं, चित्त के शान्त हो जाने से बन्धन और मुक्ति (मोक्ष) का नाम भी समाप्त हो जाता है। आत्मा में मन को लगाने से सारा संसार आत्मामय हो जाता है। अष्टावक्र बताते हैं कि जब तक आत्मा के एक तत्त्व का ज्ञान नहीं होता तब तक व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः आत्मा और एकत्व का ज्ञान होना आवश्यक है।

### सूत्र-3

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।

रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज ॥

**शब्दार्थ**—प्रत्यक्षम्—आंखों से दीखता हुआ (समस्त इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता हुआ), अपि—भी, अवस्तुत्वात्—वास्तव में न होते हुए भी, विश्वम्—संसार को, नास्ति—नहीं है, अमले—मलरहित, त्वयि—तुममें, रज्जु—रस्सी में, सर्प—सांप, इव—की तरह, व्यक्तम्—दिखाई देने वाला, एवम्—इस प्रकार, एव—ही, लयम्—मोक्ष, व्रज—प्राप्त हो।

**प्रसंग**—यह अवास्तविक संसार निर्मल आत्मरूप तुझमें वैसे ही अस्तित्व में नहीं है, जैसे कि रस्सी में सर्प, इसलिए ऐसा विचार करते हुए तू मुक्ति का अनुभव कर।

**व्याख्या**—ज्ञान रहित प्राणी को यह दिखाई देने वाला संसार स्थित होने से साफ (स्पष्ट) दिखाई देता है, क्योंकि वह आत्म तत्त्व के बारे में कुछ नहीं जानता है। किन्तु उसके अन्दर जो वह छोटा-सा परम तत्त्व है, उसका इन्द्रियों के सांसारिक पदार्थों में लित होने के कारण वह स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता। आत्मज्ञान को जानने वाला व्यक्ति ही इस तत्त्व का ज्ञान करने में समर्थ है। अतः अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि स्पष्ट दिखाई देने वाला संसार भी रस्सी के समान सांप की भांति तुझे शुद्ध-चेतन आत्मज्ञानी के लिए वास्तविक नहीं है। तेरे लिए तो केवल ये आत्मा ही वास्तविक और सबसे बड़ा सत्य है। ऐसा जानकर तू मोक्ष को प्राप्त हो। आत्म-तत्त्व में दृढ़ निष्ठा निश्चय हो जाना ही मुक्ति को पा लेना है। अतः तू आत्मा को पहचानने की कोशिश कर, तभी तू इस संसार से मुक्त हो सकेगा।

#### सूत्र-4

समदुःखसुखपूर्ण आशानैराश्ययोः समः ।  
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज ॥

**शब्दार्थ**—समदुःख सुख—दुःख सुख में समान, पूर्ण—पूर्ण, आशा नैराश्ययोः—आशा निराशा में, समः—बराबर, समजीवित, मृत्युः—जीवन-मृत्यु में एक-सा, सन्—होते हुए, एवम्—इस प्रकार, एव—ही, लयम्—मुक्ति को, व्रज—प्राप्त हो।

**प्रसंग**—सुख-दुःख में समान, समस्त अभावों से परे आशा-निराशा में समान जीवन और मृत्यु में एक समान होते हुए ऐसा अपने स्वरूप को जानते समझते और अनुभव करते हुए मुक्ति को प्राप्त कर।

**व्याख्या**—अष्टावक्र जनक को बताते हैं कि जब तूने यह समझ लिया है कि ये आत्म पूर्ण है और मैं शरीर (देह) नहीं आत्मा ही हूँ, इसी कारण से मैं भी सम्पूर्ण हूँ। ये सुख-दुःख, हानि, लाभ मन के गुण हैं, आशा-निराशा चित्त के गुण हैं और जीवन व मृत्यु इस शरीर के गुण-धर्म हैं। तू इन तीनों से आगे चेतन आत्मा है जो सब कुछ देखने

वाली है। इसलिए ये आत्मा के गुण धर्म नहीं हैं। अतः अब तूने अपनी आत्मा को पहचान लिया है तो तेरे लिए ये सब समान ही हैं। तुझे न तो इनसे प्रसन्न होना चाहिए और न ही शोक (दुःख) करना चाहिए। ऐसा दृढ़ निश्चय करके तू मोक्ष को प्राप्त हो। अष्टावक्र इन चारों सूत्रों में मुक्ति का उपदेश (ज्ञान) दे रहे हैं कि शरीर के अभिमान को त्याग, अध्यात्म की आत्मा को जाग्रत कर जगत् (संसार) के सन्देह से मुक्त होकर तथा संघर्ष का त्याग करके एक तत्त्व को जानते हुए ये चार मान्यताएं आत्मज्ञानी को मुक्ति प्रदान कर देती हैं।

□□



## छठा अध्याय

### सूत्र-1

( जनक-उवाच )

आकाशवदनन्तोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत् ।

इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥

शब्दार्थ—आकाशवत्—आकाश की तरह, अनन्तः—सारी सीमाओं से परे, अहम्—मैं (हूँ), और घटवत्—घड़े के समान, प्राकृतम्—प्रकृति (माया) से उत्पन्न, जगत्—यह संसार है, इति—ऐसा, ज्ञानम्—ज्ञान, तथा—इसलिए, एतस्य—इसका, न—नहीं, त्यागो—त्याग, न—नहीं, ग्रहः—ग्रहण करना, लयः—लय है।

प्रसंग—मैं आकाश की तरह समस्त अन्तों से परे हूँ, और यह संसार घड़े की प्रकृति से उत्पन्न है, इसलिए इसका न त्याग है, न ग्रहण है, न ही लय है, यही सच्चे अर्थों में ज्ञान है।

व्याख्या—पांचवें प्रकरण में अष्टावक्र राजा जनक के आत्मज्ञान से सुनिश्चित होकर उन्हें मुक्ति (मोक्ष) की विधि बताते हैं, साथ ही वे उनकी अप्रत्यक्ष रूप से उनकी परीक्षा भी ले रहे हैं कि इसे मुक्ति की इच्छा है या नहीं अगर इच्छा है तो अभी मोक्ष को नहीं पा सके हैं। जिस स्थिति में प्राणी न तो कुछ पाना चाहता है और न ही कुछ त्यागना ही चाहता है। उसके अन्दर न तो कोई राग है, न विराग है न आसक्ति है और न ही विरक्ति यहां तक कि उसके लिए न तो ये संसार है और न ही मोक्ष, चित्त की ऐसी शून्य एवं जगी हुई अवस्था का नाम ही मोक्ष (मुक्ति) है। इस स्थिति पर पहुंचने वाला व्यक्ति शुद्ध (स्वच्छ)

चेतन आत्मा मात्र रह जाता है। समाधि की स्थिति में व्यक्ति जब शून्य की स्थिति में पहुंच जाता है तो उसे ब्रह्म आत्मा का ज्ञान होता है। वह व्यक्ति मात्र न होकर एक सम्पूर्ण संसार की रचना करने वाला हो जाता है। वह सम्पूर्ण पर शासन करने वाले ब्रह्म को समझ लेता है और ब्रह्म को जान लेने से वह अपने आप में ब्रह्म हो जाता है। वह वास्तविकता को जानकर स्वयं वास्तविक हो जाता है। इस अवस्था में पहुंचने से पहले अनेक क्रियाएं करनी पड़ती हैं लेकिन वहां पहुंचने के बाद उन सभी को त्यागना भी पड़ता है नहीं तो वे क्रियाएं ही व्यक्ति का बन्धन बन जाती हैं। नदी पार करने पर किनारे पर पहुंचकर नाव को छोड़ देना भी आवश्यक है। अगर व्यक्ति ऐसा नहीं करता है तो वह उसकी मूर्खता होती है। उस स्थिति पर पहुंचने के बाद ग्रन्थ, कार्य-विधि, नियम, ध्यान, धारणा, समाधि आदि को त्यागना आवश्यक हो जाता है क्योंकि इनकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है। इनकी आवश्यकता ज्ञान-प्राप्त करने तक ही थी, अब सब बेकार हो गई। मंदिर, पूजा, उपासना आदि सब कार्य बेकार हो गए। जीवन में इन सबकी आवश्यकता है मोक्ष (मुक्ति) में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। ये संसार जागने के लिए बनाया गया है कि यहां सुख-दुःख आदि सब संघर्षों का अनुभव करके तुम जागो। अष्टावक्र जनक की स्वतन्त्र अवस्था की स्थिति को जानने के लिए जो ज्ञान का उपदेश देते हैं, जनक उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—मैं शरीर नहीं आत्मा हूं, जिस प्रकार से इस आकाश का कोई अन्त नहीं है, उसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। उसी प्रकार से मैं आत्म रूप होने के कारण इस आकाश के समान ही अनन्त हूं। यह जगत् उसी आत्मा का साकार रूप है। उसी का स्थूल रूप है जो घर की भांति है, जब यह सारा संसार एक ही आत्म तत्त्व है तो फिर इसका त्याग करना, स्वीकार करना और लीप्त हो जाना कैसे व किसमें है। त्याग, स्वीकार व लय में दो का होना जरूरी है, तब तो प्राणी एक का त्याग करके दूसरे को स्वीकार कर सकता है। जब मैंने देख लिया कि आत्मा एक ही है व

वही वास्तविक है तो किस-किसका किसमें समागम हो या किसका त्याग किया जाए और क्या स्वीकार किया जाए।

## सूत्र-2

महोदधिरिवहं स प्रपञ्चो वीचिसन्निभः ।

इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥

शब्दार्थ—महोदधिः—महान (विस्तृत) समुद्र की, इव—तरह, अहम्—मैं, सः—वह, प्रपञ्चः—संसार, वीचिसन्निभः—तरंगों की तरह है, इति—यही, ज्ञानम्—ज्ञान है, तथा—इस प्रकार, एतस्य—इस संसार का, न त्यागो—न त्याग, न ग्रहो—न ही ग्रहण है, लयः—लय है।

प्रसंग—मैं समुद्र के समान हूँ, यह संसार तरंगों के समान है, ऐसा ज्ञान है। इसलिए न इसका त्याग है, न ग्रहण है और न इसका लय है।

व्याख्या—जनक दूसरा उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मैं आत्म रूप होने से सागर के समान हूँ और यह संसार मेरी ही लहरों के समान है। ऐसा ज्ञान मुझे हो चुका है। विविधताएं जो अज्ञान और सदेह के कारण प्रतीत हो रही थीं वे सब समाप्त हो चुकी हैं, इस कारण न तो इन्हें छोड़ना है और न ही स्वीकार करना है और न ही इनमें विलीन हो जाना है। पहले उदाहरण में आकाश व घर में विविधता का आभास होता है कि घर व आकाश अलग-अलग हैं। इसलिए जनक इस उदाहरण में सागर और तरंग के द्वारा अध्यात्म की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आत्मा एक ही है, यह न तो मरती है और न ही उत्पन्न होती है। इस कारण से न तो इसका त्याग हो सकता है और न ही स्वीकार किया जा सकता है, न इसका किसी में विलीन ही होता है।

### सूत्र-3

अहं स शुक्ति सङ्काशो रूप्यवद्विश्व कल्पना ।

इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥

शब्दार्थ—अहम्—मैं, सः—वह, शुक्तिसंकाश—सीप की तरह हूं, रूप्यवत्—चांदी की तरह, विश्व कल्पना—संसार कल्पना मात्र है, इति ज्ञानम्—यही ज्ञान है, तथा—इसलिए, एतस्य न त्यागो, न ग्रहो लयः—इसका न त्याग है, न ग्रहण और न ही लय ।

प्रसंग—मैं सीपी के समान हूं, विश्व की कल्पना चांदी के समान है । ऐसा ज्ञान है । अतएव इसका न त्याग है, न ग्रहण है, न लय है ।

व्याख्या—इससे पहले सूत्र में सागर उसकी लहरों में थोड़ी विविधता दिखाई देती है, अतः जनक यहां पर एक ओर उदाहरण देकर इसकी विवेचना कर रहे हैं । वे कहते हैं, यह संसार सागर व लहरों के समान भी नहीं है क्योंकि तरंगों का सागर में विलीन हो जाना संभव है । लेकिन मैं (आत्मा) सीपी की भांति वास्तविक हूं । और इस संसार की कल्पना उस सीपी में चांदी के सन्देह के समान है, अतः सन्देह रूप होने से न इसे त्यागा जा सकता है, न स्वीकार किया जा सकता है और न ही समागम किया जा सकता है । ऐसा आत्मा का ज्ञान है ।

### सूत्र-4

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि ।

इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥

शब्दार्थ—अहम्—मैं, वा—निश्चय रूप से, सर्वभूतेषु—समस्त चराचर प्राणियों में (हूं), सर्वभूतानि—सभी प्राणी, अथो—और, मयि—मुझमें (हैं), इतिज्ञानम्—यही ज्ञान है, तथा एतस्य न त्यागो, न ग्रहो लयः—इसलिए इसका न त्याग है, न ग्रहण है और न ही लय है ।

**प्रसंग**— मैं सर्व भूतों में हूँ और सब मुझमें स्थित है। यही निश्चित और सत्य है। यही ज्ञान है अर्थात् वास्तविकता की जानकारी है। इसलिए इसका न त्याग है, न ग्रहण है और न ही लय है।

**व्याख्या**— ऊपर के तीनों दृष्टान्तों में अध्यात्म की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं हो पाई, इनमें भी थोड़ा-थोड़ा सन्देह रह गया है, अतः जनक इस दृष्टान्त के द्वारा और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मैं आत्म रूप होने से सभी भूत-पदार्थों में स्थित हूँ और ये सभी भूत पदार्थ मुझमें स्थित हैं। आत्मा एवं संसार की अभिन्न स्थिति है। ये सारे भूत-पदार्थों के समुदाय शरीर से अलग-अलग होते हुए भी सभी मेरे ही रूप हैं। सुन्दरता और असुन्दरता, छोटे और बड़े का, बिना आकार वाले और आकार वाले का तत्त्व के आधार पर समानता पाई जाती है, भाप भी जल ही है जल भी भाप ही है। केवल आकार परिवर्तित हो जाने से तत्त्व में परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा और संसार दोनों एक ही तत्त्व हैं, इसलिए न तो इन्हें छोड़ा जा सकता है और न ही स्वीकार किया जा सकता है और न ही इसका समागम किया जा सकता है।

□□



## सातवां अध्याय

### सूत्र-1

( जनक उवाच )

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।

भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्यसहिष्णुता ॥

शब्दार्थ—मयि—मुझमें, अनन्त महाम्भोधौ—असीमित समुद्र में, विश्वपोतः—संसार रूपी नौका, इतस्ततः—इधर-उधर, भ्रमति—चक्कर खाती है, स्वान्तवातेन—अन्तःकरण में मनरूपी वायु से, न—नहीं, मम—मेरी, अस्ति—है, असहिष्णुता—असहनशीलता ।

प्रसंग—मुझ अन्तहीन महासमुद्र में विश्व रूपी नाव अपनी ही प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती है । मुझे असहिष्णुता नहीं है ।

व्याख्या—यहां पर जनक अपने आपको महासागर बताते हैं श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान ने आत्मा को सागर का नाम दिया है, जिसकी छोटी-बड़ी नदियों रूपी इच्छाएं सागर समान आत्मा के अन्दर प्रवेश कर जाती हैं ऐसे व्यक्ति को ही परम सुख की प्राप्ति होती है । इच्छाओं से लिस व्यक्ति कभी उस सुख को प्राप्त नहीं कर सकता । राजा जनक ने इस समुद्र के दो गुण बताए हैं, पहला तो यह है कि ये श्रेष्ठ हैं और दूसरे अनंत हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है । मेरे लिए सभी अपने हैं कैसे ? क्योंकि सब मुझसे ही उत्साहित होते हैं और मेरे में ही अनेक क्रियाएं करते हैं ।

और अनन्त ? जिसका कोई अन्त नहीं है तो उसका आरम्भ ही क्या होगा। इस कारण से मैं आरम्भ और अन्त से भी आगे हूँ। यह संसार एक नाव के समान है। इस संसार रूपी नाव को बनाया गया है, इसकी स्थिति है और समय पूर्ण हो जाने पर यह नाव भी समाप्त हो जाएगी। जनक बताते हैं कि यह नाव घूम रही है बिना किसी उद्देश्य के। यह नाव भटक रही है। जिस दिशा की ओर वायु चलती है ये नाव भी उसी ओर जाने लगती है, लेकिन इस नाव के भटकने से मेरे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, ये चले, न चले, मन्द गति से चले या तीव्र गति से चले मुझे कोई आपत्ति नहीं। मुझे इसके इन व्यवहारों से किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं पहुंचता। इसका होना, न होना मेरे लिए एक समान है।

## सूत्र-2

मय्यनन्त महाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः।

उदेतु वास्त मायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः॥

शब्दार्थ—मयि—मुझमें, अनन्तमहाम्भोधौ—अनन्त सागर में, जगद्वीचिः—संसार रूपी तरंगों, स्वभावतः—सत्यरूप से, उदेतु—उदय हो (या फिर), अस्तम्—अस्तु, आयातु—हों, न—नहीं, मे—मेरी, वृद्धिः—वृद्धि, न—नहीं, च—और, क्षतिः—हानि।

प्रसंग—मुझ महान सागर में यह जगत् कल्पना मात्र है। मैं सभी क्षोभों से परे शान्त हूँ। मेरा कोई आकार-प्रकार नहीं, इसलिए मैं इस जगत् का आश्रय रूप हूँ, ऐसा होकर ही स्थित हूँ।

व्याख्या—जनक बताते हैं कि महासागर में जैसे लहरें उठती हैं और शान्त हो जाती हैं तो उनसे सागर की सीमा में किसी प्रकार की न तो बढ़ोतरी होती है और न ही अभाव होता है। इसी प्रकार मन रूपी वायु से आत्मा में जो वासनाओं, इच्छाओं आदि की लहरें उठती हैं या शान्त हो जाती हैं मेरे आत्मरूप होने में न तो वृद्धि होती है और न ही अभाव। ये समस्त हानि और फैलाव तो स्वार्थ के कारण हैं। स्वार्थ

सम्मान मांगता है। सम्मान के न प्राप्त होने पर अपने को तुच्छ मानने लगता है और सम्मान प्राप्त हो जाने पर वह स्वयं को बड़ा मानने लगता है, गुब्बारे की भांति फूल और पिचक जाता है। सांसारिक व्यक्ति तो सम्मान मांगते ही हैं और साधु-संन्यासी भी इसी की इच्छा करते हैं। वे भी सम्मान और प्रतिष्ठा के बैंड बाजे के साथ जय-जयकार करवाते हैं। शोभा यात्रा निकलवाते हैं। ऊंचे सिंहासन पर ही बैठते हैं, यह सारा नाटक वो महान (श्रेष्ठ) बनने के लिए करते हैं। वे स्वाभार्षिक नहीं हैं, जो इन स्वार्थ की लहरों से प्रभावित हैं। जनक बताते हैं कि मैं इन सबसे अप्रभावित हूँ अतः मेरा न कोई विस्तार है और न ही अभाव है। मैं तो समान हूँ।

### सूत्र-3

मय्यनन्त महाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना।

अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः ॥

शब्दार्थ—मयि—मुझमें, अनन्तमहाम्भोधौ—अनन्त सागर में, विश्वं—यह संसार, नामविकल्पना—नाममात्र की कल्पना है, अतिशान्तः—सभी प्रकार के क्षोभों से परे, निराकारः—जिसका कोई आकार नहीं, सतत—ऐसा, स्व—ही, अहम्—मैं, अस्थितः—आश्रय रूप हूँ।

प्रसंग—मुझ महान सागर में यह जगत् कल्पनामात्र है। मैं सभी क्षोभों से परे शान्त हूँ। मेरा कोई आकार-प्रकार नहीं है, इसीलिए मैं इस जगत् का आश्रय रूप हूँ, ऐसा होकर ही स्थित हूँ।

व्याख्या—जनक बताते हैं कि मैं आत्मज्ञान रूपी जिसका कोई अन्त नहीं है ऐसा महासागर हूँ जिसमें यह जगत् मात्र एक कल्पना है। इसका कोई अस्तित्व नहीं है तो यह मुझे किस प्रकार प्रभावित कर सकता है। पहले मैं इस संसार को वास्तविक जानता था इसलिए ही इसका मेरे ऊपर प्रभाव पड़ता था, यह मुझे दुःखी करता था। अब मैं स्वयं को बिना आकार वाला जानकर बहुत ही सुखी हूँ। अब मेरे में



किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं है। ये सारे कष्ट मन (चित्त) के कारण थे। आत्मज्ञान हो जाने के बाद मेरे अन्दर किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं हो रहा है।

#### सूत्र-4

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरञ्जने।

इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः ॥

शब्दार्थ—नात्मा—नहीं है, आत्मा, भावेषु—देहाभिमान रूपी भावों में, नः—नहीं, भावः—ये भाव, तत्र—उस, अनन्ते—समस्त सीमाओं से परे अनन्त में, निरञ्जने—दोषरहित में, इति—ऐसा, असक्त—संग रहित, अस्पृहः—सभी इच्छाओं से मुक्त, शान्तः—जिसमें कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं है, (ऐसे), एतद्—इस आत्मा में, एव—ही, अहम्—मैं, अस्थितः—आश्रित हूँ।

प्रसंग—देहाभिमान रूप भावों में आत्मा नहीं है, उस अनन्त, निरञ्जन में ये भाव है। असक्त, इच्छाओं से परे, शांत उसी आत्मा के आश्रित हूँ मैं।

व्याख्या—राजा जनक बताते हैं कि शरीर के साथ इन्द्रियां (नाक, कान, आंख आदि) और मन (हृदय) है। यह चित्त हमेशा सांसारिक पदार्थों की ओर प्रेरित होता है और इन्द्रियों के सहयोग से उनका उपभोग करके संतुष्ट होता है। शरीर के समाप्त हो जाने पर इन्द्रियां भी समाप्त हो जाती हैं लेकिन चित्त (मन) छोटे से शरीर के साथ उसकी सांसारिक विषय-वासनाओं के लिए इच्छा बनी रहती है इसी वासना (भोग की इच्छा) के कारण व्यक्ति को नया शरीर प्राप्त होता है। अतः इस जगत् के समस्त विषयों का नाता केवल शरीर और मन तक ही है। ये ही करने वाला (कर्ता) और भोग करने वाला (भोक्ता) है। ये ही सांसारिक पदार्थों का उपभोग करते हैं, मैं इनसे अलग आत्म स्वरूप हूँ जो कि न तो करने वाली है और न ही भोगने वाली है, इसलिए इस आत्मा का सांसारिक पदार्थों से कोई रिश्ता नहीं है। न तो आत्मा

विषयों में है और न ये विषय उस अनन्त, विकार रहित आत्मा में हैं। इसलिए मैं आत्मज्ञानी होने से सदैव इन सांसारिक विषयों से अलग हूँ इन सांसारिक पदार्थों के प्रति स्नेह केवल शरीर और मन के हैं, इस कारण मैं सभी इच्छाओं से मुक्त हूँ। मेरी विषयों में किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। मैं ऐसी अवस्था में स्थित हूँ।

### सूत्र-5

अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत्।

अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥

शब्दार्थ—अहो—आश्चर्य है, चिन्मात्रम्—चैतन्य मात्र हूँ, एव—ही, अहम्—मैं, इन्द्रजालोपम्—जादू की तरह, जगत्—यह संसार, अतः—इसलिए, मम—मेरा, कथम्—कैसे, कुत्र—कहां, हेयोपादेय कल्पनाः—उपयोगी और अनुपयोगी, सार्थकता और निरर्थकता की कल्पना।

प्रसंग—आश्चर्य है! मैं चैतन्यमात्र हूँ और यह जगत् जादुई खेल की तरह है, इसलिए इसमें कैसे उपयोगी या अनुपयोगी होने की कल्पना। कल्पना में तो दोनों नहीं बनते अर्थात् दोनों ही निरर्थक हैं।

व्याख्या—राजा जनक बताते हैं कि मैं आत्म-स्वरूप हूँ तथा आत्मा के लिए यह सारा जगत् इन्द्र जाल के समान, माया और भ्रमित दिखाई देता है। यह माया जाल चित्त और इन्द्रियों को ही प्रभावित करता है जो कि ज्ञान रहित हैं। जो प्राणी आत्मज्ञान को जान चुके हैं उन पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता, वह इस सारे नाटक को खेल के समान देखती है। जब तक प्राणी ज्ञान रहित था तब तक मैं इसको इन्द्रजाल को वास्तविक मानता था, जिसके कारण सुख-दुःख, अच्छा-बुरा, लाभ-हानि, शुभ-अशुभ आदि के बारे में विचार करता था। लेकिन अब मुझे आत्मज्ञान हो चुका है, जिसके कारण मैं अपने आपको इन सबसे आगे आत्म-स्वरूप मानता हूँ इसलिए यह जगत् मुझे इन्द्रजाल से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं लग रहा है। अब मेरे पर



इसका कोई प्रभाव नहीं हो रहा है। अब मैं इसमें उपयोगी एवं अनुपयोगी का विचार भी नहीं कर रहा हूँ। अब सारी विचारधाराएं बेकार हो चुकी हैं। जब सब कुछ प्राप्त कर लिया तो अब प्राप्त करने के लिए और क्या शेष बचा। इस जगत् में अब और कुछ न तो पाने के लिए है और न ही छोड़ने के लिए है। उपयोगी और अनुपयोगी, अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ आदि समस्त विचारों के पीछे भोगों की प्राप्ति ही थी। जब कामना नहीं रही तो ये विकार अपने आप ही समाप्त हो गए। मैं स्वभाव या उस परमात्मा की इच्छा से जो कुछ हो रहा है उससे प्रसन्न हूँ, किसी प्रकार की कोई चिन्ता नहीं है। मैं दोनों का साक्षी होकर चेतना में स्थित हूँ।

□□

## आठवां अध्याय

सूत्र-1

( अष्टावक्र उवाच )

तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति ।

किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति किञ्चिद्दृष्यति कुप्यति ॥

शब्दार्थ—तदा—तभी, बन्धः—बन्धन है, यदा—जब, चित्तम्—चित्त, किञ्चित्—कुछ, वाञ्छति—चाहता है, शोचति—शोक करता है, किञ्चित्—कुछ, मुञ्चति—छोड़ता है, गृह्णाति—पकड़ता है, किञ्चित्—कुछ (पर), दृष्यति—प्रसन्न होता है, कुप्यति—क्रोधित होता है ।

प्रसंग—इस प्रकरण में अष्टावक्र मुक्ति और बन्धन की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि—तब बन्धन जानो, जब चित्त कुछ चाहता हो, शोक करता हो । जब वह कुछ छोड़ता हो, पकड़ता हो, कुछ पाने पर प्रसन्न होता हो, कुछ न मिलने पर क्रोधित होता हो ।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि जब तक किसी बीमारी के लक्षणों का पता न चले तब तक यह कैसे ज्ञात हो कि स्वास्थ्य क्या है । बीमारी के कारणों का न होना ही तो स्वस्थता है । बन्धन के कारण न हो तो वही मोक्ष (मुक्ति) है । मोक्ष में कुछ नहीं होता, वह तो एक अवस्था है । जो गुण यहां पर बताए गए हैं वो एक निश्चित प्रक्रिया हैं, इस प्रक्रिया का सभी ने अपने-अपने ढंग से विश्लेषण किया है, बौद्ध धर्म को मानने वाले दर्शनों में जो कि ईश्वर के शासन को नहीं मानते, इसका सम्पूर्ण विवेचना है । वर्तमान मनोवैज्ञानिक भी इसी की चर्चा

करते हैं कि प्राणी जो चाहता है, उसे प्राप्त करने के साधनों को खोजता है। कुछ को त्याग देता है और कुछ को स्वीकार कर लेता है, जिसे स्वीकार कर लेता है, उसे प्राप्त करने पर प्रसन्न होता है, और उसके प्राप्त न होने पर क्रोधित होता है। यह सारी प्रक्रिया ही बन्धन है। श्रीमद् भगवद् गीता में श्रीकृष्ण ने भी एक ऐसी ही प्रक्रिया का वर्णन किया। बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है ये प्रक्रिया, प्राणी की समस्त क्रियाओं को, नष्ट होने की समूची प्रक्रिया को समेट लिया, विषयों को बार-बार सोचने से उनकी संगति प्राप्त हो जाती है। संगति से इच्छा का जन्म होता है। इच्छा को सफल करने के लिए प्राणी प्रयत्न करता है। प्रयत्न करने से उस वस्तु की प्राप्ति होती है। फिर व्यक्ति और इच्छाएं करता है और उसमें लालच की प्रवृत्ति बढ़ती चली जाती है। जब प्रयत्न सफल नहीं होता है तो प्राणी दुःखी होता है और यदि प्रयत्न करने में किसी प्रकार की कोई रुकावट आए तो प्राणी को क्रोध आता है। प्रयत्न के-ये तीन परिणाम हैं—लालच, दुःख, क्रोध। ये तीनों ही प्राणी को भ्रमित करने वाले हैं, तीनों से बुद्धि में अज्ञान आता है। सत्य, असत्य के संस्कार सब भ्रमित हो जाते हैं। निश्चित करने में दिक्कत आती है। सांसारिक भोगों को प्राप्त करने की प्रक्रिया इतनी दृढ़ होती है कि विपरीत प्रतिक्रिया को बुद्धि स्वीकार ही नहीं करती और इसका फल होता है—विनाश। चित्त की चंचलता को स्वीकार करके भोगों को प्राप्त करना और ये मानना कि वास्तविक ये ही हैं। ये ही बन्धन हैं, इन सब लक्षणों का एक ही शब्द बताया जाए तो वो मन है। ये सारे कार्य मन (चित्त) के ही हैं। इस प्रकार 'मन' का होना ही प्राणी का सबसे परम बन्धन है।

## सूत्र-2

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति।

न मुञ्चतिगृह्णाति न हृश्यति न कुप्यति॥

शब्दार्थ—तदा—तब, मुक्तिः—मुक्त स्थिति है, यदा—जब,

चित्तम्—चित्त, न वाञ्छति—नहीं चाहता, न शोचति—चिंतित नहीं होता, न मुञ्चति—न छोड़ता है, न गृह्णाति—कुछ ग्रहण नहीं करता, न हृष्यति—प्रसन्न नहीं होता, न—नहीं, कुप्यति—क्रोधित, कुपित होता है।

**प्रसंग**—मुक्ति का अर्थ है, जब चित्त कुछ न मांगे, किसी की चिंता न करे, न कुछ पकड़े, न ही कुछ छोड़े, न प्रसन्न हो, न क्रोधित हो।

**व्याख्या**—इस सूत्र के माध्यम से अष्टावक्र बताते हैं कि जो बन्धन के कारण ही मुक्ति (मोक्ष) है, अर्थात् जब प्राणी का मन (चित्त) न तो कुछ चाहता है न विचार करता है, न छोड़ता है, न स्वीकार करता है, न ही दुःखी होता है और न ही सुखी (प्रसन्न) होता है, तब प्राणी की यह अवस्था मोक्ष की अवस्था है। मन की शान्त स्थिति ही मोक्ष है। यह मन (चित्त) बुद्धि (मति) अहंकार (घमंड) और देह भी चित्त से अलग नहीं है। बल्कि मन की ही अवस्थाएं हैं। मन भोगों एवं कामनाओं का केन्द्र है, उसके अन्दर 'मैं' का विकास होना, अपने को आत्मा से अलग जानना ही स्वार्थ है। कामना की पूर्ति करने हेतु जब वह सोचता है तो उसे चित्त कहते हैं। जब वह सही गलत में अन्तर करता है, निर्णय लेता है तो 'बुद्धि' कहा जाता है, जब वह कार्य करने को तत्पर होता है तो 'शरीर' कहा जाता है। शरीर का विकास भी मन की कामनाओं के कारण और उसके अनुरूप ही हुआ है। यह जगत् और मुक्ति किसी स्थान विशेष में नहीं है। शरीर से अलग जो भौतिक विशाल संसार दिखाई देता है, ये पर्वत, पठार, मैदान, नदियां, झरने, सागर आदि दिखाई पड़ते हैं, वह यह जगत् नहीं बल्कि मनुष्य के अन्दर एक और जगत् है जो कि बहुत छोटा है दिखाई नहीं पड़ता। व्यक्ति के अन्दर एक और संसार है जो दिखाई नहीं देता बल्कि इसी के कारण यह बाहरी संसार दिखायी देता है जो कि दुःखी प्राणी को दुखी और सुखी को सुख वाला दिखाई देता है। बाहरी संसार में जो कुछ एवं जैसा कुछ दिखाई देता है, उसी प्रकार

बाहरी संसार भी निरपेक्ष है। व्यक्ति अपनी मनोकामनाओं के आधार पर इस संसार का वर्णन करते हैं। यही सन्देह है, इसी कारण से इस जगत् को अध्यात्म में माया कहा है। यह माया व्यक्ति की मनोकामनाएं हैं न कि बाहरी संसार की। अद्वैत रस अन्दर के माया-संसार की बात करता है। इसी प्रकार मुक्ति भी कोई भौगोलिक स्थान नहीं है कि इस सांसारिक संसार से भरकर किसी सिद्ध स्थान में जाकर बैठ गए और मन की शान्त हो जाने की स्थिति है, जिसमें न तो कोई भोग है, न कामना, न विचार और न ही कोई कार्य है। यही चेतनता की शुद्ध स्थिति है। यही आत्मा का स्वरूप है। यही निज स्वभाव है, इसे प्राप्त कर लेना या जान लेना ही मोक्ष है। और कोई अवस्था नहीं है, चेतनता की उठी तरंगों ही जगत् है और उनका शांत हो जाना ही मुक्ति है। मोक्ष की इच्छा करना, मुक्ति की इच्छा में जगत् को त्याग देना, वास्तविक और आनन्द की खोज में त्याग करना भी मुक्ति का रास्ता नहीं है बल्कि वह भी भोग और इच्छा की तरंगों हैं। जगत् की इच्छा हो या मुक्ति की ये तरंगों ही हैं। पदार्थ परिवर्तित करने से तरंगों में कोई अन्तर नहीं होता। इच्छा चाहे अपनाने की हो, भोगने की हो, या छोड़ने की इच्छा ही कहलाएगी। इसलिए दोनों ही मुक्ति की अवस्था नहीं हैं। अष्टावक्र कहते हैं कि संसार (जगत) मन के चाहने की अवस्था है, जबकि किसी प्रकार की कोई चाह न होने की स्थिति ही मोक्ष है।

### सूत्र-3

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु।

तदा मोक्षो यदा चित्तमासक्तं सर्वदृष्टिषु॥

शब्दार्थ—तदा—तब, बन्धः—बन्धन, यदा—जब, चित्तम्—चित्त, सक्तम्—आसक्त, कास्वपि—किसी भी, दृष्टिषु—विषय में, तदा—तब, मोक्षः—मुक्ति, यदा—जब, चित्तम्—चित्त, आसक्तम्—अनासक्त, सर्वदृष्टिषु—सभी विषयों में।

प्रसंग—जब चित्त किसी दृष्टि या विषय में लगा है तो बन्धन है



और जब चित्त सभी दृष्टियों से अलग है तब मोक्ष है ।

**व्याख्या**— बिना किसी इच्छा के प्राणी का जीवित रहना असंभव है ? इच्छाएं पूरी तरह समाप्त हो जाएं ऐसा क्या संभव है ? अष्टावक्र इस बात को दूसरे ढंग से बताते हैं वे कहते हैं कि मान लो कि तुम बिना इच्छा के नहीं रह सकते, परन्तु किसी भोग में इतने भी लिप्त न हो कि तुम और कुछ सोच भी न पाओ। जैसे ही तुम किसी सांसारिक भोग में लिप्त होगे तो ये तुम्हें बन्धनों में बांध लेगा। इसी प्रकार की लिप्तता ही बन्धन कहलाता है। और इसकी विपरीत स्थिति मोक्ष है, जिसमें किसी प्रकार का कोई बन्धन न हो। इसी लिप्तता को यदि शंकराचार्य ने अनुराग बताया है। वो कहते हैं कि सांसारिक भोगों में लिप्त हो जाना ही बन्धन है। और उनसे स्वतन्त्र रहना ही मुक्ति है। (बद्धो हि को यो विषयानुरागी, का वा विमुक्ति विषये विरक्तिः) जो व्यक्ति सांसारिक भोगों में लिप्त रहता है वही बन्धनों में बंधा हुआ है और जो किसी प्रकार के सांसारिक भोगों में आसक्त नहीं है वह भी मुक्त है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि—चित्त ही मनुष्य (प्राणी) के बन्धन का मूल कारण है और यही मोक्ष का भी है। चित्त इन्द्रियों का स्वामी है इन्द्रियों के कारण ही प्राणी बंधनों में उलझा रहता है। इसलिए ये मन (चित्त) ही बन्धनों का मूल कारण है।

#### सूत्र-4

यद नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा ।

मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्च मा ॥

शब्दार्थ—यदा—जब, न—नहीं, अहम्—मैं, तदा—तब, मोक्षो—मुक्ति, यदा—जब, अहम्—मैं, बन्धनम्—बन्धन, तदा—तब, मत्वा—मान करके, इति—ऐसा, हेलया—इच्छा से, किञ्चिन्—कुछ भी, मा—नहीं, गृहाण—ग्रहण करो, विमुञ्च—छोड़ो, मा—नहीं।

प्रसंग—जब तक (मैं) है तब तक बन्धन है और जब 'मैं' नहीं

है तब मोक्ष है। इस प्रकार का विचार कर, न इच्छा कर, न ग्रहण कर, न त्याग कर।

**व्याख्या**—यहां पर अष्टावक्र ने 'मैं' को अभिमान बताया है, इस अहंकार के कारण ही करने और छोड़ने की सार्थकता है। देह का अर्थ है शरीर और शरीर में, बड़ा, छोटा और कारण ये तीनों ही आ जाते हैं, कमी या पूर्णता का ज्ञान करना इसी शरीर के गुण हैं। इन कमियों को पूर्ण करने के लिए सांसारिक पदार्थों को स्वीकार किया जाता है जो पदार्थ भोगों को पूरा नहीं करते, वे बेकार (व्यर्थों) की सूची में आ जाते हैं। बेकार पदार्थ भी कभी अच्छा सिद्ध हो सकता है। ऐसे ही व्यर्थ पदार्थों को प्राणी अयोग्य मानता है, जिनका उपयोग कर लिया है और अब उनकी उपयोगिता समाप्त हो गई है उन पदार्थों को प्राणी त्याग देता है। इस प्रकार त्याग को तीन दृष्टिकोणों (नजरिए) से देखा जाता है, उपभोग करने की योग्यता नहीं तो त्याग कर दिया कि 'नाच न जाने आंगन टेढ़ा' और उपयोग कर लिया तो अब दूसरे पदार्थ को उपयोग करने के लिए उसको छोड़ दिया। और तीसरे वह उपयोग करने योग्य नहीं रहा, इसलिए उसका त्याग कर दिया। यह त्याग का अहंकार होता है, इसमें कुछ भी किसी प्रकार से नहीं छोड़ा जाता, बल्कि छीन लिया जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं कि ये समस्त छोड़ना-पकड़ना के कार्य तब तक ही हैं जब तक शरीर का अहंकार बना हुआ है। मोक्ष और बन्धन भी इसी अर्थ में शरीर के अहंकार तक ही बने हुए हैं। जब यह शरीर का अहंकार समाप्त हो जाता है, ज्ञात हो जाता है कि मैं शरीर नहीं हूँ बल्कि आत्मा हूँ तो मुक्ति इसके आस-पास विचरने लगती है। अष्टावक्र इस सूत्र के माध्यम से इस तथ्य का संकेत करते हैं, यह शरीर बुद्धि ज्ञान के साधनों के द्वारा समाप्त होने वाली है, ऐसा मान लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। और साधनों के द्वारा केवल यह ज्ञात होता है।



## नवां अध्याय

### सूत्र-1

( अष्टावक्र-उवाच )

कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा ।

एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽकृती ॥

शब्दार्थ—कृताकृते—क्या करें, क्या न करें, च—और, द्वन्द्वानि—द्वन्द्व, कदा—कब, शान्तानि—शान्त, कस्य—किसके, वा—निश्चयपूर्वक, एवम्—इस प्रकार, ज्ञात्वा—जानकर, इह—इस लोक में, अभी निर्वेदात्—वैराग्य से, भव—हो, त्यागपरः—त्याग से युक्त हो, अकृती—कृत, अकृत—कर्मों को करने में अनासक्त हो ।

प्रसंग—क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, ये द्वन्द्व किसके और कब समाप्त हुए हैं, इसीलिए वैराग्यपूर्ण वृत्ति से युक्त हो त्याग सम्पन्न होते हुए इन दोनों से परे होओ, इनमें बंधो नहीं ।

व्याख्या—इससे पहले प्रकरण में अष्टावक्र बन्धन व मुक्ति का वर्णन करते हुए इस प्रकरण में वे शान्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस जगत् के प्रति उदासीन होकर या उनका परित्याग करके अपने स्वभाव (आत्मा) के ज्ञान को प्राप्त हो जाने से ही शान्ति मिल सकती है। वो बताते हैं कि हम जो कार्य कर चुके हैं वे भोग एवं अभिमान से किए गए हैं, इसलिए उनका परिणाम तो भोगना ही पड़ेगा। उनसे बचने का कोई उपाय नहीं है। ये उपयोग किए बिना शान्त नहीं हो सकते। इसलिए ये तो बन्धन ही है, लेकिन जो कार्य



अभी तक नहीं किए गए हैं वे भी बन्धन हैं, क्योंकि इनको करने का कारण भी वासना ही है। कल्पना अन्दर स्थित है। व्यक्ति कार्यों से अधिक अशान्त नहीं है, वह सोचने से, भोगों से अधिक दुःखी है। कार्यों की अपेक्षा विचार का महत्त्व अधिक है, क्योंकि वे ही कार्य के मूल आधार हैं। विचारों की लहरें उठते ही अन्दर गन्दगी प्रवेश कर जाती है। ये ही पाप हो जाते हैं और व्यक्ति इनके बन्धनों से उलझकर उपद्रवी हो जाता है। बुरे कार्य या निन्दित कार्य ही पाप नहीं हैं बल्कि उनका विचार करना ही पाप है। क्योंकि इन कल्पनाओं के कारण ही व्यक्ति पापी हो जाता है। इसी से व्यक्ति को सुख-दुःख, हानि-लाभ का अनुभव होता है। ये विश्व संघर्षात्मक है। ये दुःख-सुख, हानि-लाभ, प्रेम-नफरत, अहिंसा-हिंसा स्वीकार, त्याग, राग-विराग, जीवन-मृत्यु आदि संघर्षों पर ही चलता है, संसार का वेग ही संघर्ष है। ये संघर्ष एक सिक्के के दो रूप हैं जिनमें एक को स्वीकारना तो दूसरे को त्याग नहीं किया जा सकता था तो ये दोनों ही उपस्थित रहते हैं या फिर दोनों ही अनुपस्थित रहते हैं। अष्टावक्र बताते हैं कि किए हुए कार्य या न किए हुए कार्य तथा संघर्ष किसी के शान्त नहीं हो सकते, ऐसा सुनिश्चित मानकर इस विश्व के प्रति उदासीन होकर त्याग करना और अवृत्ति होना ही शक्ति उपलब्ध करने की विधि है, व्रत करके, कसम खाने से इनको त्यागने के प्रयास से प्राणी और दुःखी होता है, जो है उसका उपयोग करने में तो दुःख है ही लेकिन उनको त्यागने का निश्चय कर लेने से प्राणी और अधिक दुःखी होता है। इन दोनों तरह की अशान्ति को नष्ट करने के लिए एक ही तरीका है कि जो स्वाभाविक रूप से हो रहा है, उसको प्राणी स्वीकार करके बिना तिरस्कार किए जीवन को जिए।

## सूत्र-2

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात् ।  
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गता ॥

**शब्दार्थ—कस्य—**किसी का, **अपि—**भी, **तात—**हे प्रिय, **धन्यस्य—**धन्य हुए (महात्मा पुरुष की), **लोकचेष्टावलोकनात्—**लोकों की चेष्टा को देखने से, **जीवितेच्छा—**जीने की इच्छा, **बुभुक्षा—**विषयों को भोगने की इच्छा, **च—**और, **बुभुत्सा—**ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा, **उपशमम्—**शान्त, **गता—**हुई।

**प्रसंग—**संसार के जन्मने-मरने और नष्ट होने के इस स्वरूप को देखकर हे प्रिय, किसी ही महान पुरुष की जीने की, विषयों को भोगने की और उनको जानने की इच्छा शान्त हुई है।

**व्याख्या—**आत्मा दोष रहित है, ज्ञान भय है, जन्म और मृत्यु से रहित है, शांत है, आनन्द देने वाली है, लेकिन लोकों का देखना इससे अलग है। लोक का निर्माणकारी हैं और इसका विनाश भी होता है। वह संघर्षात्मक है। इसमें भोग है इच्छा है, यह अनित्य है, दोषपूर्ण है। अज्ञान कराने वाला है। शान्ति रहित है, दुःख देने वाला है। लेकिन उस परम सुख को देने वाली आत्मा का ज्ञान न होने के कारण ही व्यक्ति की इस संसार में जीने की इच्छा भोग करने की कामना और इस सांसारिक ज्ञान को पाने की इच्छा कभी भी शान्त नहीं होती है। प्राणी इस मृत्युलोक में अधिक से अधिक प्राप्त करने उसको उपयोग करने की इच्छा में लीन रहता है, वह संसार में सभी सुखों को स्वीकार करता है, लेकिन जिस प्राणी ने आत्म रस का स्वाद ले लिया उसकी सारी इच्छाएं भोग-वासनाएं जीवित रहने की इच्छा इसका ज्ञान और दोष सबका पता ज्ञात हो जाता है। इसलिए वह इस लोक से उदासीन हो जाता है, उसे संसार जगत् से वैराग्य हो जाता है, क्योंकि उसने परम सुख आत्मा का रस पी लिया है और वह एकाग्र, नित्य, बिना किसी दोष के सुख की प्राप्ति हो गई है, फिर वह इस क्षणमात्र के सुख को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता। अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान न होने के कारण ही व्यक्ति इस क्षणमात्र के सुखों को प्राप्त करने में लीन रहता है, हजारों प्राणियों में एक दो व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें इस आत्म-सुख की प्राप्ति होती है और उस व्यक्ति की ही सब विषय-



भोग की इच्छाएं शान्त होती हैं। ऐसे व्यक्ति ही वास्तविक वैरागी होते हैं। घर-परिवार का त्याग कर देना, लाल रंग के वस्त्र पहन लेना ही वैरागी होना नहीं है। यदि ये वास्तविक वैराग्य होता तो इस संसार के समस्त प्राणी आत्मज्ञानी कहे जाने के योग्य हो जाते। अतः आत्मज्ञान को जान लेने वाला ही व्यक्ति वास्तविक वैराग्यवान और जीवन-मुक्त है। बाकी सब तो पाखंड है।

### सूत्र-3

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम्।

असार निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति॥

शब्दार्थ—अनित्यम्—जो नित्य नहीं रहता, सर्वम्—सभी, एव—ही, इदम्—यह, तापत्रितय दूषितम्—तीन तापों से दूषित, असारम्—निस्सार, निन्दितम्—निन्दा करने योग्य, हेयम्—त्याज्य, इति—ऐसा, निश्चित्य—निश्चय करके ही, शाम्यति—शांत होता है।

प्रसंग—यह समूचा संसार अनित्य है, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीनों तापों से दूषित है असार है। निन्दा करने योग्य है, त्याग करने योग्य है। ऐसा निश्चय करके ही जीवात्मा शांति को प्राप्त करता है।

व्याख्या—अष्टावक्र अध्यात्म के ज्ञाता हैं, आत्मज्ञान के आनन्द में स्थित हैं जो नित्य है, दोषरहित है, अतः उनको क्षणभंगुर आनन्द अच्छे नहीं लगते। सूरदास कहते हैं, “जिन रसना अंबुज फल चाख्यो, क्यों करील फल खावे।” अतः वे कहते हैं कि ये सांसारिक आनन्द, भोग-वासनाएं आदि सभी अनित्य हैं। ये सदैव रहने वाले नहीं हैं। ये तो केवल थोड़े समय का आनन्द है। ये सांसारिक होने के कारण इनका समाप्त होना आवश्यक है। ये अद्वैतवादी, द्वैतवादी और सांसारिक तीनों प्रकार के तापों से दूषित हैं, इनमें कुछ बाकी नहीं है। बार-बार उत्पन्न होना व मृत्यु को प्राप्त हो जाना, बार-बार उन्हीं कार्यों का

उपभोग करना, मान-सम्मान, हानि-लाभ, सुख-दुःख, कष्ट, क्लेश इत्यादि का प्रत्येक योनि में लेखा-जोखा रखना वही बचपन, युवावस्था, वृद्धावस्था, पत्नी-पुत्र, रिश्तेदार का अनुभव करना इसका क्या अर्थ है इसलिए जिसका कोई महत्त्व नहीं है उसे सुखकारी कैसे कहा जा सकता है। वह तो घृणा के योग्य है, त्यागने योग्य है जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है जिस प्राणी को इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है वही आत्मज्ञान के योग्य पात्र है और आत्म-ज्ञान को जानने वाले व्यक्ति को ही शान्ति होती है। जो सांसारिक भोगों में प्रीति रखता है और इनको भोगने से सुख का अनुभव करता है, जिसे यह जगत् ही महत्त्वपूर्ण दिखाई देता है जो व्यक्ति इस जगत् की सांसारिक प्रगति को ही उपयोगी मानता है, वह उस परम आत्म-ज्ञान से वंचित रह जाता है। ऐसे प्राणी को संसार के समस्त सुखों की प्राप्ति हो जाने पर भी शांति प्राप्त नहीं होती। वह शान्ति हीन दुखी रहता है। आत्मज्ञान को जान लेने से व्यक्ति को शांति प्राप्त हो सकती है। यही एक मात्र शान्ति का उपाय है।

#### सूत्र-4

कोऽसौ कालो वयः किं वा द्वन्द्वानि नो नृणाम् ।

तान्युपेक्ष्य यथा प्राप्तवर्ती सिद्धि मवाप्नुयात् ॥

शब्दार्थ—कः—कौन, असौ—ऐसा, कालः—समय, वयः—आयु, किम्—क्या, वा—निश्चयपूर्वक, यत्र—जहां, द्वन्द्वानि—द्वन्द्व, नः—नहीं है, नृणाम्—मनुष्यों के, तान्—उनको, उपेक्ष्य—उपेक्षा करके, यथा प्राप्तवर्ती—जैसा भी प्राप्त होता है उसे वैसा स्वीकार कर बरतने वाला, सिद्धिम्—परम पुरुषार्थ रूपी लक्ष्य को, अवाप्नुयात्—प्राप्त होता है।

प्रसंग—इस संसार में कौन-सा समय ऐसा है, कौन-सी आयु ऐसी है, जहां मनुष्य के जीवन में द्वन्द्व नहीं है। इन सबकी उपेक्षा करने वाला और जो भी, जैसा भी प्राप्त होता है, उसमें सहज रूप में बरतने वाला ही परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा कौन-सा व्यक्ति है जो सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, संघर्ष-शांति, पुरुष-प्रकृति, जड़-चेतन आदि विविध प्रकार के संघर्ष संसार में दिखाई देते हैं। अष्टावक्र बताते हैं कि यह संसार संघर्ष पर टिका हुआ है। यह विपरीत ध्रुवों के सहायता से ही चल रही है। ये संघर्ष किसी भी काल ( भूतकाल, वर्तमान और भविष्य ) और किसी भी अवस्था में भी शान्त नहीं हुए हैं, ये सदा रहेंगे ही। ये संघर्ष के एक सिक्के के दो पहलू के समान हैं या तो दोनों ही रहेंगे या दोनों ही नहीं रहेंगे। एक को समाप्त करके दूसरे को रखना संभव नहीं है। इन संघर्षों का संसार में कोई महत्त्व नहीं है। बल्कि प्राणी की विषय वासना, असंतोष, स्वार्थ आदि के कारण यह संसार का सही-गलत में अंतर करता है। वह गलत को मिटाकर अच्छे को लाना चाहता है। इसीलिए संघर्ष, अशान्ति, लालच, भाषा, इत्यादि अनेक अवगुणों की शुरुआत होती है। अच्छा, बुरे के सहारे पर ही खड़ा होता है। यदि व्यक्ति में अवगुण न हो तो गुण भी समाप्त हो जाएंगे। रोगी न हो तो चिकित्सकों का क्या महत्त्व है। पाप वाले व्यक्तियों के इस संसार में होने से ज्ञानी व्यक्तियों का महत्त्व है। मृत्यु पर ही जीवन का आधार है। नैतिक व्यक्ति दोनों में अन्तरों को देखकर चलने का प्रयास करता है। लेकिन इस संसार में दोनों का होना आवश्यक है, इनका विनाश नहीं किया जा सकता है, इसी कारण अध्यात्मवादी दोनों को परमेश्वर मानकर उन्हें स्वीकार करने के लिए कहते हैं कि अन्तर व्यक्ति के चित्त के कारण दिखाई देते हैं। चित्त के पार कोई अन्तर नहीं है, सभी अन्तर समाप्त होकर एक तत्त्व का ज्ञान होने लगता है। यही ज्ञान है। जब तक अन्तर दिखाई दे, तब तक ज्ञान रहित है। इसीलिए अष्टावक्र कहते हैं कि इनकी उपेक्षा करके स्वाभाविक मिलने वालों में सन्तोष करने वाला व्यक्ति ही आत्म-सिद्धि को प्राप्त होता है, उसी व्यक्ति को आत्म-ज्ञान होता है, संसार में अन्तर रखने वाले व्यक्ति ज्ञान पात्र नहीं हैं, तन्त्र विज्ञान कहता है कि सब कुछ को ईश्वरीय जानकर ग्रहण कर लेना चाहिए, भक्त-गण कहते हैं कि



सही-गलत, सुख-दुःख सब उसी परमात्मा के दिए हुए हैं, अतः हमें उसकी आज्ञा जानकर ग्रहण कर लेना चाहिए। भाषाएं अलग-अलग हैं, लेकिन राष्ट्र तो एक ही है कि हम भारतवासी हैं। उसी प्रकार से अलग-अलग होते हुए भी हमें ईश्वरीय मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए। यही मोक्ष को पाने का साधन है।

### सूत्र-5

नानामतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा।

दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः ॥

शब्दार्थ—नानामतम्—अनेक विचार, महर्षिणाम्—महर्षियों के, साधूनाम्—साधुओं के, योगिनाम्—योगियों के, तथा—और, दृष्ट्वा—ऐसा देखकर, निर्वेदम्—वैराग्य को, आपन्नः—प्राप्त हुआ, को—कौन, न—नहीं, शाम्यति—शान्ति को प्राप्त नहीं होता, मानवः—मनुष्य।

प्रसंग—महर्षियों, साधुओं और योगियों के अनेक मत हैं, ऐसा अनुभव करता हुआ, जानता हुआ, वैराग्य को प्राप्त हुआ कौन ऐसा है जिसे शान्ति न प्राप्त हुई हो। विभिन्न विचारों बिना भटके वैराग्य की प्रवृत्ति मात्र से ही व्यक्ति शान्ति को प्राप्त करता है।

व्याख्या—संसार में अनेक प्रकार की मान्यताएं हैं, विविध प्रकार के सिद्धान्त हैं, विविध प्रकार की क्रियाएं-विधियां और साधनाएं हैं, लेकिन इनमें वास्तविक कोई भी नहीं है। सत्य एक ही है एवं इसको जान लेने वाला व्यक्ति भी एक ही विचारधारा वाला हो जाता है। मति (बुद्धि) एवं तर्क से कुछ भी सफल नहीं किया जा सकता है, दार्शनिक ग्रंथों के जान लेने या पढ़ लेने से एक भी प्रश्न का उत्तर प्राप्त नहीं हो सकता है, अगर ये वास्तविक होते तो इतनी विचाराधाराएं होती ही नहीं। सत्य इन सभी विचारधाराओं, मान्यताओं, नियमों से पार है। ये मान्यतावादी, सिद्धान्तवादी, तर्कवादी सभी मति (बुद्धि) को सन्देहित (भ्रमित) करने वाले हैं। इसलिए ज्ञानी व्यक्ति को इनसे अलग रहना

चाहिए। अष्टावक्र ने पहले के सूत्र में संघर्षों की उपेक्षा की बात बताई है। इस सूत्र के माध्यम से वो ग्रन्थों एवं विविध मान्यताओं की भी उपेक्षा करने के लिए कह रहे हैं। वे कहते हैं कि इन महर्षियों, साधुओं तथा योगियों के विविध मत हैं। इसीलिए ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले प्राणियों को इन सभी मतों की उपेक्षा करनी चाहिए तभी व्यक्ति को शान्ति प्राप्त हो सकती है। 'सत्य' न तो ग्रन्थों में है न नियमों में। वह तो हमारे अन्दर ही है, जिसे प्राप्त करना ही ज्ञान है उसी से शांति प्राप्त होगी। विविध मतों एवं विचारधाराओं के आधार पर बने हुए विविध सम्प्रदाय अध्यात्म के लिए विष (जहर) के समान हैं जो धोबी के बैल की तरह लगातार घूम रहे हैं, लेकिन वो अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाते हैं। आत्मज्ञान को जानने वाला व्यक्ति इन सबसे ऊपर निकलकर आत्मा का अनुभव करता है, उस स्थिति में उसे शांति प्राप्त होती है।

### सूत्र-6

कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।

निर्वेदसमता युक्त्या यस्तारयति संसृते ॥

शब्दार्थ—कृत्वा—करके, मूर्ति परिज्ञानम्—मूर्ति के विशेष ज्ञान को, चैतन्यस्य—चैतन्य के, न किं गुरुः—क्या वह गुरु नहीं, निर्वेद—त्याग, समता—समत्व दृष्टि, युक्त्या—युक्ति से, यः—जो, तारयति—तारता है, संसृतेः—संसार से।

प्रसंग—जो उपेक्षा, समता और मुक्ति द्वारा चैतन्य के सच्चे स्वरूप को जानकर संसार में अपने को तारता है, क्या वह गुरु नहीं है।

व्याख्या—पहले बताया गया है कि ज्ञान-प्राप्त करने के लिए शिष्य का योग्य होना आवश्यक है, जबकि गुरु के बारे में ऐसा नहीं है। गुरु का मात्र उपस्थित होना ही घटना-घटित होने के लिए आवश्यक है। गुरु कुछ करता नहीं है, वह न तो ज्ञान दे सकता है, न मोक्ष बल्कि शिष्य की योग्यता ही इसका कारण है, लेकिन गुरु की अनुपस्थिति में



यदि घटना घटित होती है तो व्यक्ति उस पर नियंत्रण नहीं कर सकता। उस अवस्था में गुरु ही नियन्त्रण करता है, लेकिन आत्म-ज्ञान हो जाने पर वह व्यक्ति शिष्य से गुरु बन जाता है। सच्चा गुरु तो व्यक्ति की आत्मा में स्थित है, उसी गुरु का ज्ञान प्राप्त करने में बाहरी गुरु सहायता देने वाला होता है, इसीलिए ये बाहरी दिखाई देने वाला गुरु तो केवल साधन मात्र होता है और आत्मज्ञान होने से पहले ही उसकी आवश्यकता होती है। आत्मज्ञान हो जाने के बाद इस गुरु को छोड़ देना चाहिए, जिस प्रकार से विधि-विधान, ग्रन्थ, धर्म, सम्प्रदाय, जाति आदि को छोड़ा जाता है, यहां तक कि मूर्ति-पूजा, कर्मकाण्ड साकार-उपासना आदि एवं ईश्वर को भी छोड़ देना चाहिए, अगर इनको नहीं छोड़ेंगे तो ये भी बन्धन का रूप धारण कर लेंगे। जिस प्रकार रामकृष्ण ने काली का त्याग किया था, शंकराचार्य इसीलिए ईश्वर की भी भाषा कहकर त्याग करने को कहते हैं। बुद्ध ने तो आत्मा को भी छोड़ने को कहा है। इसी प्रकार स्वयं गुरु हो जाने से इस बाहरी गुरु को छोड़ देना भी आवश्यक है। नहीं तो जो गुरु स्वतन्त्र कराता है, वही बाद में बन्धन हो जाता है। आत्मा ही हमारा वास्तविक गुरु है। महात्मा बुद्ध कहते हैं कि अपना प्रकाश स्वयं बनो (अप्य दीपो भव) दूसरों के दीपक से काम नहीं चलेगा। अष्टावक्र बताते हैं कि जो किसी भी उपाय से, चाहे वह उपेक्षा की हो या समानता की, चाहे इन सांसारिक संघर्षों की निन्दा कर दी जाए या इनको मान लिया जाए, श्रीकृष्ण ने समानता की बात कही है, 'सुख दुःखे समे कृत्वा, लाभा लाभो जया जयौ (सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय)' को समान मानते हुए या किसी अन्य विधि से चेतन आत्मा को जान लिया है वही हमें स्वयं की जगत् से पार कर लेता है और ऐसा गुरु व्यक्ति स्वयं ही है, फिर उसे किसी दूसरे गुरु की आवश्यकता नहीं। जिस पर नदी पार करके किनारे पर पहुंचकर नाव को छोड़ देते हैं, इसका अर्थ यह नहीं मान लेना चाहिए कि आत्मज्ञान को जानने से पहले भी गुरु की आवश्यकता नहीं है लेकिन वह गुरु भी आत्मज्ञानी ही हो सकता है। और कोई न तो गुरु हो

सकता है और न ही किसी दूसरे व्यक्ति का मार्गदर्शन कर सकता है, ज्ञान रहित व्यक्ति उप गुरु तो हो सकता है सिखाने वाला शिक्षक (अध्यापक) भी हो सकता है, लेकिन वह गुरु नहीं कहा जा सकता।

### सूत्र-7

पश्य भूतविकारांस्त्वं भूत मात्रान् यथार्थतः ।

तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ॥

शब्दार्थ—पश्य—देखो, भूतविकारान्—पंच महाभूतों के कार्य रूप विकार, त्वम्—तुम, भूतमात्रान्—पंचमहाभूतरूप, यथार्थतः—वास्तव में, तत्क्षणात्—उसी क्षण से, बन्ध निर्मुक्तः—बन्धनों से मुक्त, स्वरूपस्थः—अपने स्वरूप में स्थित, भविष्यसि—हो जाओगे।

प्रसंग—पंच महाभूतों के विकारों को मात्र पंच महाभूत के रूप में जब देखोगे, उसी क्षण सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त और अपने स्वरूप में स्थित हो जाएगा।

व्याख्या—प्राणी को मुक्त होने में कितना समय लगता है? एक पल भी नहीं। दीपक के जलाते ही कितना भी अंधेरा क्यों न हो सब उसी क्षण गायब हो जाता है। समय तो दीपक को जलाने में लगता है। यहां पर अष्टावक्र इसी को स्पष्ट कर रहे हैं, यहां प्रत्यक्ष रूप में महर्षि ने बन्धन का कारण भी बताया। यह सारा संसार पांच महाभूतों का कार्य है। इसे आत्मा का कार्य न समझो। इससे आत्मा का कोई वास्ता नहीं। जैसे ही यह विचार आया कि अनात्म को आत्मा मानने की इच्छा समाप्त हो गई, आत्म और अनात्म का मिलन हुआ। अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ। आत्मा प्रकाशित हो उठी। सारे विकार समाप्त हो गए हैं। स्वयं का स्वरूप भी प्रकाशित हो गया। समस्त अंधेरा समाप्त हो गया। जन्म-जन्मांतरों का अंधेरा न जाने कहां चला गया। सारे बन्धनों को बांधने वाली जंजीरें अपने आप ही टूट गई हैं।

अष्टावक्र का तात्पर्य है कि जगत् के विषयों को वास्तविक दृष्टि से देखना ही मोक्ष है और उन्हें उनके स्वभाव के विपरीत देखना ही बन्धन है।

## सूत्र-8

वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्चताः ।

तत्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथातथा ॥

शब्दार्थ—वासना—वासनाएं, एव—ही, संसार—संसार है, इति—ऐसा (निश्चय करके), सर्वा—सभी को, विमुञ्च—छोड़, ताः—उनको, तत्त्यागः—उनके त्याग से, वासना त्यागात्—वासना त्याग से, स्थितिः—स्थिति, अद्यः—आज, यथा—जैसी है, तथा—वैसी ।

प्रसंग—वासनाएं ही संसार हैं, ऐसा निश्चय करके उन सभी वासनाओं का त्याग करो। वासनाओं के त्याग से संसार का त्याग होगा और आज जो है व जैसा है, उसी रूप में यथास्थिति को प्राप्त हो जाएगा।

व्याख्या—ग्रन्थों में दो प्रकार के संसारों की विवेचना की गई है—एक है ईश्वरीय सृष्टि और दूसरी को जीव सृष्टि कहा गया है। ग्रन्थ लेखक कहते हैं कि ईश्वरीय संसार नहीं बांधती। अगर यह बांधती तो तत्त्व ज्ञानी को भी बन्धनों में बांधती। तत्त्व को जानने वाले के लिए यह संसार कभी समाप्त नहीं होता तो फिर बंधनों में कौन बंधेगा, दूसरी है जीव सृष्टि, इस जीव सृष्टि का ही इस सूत्र में अष्टावक्र ने 'वासना ही संसार है', इस रूप में किया है। 'एव' निश्चित है, किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है, इसलिए सभी प्रकार के सांसारिक विषयों का त्याग कर दे तो तू मुक्त हो जाएगा। वासना संसार के भोगों को लेकर ही हुआ करती है, जिज्ञासु व्यक्ति की कामना और सांसारिक व्यक्ति की कामना में अन्तर स्पष्ट है, इसे जानना आवश्यक है। ज्ञानी व्यक्ति की कामना सांसारिक विषयों की नहीं है, वह व्यक्ति को बन्धनों में नहीं बांधती। बल्कि वह तो प्राणी की मुक्ति या मोक्ष का साधक बनती है। कुछ आत्मज्ञानियों ने इसी आधार पर शुद्ध और अशुद्ध कामनाओं की चर्चा की है। महर्षि वाल्मीकि ने अपवित्र कामना को जन्म का कारण माना है जबकि पवित्र कामनाएं जन्म का विनाश करने वाली हैं।





## दसवां अध्याय

सूत्र-1

( अष्टावक्र-उवाच )

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम् ।  
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥

शब्दार्थ—विहाय—छोड़कर, वैरिणम्—शत्रुरूप, कामम्—काम को, अर्थम्—अर्थ को, च—और, अनर्थसंकुलम्—अनर्थों के समूह को, धर्मम्—धर्म के, अपि—भी, एतयोः—उन दोनों का, हेतुम्—कारणरूप को, सर्वत्र—सभी जगह, अनादरम्—अनादर, कुरु—करो ।

प्रसंग—परम शत्रु 'काम' का और सभी प्रकार के अनर्थों के कारण रूप 'अर्थ' का और इन दोनों के कारण 'धर्म' का भी परित्याग कर सबका अनादर करो ।

व्याख्या—पिछले प्रकरण में अष्टावक्र ने कहा कि यह जगत् संघर्षात्मक है, जिसमें शांति है ही नहीं। अतः इसकी निरादर करने से ही शांति (मुक्ति) प्राप्त हो सकती है। वासना (सांसारिक विषयों) का निरादर ही उसके प्रति उपेक्षा है। इस प्रकरण में अष्टावक्र बताते हैं कि मोक्ष प्राप्ति में 'काम' वासना परम शत्रु के समान है। जहां काम (वासना) है, वही जगत् है एवं धन-संपत्ति तो काम-वासना का कारण है। जगत् के सारे अकार्यों का मूल आधार इच्छा और अर्ध धन ही है। इन दोनों को त्यागने से ही मुक्ति का पथ प्रशस्त होता है। अष्टावक्र इन्हें छोड़ने के बजाय इनकी उपेक्षा करने को कह रहे हैं।

आत्मज्ञान को जानने वाले व्यक्ति को इनका निरादर करना चाहिए क्योंकि निंदा व प्रशंसा दोनों में ही इच्छा है जो कि द्वेषपूर्ण हैं, साथ ही अष्टावक्र इन दोनों के मूल आधार धर्म की भी उपेक्षा करने को कहते हैं। ग्रन्थों में धर्म, अर्थ (संपत्ति), काम (वासना) मोक्ष (मुक्ति) इन चारों को बड़ा ही महत्त्वपूर्ण बताया है, सांसारिक व्यक्ति को इन पहले तीनों को प्राप्त करके उनका उपयोग करते हुए मुक्ति की ओर बढ़ना (अग्रसर) होना चाहिए, क्योंकि वही प्राणी का परम लक्ष्य है। लेकिन मोक्ष (मुक्ति) को छोड़ते हुए शेष तीनों का उपयोग करना भोग वासनाओं को तृप्त करने में लीन रहता है जो कि उचित नहीं है। मुक्ति (मोक्ष) का ध्यान रखते हुए बाकी तीनों का उपयोग करना धर्म के सम्मत माना गया है। अष्टावक्र आत्म-ज्ञान का प्राप्त कर लेने वाले राजा जनक से मुक्ति प्राप्त हेतु काम वासना एवं धन-संपत्ति के साथ ऐसे धर्म की भी उपेक्षा (निंदा) करने को कहते हैं, क्योंकि ये धर्म भी धर्म नहीं हैं। यह भी प्राणी को बन्धनों में उलझा देने वाले कारण हैं, ये भी मात्र साधन हैं। सफलता प्राप्त हो जाने पर, सभी साधनों को त्याग देना चाहिए। उस स्थिति में ही व्यक्ति को परम स्वन्तत्रता प्राप्त हो जाती है। वह परम सुख (मुक्ति) को प्राप्त हो जाता है।

## सूत्र-2

स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा।

मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादि सम्पदः ॥

शब्दार्थ—स्वप्न—स्वप्न, इन्द्रजालवत्—जादू की तरह, पश्य—देखो, दिनानि—दिनों तक, त्रीणि—तीन, पञ्च—पांच, वा—अथवा, मित्र क्षेत्रधनागारदारायादि सम्पदः—मित्र, क्षेत्र, धनागार, स्त्री आदि सम्पत्तियां।

प्रसंग—मित्र क्षेत्र, धन, मकान, पत्नी आदि सम्बन्धों व सम्पत्तियों को स्वप्न और इन्द्रजाल की तरह समझो, जानो, क्योंकि ये तीन या पांच दिनों तक ही अस्तित्व वाले हैं। ये क्षण भंगुर हैं।



**व्याख्या**—यहां पर अष्टावक्र भारतीय धर्म के बारे में चर्चा करते हुए कहते हैं कि— भारतीय धर्म सृष्टि (संसार) का विरोधी कभी नहीं रहा, उसने कभी ऐसा नहीं कहा कि जगत् झूठा है, नरक है, माया है, दुःखों का महासागर है, सुख तो क्षण मात्र हैं। ये पत्नी, पुत्र, संपत्ति, मकान, मित्र, रिश्ते-नातेदार आदि सभी नरक में ले जाने वाले हैं, इनको छोड़कर वनों में चले जाओ, हिमालय की गुफा में जाकर निवास करो। ये सब ही व्यक्ति के बन्धन के कारण हैं। इनका त्याग करने से मोक्ष की प्राप्ति होगी। ये सब बेकार की विचारधाराएं हैं जो धर्म को न जानने वाले ज्ञान रहित व्यक्तियों द्वारा व्यक्त की गईं। धर्म तो इस जगत् को मुक्ति प्राप्त करने का सबसे श्रेष्ठ साधन मानता है। जिसमें रहते हुए ही मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त किया जा सकता है, यही कारण है कि देवता भी मोक्ष प्राप्त करने हेतु दोबारा इस जगत् में आने के लिए उत्सुक रहते हैं। यह जगत् ही वह पाठशाला है जिसमें व्यक्ति अपने अनुभवों के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। लेकिन यहां आकर सांसारिक भोगों में लिप्त रहने के कारण प्राणी का नैतिक पतन होता है। इस प्रकार निंदा (घृणा) जगत् से नहीं बल्कि इसके प्रति वासना (कामना), तृष्णा (असंतोष) अहंकार (घमण्ड) आदि की गई है। इसका भी कारण यह है कि जगत् व इसके सांसारिक विषय भोग और सभी सम्बन्ध क्षण भर के हैं, हमेशा रहने वाले नहीं हैं, थोड़े समय के हैं। भारतीय अद्वैत (अध्यात्म) क्षण मात्र के सुख के लिए नहीं बल्कि सदैव रहने वाले को बल देता है। भारत ने इसी सदैव स्थित रहने वाले को ही सत्य बताया है जो कि तीनों काल में स्थिर (एक समान) रहता है, प्रतिक्षण बदलने वाला नहीं है। इसीलिए अष्टावक्र कहते हैं कि जिस प्रकार स्वप्न (सपने) में सब कुछ दिखाई देता है, लेकिन आंख खुल जाने पर सब कुछ जानने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है, जैसे इन्द्रजाल के सन्देह के कारण सभी वस्तुएं दिखाई देती हैं, इसी प्रकार मुक्ति की आशा रखने वाले प्राणी को इस जगत् को स्वप्न के समान या इन्द्र के मायाजाल के समान जानना चाहिए। क्योंकि ये मित्र, खेत,

संपत्ति, घर, पत्नी, भाई आदि सारी सम्पत्ति थोड़े समय के लिए ही सत्य दिखाई पड़ती है। ये वास्तविक सत्य नहीं है जो कि प्राणी के प्रत्येक योनि में हमारे साथ रहेगी। व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर स्वप्न के समान सारा दृश्य ही परिवर्तित हो जाएगा। अगले जन्म में दोबारा नए रिश्तेदार, सम्बन्धी प्राप्त होंगे। इसी प्रकार से बार-बार यह प्रक्रिया चलती ही रहेगी। ये सब रिश्ते-नाते तीन या चार-पांच दिवस के हैं अर्थात् क्षण-भंगुर हैं। अतः ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति को इन सबकी उपेक्षा करनी चाहिए। अष्टावक्र इनहें त्यागकर भाग जाने की बात को अज्ञानता कहते हैं। वे बताते हैं कि इस बात का ज्ञान हो जाना ही पर्याप्त है। इस आत्मज्ञान से भ्रान्ति हो जाएगी। बिना ज्ञान के संसार को त्यागने से कुछ नहीं प्राप्त हो सकेगा।

### सूत्र-3

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।

प्रौढ वैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णाः सुखी भवः ॥

शब्दार्थ—यत्र यत्र—जहां-जहां, भवेत्तृष्णा—तृष्णा होती है, संसारम्—संसार को, विद्धि—जानो, तत्र—वहां, वै—निश्चयपूर्वक, प्रौढवैराग्यम्—दृढ़, परिपक्व, वैराग्य का, आश्रित्य—आश्रय लेकर, वीततृष्णाः—तृष्णाओं का परित्याग करके, सुखी—सुखी, भव—हो।

प्रसंग—जहां-जहां तृष्णा है, वहीं-वहीं संसार को जानो। यह यथार्थ है। इसलिए परिपक्व, दृढ़ वैराग्य का आश्रय लेकर सभी प्रकार की, सभी विषयों की तृष्णा का परित्याग करके सुखी हो।

व्याख्या—अष्टावक्र बताते हैं कि व्यक्ति अपना जगत् (संसार) स्वयं अपने आप बनाता है। व्यक्ति की असंतुष्टि ही उसकी दुनिया है। ईश्वर ने व्यक्ति को बहुत कुछ दिया है, आत्मा और शरीर जैसे अनमोल रत्न उसने दिए हैं, लेकिन वह इस आत्मा को न जानने के कारण वह मांगने वाले दरिद्र के समान सांसारिक पदार्थों की इच्छा

करता है, उनको प्राप्त करने की अन्धी दौड़ में पड़ जाने के कारण वह सदैव दुःखी रहता है। वह ईश्वर के द्वारा दिए हुए से अधिक प्राप्त करने की कामना से निरन्तर दौड़ता रहता है। उसकी यह असंतोष रूपी इच्छा कभी समाप्त नहीं होती, जिसके फलस्वरूप वह इस दुनिया में सुख-दुःख का अनुभव करता रहता है। अष्टावक्र बताते हैं कि जहां-जहां ये असंतोष रूपी प्यास है वहीं तू यह संसार जान। यदि व्यक्ति की यह प्यास शांत हो जाए उसे जितना मिला है, वह उतने में ही संतोष (सन्न) कर ले तो वह सुखी हो सकता है। इसी को अष्टावक्र वीत-तृष्णा (संतोष रूपी प्यास), इस वीत तृष्णा की उपलब्धि प्रौढ़ वैराग्य को आश्रय करके स्थित होने को कहते हैं। जिससे व्यक्ति सुखी हो सकता है।

#### सूत्र-4

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।  
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तिरुत्तिर्मुहुर्मुहुः ॥

शब्दार्थ—तृष्णामात्रात्मकः—तृष्णा रूप, बन्धः—बन्धन है, तन्नाशः—उसका नष्ट हो जाना ही, मोक्ष—मुक्ति, उच्यते—कहा जाता है, भवासंसक्ति मात्रेण—संसार में असंगता की स्थिति मात्र, प्राप्तिरुत्तिः—प्राप्ति और संतुष्टि दोनों, मुहुर्मुहुः—बार-बार।

प्रसंग—मात्र तृष्णा बन्धन है, तृष्णा का नाश ही मुक्ति कहलाता है, मुक्ति है, संसार में अनासक्ति मात्र से आत्मरूप की प्राप्ति होती है, सन्तुष्टि होती है। यह स्वरूप प्राप्ति और सन्तुष्टि एक बार नहीं बल्कि बार-बार होती है।

व्याख्या—अष्टावक्र बताते हैं कि यह तृष्णा (प्यास) मात्र एक बन्धन है। वरना जगत् में और कोई बन्धन नहीं है। ग्रह जगत्, रिश्ते-नाते (सम्बन्ध) शरीर का अहंकार, अर्थ (धन) सम्पत्ति, आदि बन्धन इसलिए हैं कि इनसे कुछ पाने की इच्छा है। इनसे अपने को अधिक से अधिक भण्डार भरना चाहते हैं, इन सबका मूल आधार यह तृष्णा



(प्यास) है। अगर यह प्यास शान्त हो जाए तो वह मोक्ष का मार्ग मिल जाएगा। मोक्ष के लिए और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। अष्टावक्र इस प्यास (तृष्णा) को समाप्त करने की विधि भी बता रहे हैं वे कहते हैं कि इस जगत् से लिसता को समाप्त कर देने से इस प्यास को शान्त किया जा सकता है और इसके विनाश से निरन्तर प्राप्ति और वृद्धि होती है। इस जगत् से मोह-रूपी प्यास को शान्त करने से अन्दर जो अनमोल सुख है, उसका बोध होने लगता है। उसी से मनुष्य की तृप्ति होगी। सांसारिक पदार्थों से सन्तुष्टि नहीं हो सकती। सब कुछ प्राप्त कर लेने के बाद भी अन्दर खाली ही दिखाई पड़ता है, अनासक्त का मतलब (अर्थ) है, न आसक्ति, न विरक्ति, न स्वीकार करना और न ही त्याग कर देना जो स्वभाव से प्राप्त हुआ है या हो रहा है, उसमें ही संतुष्ट रहना, उपेक्षा की भावना रखना यही अनासक्ति है।

### सूत्र-5

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जड़ं विश्वमसत्तथा।

अविद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते ॥

शब्दार्थ—त्वम्—तुम, एकः—एकमात्र, चेतनः—चेतनरूप, शुद्ध—शुद्धस्वरूप, जड़म्—जड़, विश्वम्—संसार, असत्—जो न था, न होगा, न हो, तथा—और, अविद्या—अविद्या, अपि—भी, न—नहीं, किञ्चित्—कुछ भी, सा—वह (स्त्रीलिंग), का—का, बुभुत्सा—जानने की इच्छा, तथापि—तब भी, ते—तुम्हें।

प्रसंग—तुम एकमात्र चेतन हो, शुद्ध स्वरूप हो और यह संसार जड़ है, असत् है। इतना ही नहीं, अविद्या भी कुछ नहीं है अर्थात् सच में उसका अस्तित्व ही नहीं है, तब फिर तुम्हारी जिज्ञासा किसको जानने की है, तो फिर तुम किसे जानना चाहते हो।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि ब्रह्म या आत्मा एक है, चेतना वाली है, सदैव रहने वाली है, इसी कारण वह वास्तविक (सत्य) है। यह संसार उसी का फैलाव है, उसी का विस्तार है। वही अनेक नामों

में प्रकट हुआ है, लेकिन यह संसार जड़ है, नाशवान है, प्रत्येक पल परिवर्तित होने वाला है। जगत् एक बहती हुई धारा है। चेतन स्थिर है, जगत् गतिशील है। इस ब्रह्म में दो प्रकार की सनातनी शक्तियां हैं— विद्या और अविद्या। अविद्या जगत् के लिए है, जबकि विद्या अमृत तत्त्व के लिए है, अज्ञानता (अविद्या) के प्रभाव से प्राणी उनके पास से दूर जाते हैं और विद्या शक्ति (ज्ञान) के प्रभाव से पास आते हैं। इस अज्ञानता के प्रभाव के कारण से ही व्यक्ति का दुर्गुण सहित अन्तःकरण बहुमुखी कामना द्वारा गतिशील होकर भोग के रास्ते पर जाने के लिए प्रेरित होता है और बन्धनों को प्राप्त होता है, लेकिन व्यक्ति मात्र के अन्तःकरण में सत्य, प्रेम, पवित्रता, साधुता, त्याग, वैराग्य, करुणा, दया आदि की जो भावनाएं हैं, वे विद्या (ज्ञान) के कारण हैं और अमृतत्व है। अष्टावक्र जनक को यही बता रहे हैं कि पवित्र चेतना मात्र है, आत्मा स्वरूप है इसीलिए तू सदैव रहने वाला है तथा यह संसार जड़ है, झूठा है समाप्त होने वाला है, यह अज्ञानता रूपी अविद्या भी जगत् की हेतु होने से झूठी है। ऐसा जान लेने के बाद भी तू इस झूठे जगत् में लिस रहने की बात करता है। अब तुझे जान लेने के लिए कुछ शेष नहीं बचा है, तू सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर चुका है।

### सूत्र-6

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।

संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि॥

शब्दार्थ—राज्यम्—राज्य, सुताः—पुत्र, कलत्राणि—स्त्रियां, शरीराणि—शरीर, सुखानि—तरह-तरह के सुख, च—और, संसक्तस्यापि—आसक्त पुरुष के भी, नष्टानि—नष्ट ही हुए हैं, तव—तुम्हारे, जन्मनि-जन्मनि—प्रत्येक जन्म में।

प्रसंग—तेरे राज्य, पुत्र, पुत्रियां, शरीर और सुख जन्म-जन्म से नष्ट हुए हैं, यद्यपि तू उनमें आसक्त था।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि व्यक्ति उत्पन्न होता है, बड़ा



होता है, पढ़ता है, नौकरी या व्यवसाय करता है, धन अर्जित करता है, शादी-विवाह करता है, सन्तान उत्पन्न करता है, गृहस्थी बसाता है और इन सबसे ही लिस रहता है, इसका कारण यह है कि वह इन्हें अपना मानता है। इनके साथ उसकी अनेक इच्छाएं जुड़ी हुई हैं, लेकिन इन इच्छाओं के रहते भी सब इच्छाएं मृत्यु के समय धरी रह जाती हैं। इन्हें सम्पूर्ण करने का व्यक्ति के पास कोई उपाय नहीं है। और फिर दोबारा नए जन्म में यही सब कुछ दोहराता है लेकिन ज्ञान न होने के कारण ये नहीं समझ पाता कि इन इच्छाओं को त्यागने से ही मुझे ज्ञान की प्राप्ति होगी। अष्टावक्र जनक को यही ज्ञान का उपदेश दे रहे हैं कि तेरे अनेक जन्म हुए हैं, प्रत्येक जन्म में तुझे राज्य, पुत्र, पुत्रियां, शरीर और सुख मिले हैं लेकिन वे तेरे लिस रहने के कारण सब बेकार हो गए हैं। ये तेरे कभी अपने होने वाले नहीं हैं, इसलिए तेरा इनके प्रति अधिक स्नेह सब दिखावा मात्र है। इसी लिसता के कारण तुझे बारम्बार जन्म लेने पड़ते हैं और इसी लीनता के कारण ही उन्हें छोड़ने पर दुःख (कष्ट) होता है और दुःख (कष्ट) का कोई अन्य कारण नहीं है। इसलिए पहले के जन्मों से अनुभव प्राप्त करके अब तो इस मोह का त्याग कर जिसके कारण तुझे बार-बार जन्म न लेना पड़े और तेरी इन कष्टों से मुक्ति हो जाए।

### सूत्र-7

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।

एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून्मनः॥

शब्दार्थ—अलम्—बस, बहुत हुआ, अर्थेन—अर्थ (धन से), कामेन—कामनाओं से, सुकृतेन—शुभ से, अपि—भी, कर्मणा—कर्म से, एभ्यः—इनसे, संसारकान्तारे—संसाररूपी वन में, न—नहीं, विश्रान्तम्—शांति को, अभूत्—हुआ, मनः—अन्तःकरण (चित्त)।

प्रसंग—अर्थ, काम और सुकृत कर्म (कार्य) बहुत हो चुके। इनमें भी संसार रूपी जंगल में मन विश्रान्ति को प्राप्त नहीं हुआ।

**व्याख्या**—अष्टावक्र जनक को यही ज्ञान का उपदेश दे रहे हैं कि धन-संपत्ति, वासना और अच्छे कार्य जो तूने अनेक जन्मों में किए हैं और अभी भी उन्हें ही कर रहा है लेकिन इनको करने से भी तेरे हृदय को शान्ति प्राप्त नहीं हुई। इनमें किसी प्रकार का सुख, शान्ति, आनन्द नहीं मिला, अगर इनसे कष्टों का विनाश होता तो इन सबको प्राप्त करके तुझे निश्चित ही शान्ति और परम आनन्द प्राप्त हो जाना चाहिए था लेकिन इनको प्राप्त कर लेने से भी तुझे शान्ति प्राप्त न हो सकी, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि इनमें सुख नहीं है। तू सन्देह के कारण इनमें सुख देख रहा था, लेकिन अब तो तुझे इस अज्ञानता और सन्देह का त्याग करके परम आनन्द के रस को पीकर सुखी हो जाना चाहिए।

### सूत्र-8

कृत न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा।

दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम् ॥

**शब्दार्थ**—कृतम्—किया, न—नहीं, कति—कितने, जन्मानि—जन्म में, कायेन—शरीर से, मनसा—मन से, गिरा—वाणी से, दुःखम्—दुःख देने वाला, आयासदम्—थकाने वाला, कठोर परिश्रम करने वाला, कर्म—कर्म, तद्—वह (कर्म), अद्य—आज, इस जन्म में, अभी, उपरम्यताम्—उपरामता को प्राप्त।

**प्रसंग**—कितने जन्मों तक तूने क्या शरीर, मन और वाणी से दुःखपूर्ण और श्रमपूर्ण कर्म नहीं किए हैं? अब तो आराम कर।

**व्याख्या**—अष्टावक्र फिर उसी तथ्य को दोहराते हैं कि तूने कई जन्मों से शरीर, चित्त और वाणी से दुःखपूर्ण (कष्टदायक) और मेहनत के कार्य किए हैं, लेकिन फिर भी तेरी इच्छा वैसी ही बनी हुई है। जिसके फलस्वरूप तेरा जीवन-मृत्यु का चक्र चलता आ रहा है। अष्टावक्र राजा जनक से कह रहे हैं कि अब तो तू इस अज्ञान रूपी अंधेरे को ज्ञान रूपी दीपक से जलाकर अंधेरे को विलुप्त कर। तभी तुझे परम शान्ति प्राप्त हो सकेगी।



## ग्यारहवां अध्याय

### सूत्र-1

#### ( अष्टावक्र-उवाच )

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी ।

निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति ॥

शब्दार्थ—भावाभाव विकारः—होने, न होने रूपी विकार, च—और, स्वभावात्—स्वभाव से ही, इति—ऐसा, निश्चयी—निश्चय करने वाला, निर्विकारः—सभी प्रकार के विकारों से मुक्त, गतक्लेशः—सभी क्लेश से मुक्त, सुखेन—सुख से ( सहज रूप से, अनायास ही), एक ही, उपशाम्यति—शांति को प्राप्त करता है ।

प्रसंग—होना, न होना, समाप्त हो जाना, आदि दोष सहज रूप से हो रहे हैं, ऐसा निश्चय करने वाला, सभी प्रकार के विकारों से परे, सभी प्रकार के क्लेशों से दूर, बड़े सहज रूप में । बिना किसी श्रम के शान्ति को प्राप्त करता है ।

व्याख्या—विज्ञान के सारे अध्ययन जड़ प्रकृति पर आधारित हैं । वह पदार्थ को ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है । पदार्थ की खोज करते हुए वह उसके अन्तिम तत्त्व विद्युत तक पहुंच गया है और उसी को सारी दुनिया का कारण स्वीकारता है, परन्तु अध्यात्म इससे भी आगे एक चेतन तत्त्व के बारे में बताता है कि प्रारम्भ में वह चेतन तत्त्व ही उपस्थित था । यह विद्युत ( ऊर्जा ) उसकी जड़ है जो कि चेतन तत्त्व है । यह समस्त संसार उस चेतन तत्त्व का ही विस्तृत रूप है । इसके सारे कार्य इसकी जड़ प्रकृति के स्वभाव से सम्पन्न हो रहे



हैं, वह चेतन आत्मा करने वाली नहीं है, वह तो दोष रहित है, पवित्र है, लेकिन उसकी उपस्थिति जरूरी है, इसकी अनुपस्थिति में तो शिव भी शव बन जाता है, व्यक्ति मृतक शरीर बन जाता है। संसार में जिस तत्त्व में गति, विकास, धारा है, निरन्तरता है, वह इसी चेतन तत्त्व आत्मा के कारण ही है, जिस प्रकार चन्द्रमा के उपस्थित होने से सागर में ज्वार-भाटा आता है, चुम्बक लोहे को अपनी उपस्थिति मात्र से अपनी ओर खींचती है, उसी प्रकार चेतन शक्ति के कारण ही इस संसार के सभी कार्य होते हैं। लेकिन वह स्वयं करने वाली नहीं है, यह आत्मा नित्य है, चेतन है, जबकि संसार अनित्य एवं नाशवान है। आत्मा दोष रहित है और संसार में अनेक दोष हैं। अष्टावक्र कहते हैं कि ये कमी या पूर्णता के सारे दोष प्रकृति के कारण हैं जो कि स्वाभाविक रूप से स्वयं हो रहे हैं, जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव ही जलना है, पानी का शीतल होना ही उसका स्वभाव है, गुरुत्व आकर्षण का अपनी ओर आकर्षित करना ही स्वभाव है। ऊर्जा (विद्युत) का स्वभाव प्रकाश और चुम्बक तत्त्व है इसी प्रकार से सभी तत्त्व एवं पदार्थ अपने स्वाभाविक गुणों के अनुसार ही कार्य कर रहे हैं। बीज से वृक्ष (पेड़) बनने की प्रक्रिया भी प्रकृति के कारण ही है। इसी प्रकार से संसार के सभी कार्यों का संचालन प्रकृति ही कर रही है। उस चेतन तत्त्व की मात्र उपस्थिति ही है। वह स्वयं कुछ नहीं करती। इस प्रकार से जो प्राणी आत्मज्ञान को प्राप्त हो गया है, वह स्वयं को प्रकृति से ऊपर मानकर चेतन आत्मा जानकर सब प्रकार के दोषों और कष्टों से मुक्त होकर परम सुख के साथ शांति को प्राप्त हो जाता है। आत्मज्ञान हो जाने के बाद ही वह ऐसा निश्चय करता है, इससे पहले मान लेना भी सन्देह है। मान लेने से सन्देह दूर नहीं होता। जानने से होता है, केवल ज्ञान से होता है। इसके लिए किसी प्रकार का कोई श्रम करने की आवश्यकता नहीं है।

## सूत्र-2

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी ।

अन्तर्गलित सर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते ॥

शब्दार्थ—ईश्वरः—ईश्वर, सर्वनिर्माता—समूचे सृष्टि का निर्माण करने वाला है, न—नहीं, इह—यहां, अन्यः—दूसरा, इति—ऐसा, निश्चयी—निश्चय करने वाला, अन्तर्गलित सर्वाशः—जिसके अन्तःकरण में सभी प्रकार की आशाएं गल चुकी हैं, शान्तः—शान्त, क्वापि—कहीं भी, न—नहीं, सज्जते—आसक्त होता ।

प्रसंग—सबको बनाने वाला वह परमेश्वर है, दूसरा कोई नहीं, ऐसा जो दृढ़ पूर्वक जानता है, वह प्राणी शांत है । उसकी समस्त इच्छाएं जड़ से समाप्त हो गई हैं । वह कभी भी आसक्त नहीं होता ।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि आसक्ति (लिसता) सृष्टि का कारण नहीं है, बल्कि स्वयं की कामना है, प्यास है, कुछ पाने की इच्छा है, स्वयं का यह स्वार्थ ही (लिसता) का कारण है, आसक्ति में दो का होना आवश्यक है । यह शरीर, मकान, पत्नी, पुत्र, रिश्तेदार आदि को एकदम अलग मानते हैं । जिसके कारण व्यक्ति की इच्छाएं बढ़ती हैं, यदि प्राणी अकेला हो तो उसे इच्छाएं करने की क्या आवश्यकता है, इसलिए अष्टावक्र कहते हैं इस संसार में कहीं भी कोई विविधता नहीं है, वही एक चेतन शक्ति विविध रूपों में प्रकट हुई है, अतः यह समस्त संसार ही परमेश्वर है, सभी में उस चेतन तत्त्व का फैलाव है, इसीलिए सबकी रचना करने वाला वो परमेश्वर ही है और कोई नहीं है, लेकिन जिस व्यक्ति ने आत्मज्ञान को जान लिया है, वहीं ऐसा निश्चय करके मान सकता है । ज्ञान रहित व्यक्ति को सन्देह बना रहता है, अतः आत्मज्ञानी ही शांत हो सकता है । जब उसे समस्त संसार में एक तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तो उसकी सब इच्छाएं, आकांक्षाएं और प्यास आदि सबका जड़ से विनाश हो जाता है, फिर वह दोबारा इन सांसारिक भोगों में लिस नहीं होता । ईशावस्य उपनिषद्



भी कहता है कि “इस सृष्टि में जो भी है, सब कुछ परमेश्वर का ही है, इसलिए त्याग पूर्वक इसका उपभोग कर” जो परमेश्वर को पहचान लेता है कि वही सब कुछ है, जो प्राप्त हुआ है, वह भी उसी का दिया हुआ है, जो नहीं मिला है, वह भी उसी की इच्छा से नहीं प्राप्त हो सका है। तो त्याग स्वयं ही हो जाता है, संघर्ष समाप्त हो जाते हैं, अशांति समाप्त हो जाती है, आकांक्षाएं समाप्त हो जाती हैं, जो मिला है जो हो रहा है, प्राणी उसमें तृप्त होकर जीवन व्यतीत करता है, ऐसा प्राणी ही परम आनंद को प्राप्त होता है।

### सूत्र-3

आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी।

तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वाञ्छति न शोचति ॥

शब्दार्थ—आपदः—आपत्ति, सम्पदः—सम्पत्ति, काले—समय में, दैवात्—भाग्य से, एव—ही, इति—ऐसा, निश्चयी—निश्चय रखने वाला, तृप्तः—संतुष्ट, स्वस्थेन्द्रियः—इंद्रियों के विचरण में संतुलित हुआ, नित्यम्—सदैव, न—नहीं, वाञ्छति—चाहता है, न—नहीं, शोचति—शोक करता है, चिंता करता है।

प्रसंग—विपत्ति और सम्पत्ति दैवयोग से ही समय पर आती हैं, ऐसा निश्चय वाला पुरुष सदा संतुष्ट स्वस्थेन्द्रिय हुआ न कोई कामना करता है, न शोक करता है।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि भारतीय धर्म की यह एक बड़ी विचित्र एवं वैज्ञानिक धारणा है। सब कुछ ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है, समय से पहले कुछ नहीं हो सकता, ‘माली सींचे सौ घड़ा ऋतु आए फल होत’। गीता में भी ऐसा ही कहा गया है, ‘कर्म (कार्य) पर तेरा अधिकार है फल (परिणाम) पर नहीं फल तो ईश्वर देता है। भाग्य में परमात्मा ने जो लिख दिया उससे ज्यादा या कम प्राप्त होने का तो प्रश्न ही नहीं है, ऐसी अनेक धारणाएं धर्म का अंग हैं, इससे प्राणी के जीवन में कोई तनाव नहीं है, अशांति नहीं है। सांसारिक

सुख-संपत्ति की कमी में भी वह प्रसन्न रहता है, आनंद है, पश्चिम में ऐसा विचार है कि वह समय आने से पहले ही प्राप्त कर लेना चाहता है। सब कुछ अपनी इच्छा के अनुरूप ही प्राप्त कर लेना चाहता है, लेकिन ऐसा होता नहीं है, यही कारण है कि समस्त भौतिक (नाशवान) सुविधाओं के होते हुए भी पश्चिम समाज (सभ्यता) व्याकुल है। पागल व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि हो रही है। व्यक्ति का नैतिक और आध्यात्मिक पतन हो रहा है, इसका कारण केवल इतना है कि संसार के चेतन तत्त्वों के नियम को वो नहीं जानते हैं, उनका समस्त ज्ञान भौतिक तत्त्वों पर ही केन्द्रित हो गया है जिसके कारण वह विज्ञान के क्षेत्र में तो आगे निकल गया है, परन्तु आध्यात्म में वह बहुत पीछे है, जिसका परिणाम वह सहन कर रहा है। सभी कार्य अपने समय आने पर ही होते हैं। समय से पहले प्राप्त करने का कोई तरीका नहीं है। समय आने पर बीज उगता है, और समय आने पर ही उस बीज रूपी वृक्ष पर फल आता है। जिस प्रकार शिशु का जन्म नौ महीने के बाद ही होता है, काम वासना का प्रभाव चौदह वर्षों के बाद ही आता है। फसल उगाने का भी अपना निश्चित समय है। संसार का प्रत्येक कार्य अपने निश्चित समय पर ही सम्पन्न होता है। व्यक्ति समय से पहले इसे नहीं कर सकता, वह समय आने का इन्तजार (प्रतीक्षा) कर सकता है। इसी प्रकार सभी कार्य दैवयोग (ईश्वर) की दया से ही सम्पन्न होते हैं। जब सभी स्थितियां अपने अनुकूल होती हैं, उस समय में ही कार्य सम्पूर्ण होते हैं। परमेश्वर न तो करने वाला (कर्ता) है और न ही दया करने वाला है। उसके समस्त कार्य प्रकृति की सहायता से ही सम्पूर्ण होते हैं, जिसके अपने नियम-कानून हैं। वह किसी पर करुणा करके अपने नियमों में संशोधन नहीं करता है न क्रोधित होकर किसी को सजा देता है। व्यक्ति के शुभ और अशुभ कार्यों को भी ईश्वर नहीं कराता, न उनके कार्यों का लेखा-जोखा रखता है और न ही उनका अच्छा-बुरा फल (परिणाम) देता है। इन समस्त कार्यों को प्रकृति ही स्वयं करती है। प्रकृति में समस्त प्रकार के

सभी पदार्थ बीजरूप में स्थित हैं और उचित समय आने पर ही उत्पन्न होते हैं, जिस समय में उनकी परिस्थिति निर्मित हो जाती है, उसी समय में विकसित होने लगते हैं, जिस प्रकार बीज के अन्दर पूरा वृक्ष स्थित है, लेकिन उचित भूमि, स्वाद; जलवायु और पानी को पाकर ही वह वृक्ष (पेड़) का रूप धारण करता है, बीज का होना ही आवश्यक नहीं है, इसी प्रक्रिया को दैवयोग कहा जाता है। व्यक्ति अपने कर्मों (कार्यों) के फल को उपयोग करता है, यही परमेश्वर का न्याय है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि विपत्ति (संकट) और संपत्ति (धन) दैवयोग से ही प्राणी को प्राप्त होते हैं, जिस ज्ञानी व्यक्ति को ऐसा ज्ञान हो जाता है, वह सदैव सन्तुष्ट और स्वस्थ रहता है और न कोई इच्छा करता है और न ही प्राप्त होने पर दुःखी होता है, वह हमेशा मानसिक स्थिति में तनावग्रस्त नहीं होता। और यही उसके स्वस्थ रहने के गुण हैं, इसकी उल्टी स्थिति में ज्ञान रहित व्यक्ति समय से पहले ही अपने कार्य का फल प्राप्त करना चाहता है और उसे फल प्राप्त न होने पर उसमें तनाव एवं मानसिक रोग उत्पन्न हो जाएंगे, जिनसे बचने का यही एकमात्र उपाय है।

#### सूत्र-4

सुखदुःखे जन्म-मृत्यु दैवादेवेति निश्चयी।

साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

शब्दार्थ—सुख-दुःखे—सुख-दुःख में, जन्ममृत्यु—जन्म-मृत्यु में, दैवात्—भाग्य से, एव—ही, इति—ऐसा, निश्चयी—निश्चय करने वाला, साध्यादर्शी—लक्ष्य आदर्श है, जिसका, निरायासः—बिना किसी परिश्रम के, कुर्वन्नपि—करता हुआ भी, न—नहीं, लिप्यते—लिस होता।

प्रसंग—सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु को 'भाग्य से प्राप्त हुआ' ऐसा निश्चय करने वाला और सिर्फ अपने लक्ष्य के प्रति लगा हुआ, कार्यों को सहज रूप से करता हुआ संसार की किन्हीं परिस्थितियों व विषय वस्तुओं में लिस नहीं होता।



**व्याख्या**—अष्टावक्र बताते हैं कि सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु भी दैवयोग के कारण ही होती है। व्यक्ति के अधिकार में कुछ नहीं है। अगर व्यक्ति के क्षेत्र में होता तो वह कष्ट और मरण (मृत्यु) से हमेशा के लिए स्वतन्त्र हो जाता है, लेकिन वह ऐसा नहीं कर सकता। वह केवल भोगने वाला है, इसलिए ज्ञानी व्यक्ति इनको दैवयोग मानकर करने योग्य कार्यों को करता है, जिसके कारण वह उनमें आसक्त नहीं रहता। दैवयोग से होता हुआ जानकर वह करने वाला कर्ता से स्वतन्त्र हो जाता है, स्वार्थ के भाव से मुक्त हो जाता है, उसे परम शांति प्राप्त होती है। और वह उन कार्यों में आसक्त नहीं होता है। केवल कमल के समान कीचड़ में देखने वाला रह जाता है। इस प्रकार के कार्य को करने में किसी प्रकार की मेहनत नहीं करनी पड़ती, आनन्द प्राप्त होता है, चिन्ताओं से मुक्त रहता है। जय-पराजय, हानि-लाभ, सफलता-विफलता सब उसी के हैं, मैं तो केवल साधन मात्र हूँ, उसके लिए हूँ ऐसा जानने वाला व्यक्ति ज्ञानी, निर्भर, तनावों से युक्त होकर जीवन-यापन करता है। इसके विपरीत ज्ञान रहित व्यक्ति अपने आपको करने वाला मानकर, फल की कामना से कार्य करता है, जिसके कारण वह हमेशा कष्ट, अशान्ति चिन्ता एवं तनाव ग्रस्त रहता है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। साथ ही साथ आध्यात्मिक सत्य भी है कि ऐसा कार्य करने वाला व्यक्ति ज्ञानी कार्य फल को उपभोग नहीं कर सकता। आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ व्यक्ति फल की इच्छा न करके कार्य करता है, उसके कार्य प्राणिमात्र के हित के लिए होते हैं, वह कार्यों को शरीर और इन्द्रियों को धर्म मानकर कार्य सम्पूर्ण करते हैं, आत्मा का नहीं, उसमें कार्य को करने वाले का भाव कर्ता नहीं होता, जिसके कारण उस पर कार्यों का फल का नियम नहीं लगता। वह कार्य के फल से स्वतन्त्र ही रहता है। भारतीय अध्यात्म दैवयोग, भाग्य, ईश्वर, फल की इच्छा का त्याग आदि पर विशेष महत्त्व देता है, जिससे उसे शांति प्राप्त हो सके।

## सूत्र-5

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी।

तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः ॥

शब्दार्थ—चिन्तया—चिन्ता से, जायते—उत्पन्न होता है, दुःखः—दुख, नान्यथा—दूसरे से नहीं, इह—संसार में, इति—ऐसा, निश्चयी—निश्चय करने वाले, तया—उससे (चिन्ता से), हीनः—हीन, सुखी—सुख का अनुभव करने वाला, शान्तः—शान्त, सर्वत्र—सभी जगत्, गलित स्पृहः—जिसकी इच्छाएं गल चुकी हैं।

प्रसंग—चिन्ता से दुःख पैदा होता है अन्यथा नहीं। ऐसा जो निश्चय पूर्वक जानता है वह सुखी और शांत है। सर्वत्र उसकी इच्छा गलत है और वह चिन्ता से युक्त है।

व्याख्या—अष्टावक्र बताते हैं कि जहां पर स्वार्थ है, वहीं कर्ता (करने वाला भावना) है, अर्थात् ऐसा मैं ही कर रहा हूं, जहां ऐसी भावना है, वहीं पर फल की इच्छा होती है और चिन्ता होती है वही कष्ट है। ज्ञानी व्यक्ति ही ऐसा जानता है कि मैं इस कार्य को करने वाला (कर्ता) नहीं हूं मैं तो साधनमात्र हूं, समस्त कार्य परमेश्वर के ही कार्य हैं, उसी की आज्ञा और प्रेरणा से मैं यह कार्य कर रहा हूं। मैं तो केवल बांसुरी हूं, बजाने वाला तो वही परमेश्वर है, ये स्वर भी उसी के हैं। ऐसा जानकर व्यक्ति जो कार्य करता है, वह चिन्ता से मुक्त होकर जीवन व्यतीत करता है, वही व्यक्ति सुखी एवं शान्त है। इस भावना के कारण इस व्यक्ति की सब इच्छाएं नष्ट हो जाती हैं। वह अपनी इच्छा से नहीं बल्कि परमेश्वर की आज्ञा जानकर कार्य करता है, अतः वह चिन्ता से स्वतन्त्र रहता है। जिस प्रकार छोटा बच्चा अपने पिता की अंगुली पकड़कर निश्चिंत हो जाता है, उसी प्रकार व्यक्ति भी परमात्मा की आज्ञा मानते हुए निश्चिंत होकर जीवन-यापन करता है। जो परमेश्वर के शासन (शक्ति) में विश्वास नहीं करते उनका जीवन अनेक प्रकार की चिन्ताओं से भरा हुआ रहता है। इसलिए



मानसिक स्थिति को बनाए रखने के लिए परमेश्वर की ऐसी कामना को मानना बहुत ही आवश्यक है। परमेश्वर हैं या नहीं यह इतना महत्त्व नहीं है, जितना उसको मानना आवश्यक है।

### सूत्र-6

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।

कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्॥

शब्दार्थ—न—नहीं, अहम्—मैं, देह—शरीर (हूं), न—नहीं, मे—मेरा, देहोः—शरीर (हैं), बोधः—ज्ञानरूप हूं, इति—ऐसा, निश्चयी—निश्चय रखने वाला, कैवल्यम्—विदेह मुक्ति को, इव—की तरह, संप्राप्तः—प्राप्त हुआ, नः—नहीं, स्मरति—स्मरण करता है, अकृतम्—जिसे नहीं करना है, जो नहीं किया गया, कृतम्—जिसे करना है।

प्रसंग—मैं शरीर नहीं हूं, देह मेरी नहीं है, मैं तो बोध रूप चैतन्य हूं, ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह व्यक्ति कैवल्य को प्राप्त होकर किए और अनकिये कार्य का स्मरण नहीं करता।

व्याख्या—अष्टावक्र बताते हैं कि जो व्यक्ति आत्म-ज्ञान को जान लेता है, वह स्वयं को निश्चित ही ज्ञान स्वरूप आत्मा ही मानता है। उसका देह (शरीर) से नाता टूट जाता है, इसलिए ज्ञानी व्यक्ति ऐसा कहता है कि—‘मैं शरीर नहीं हूं, बल्कि आत्मा हूं’। आत्मा का कोई निश्चित आकार न होने से वह कहता है कि ‘मेरा शरीर नहीं’ है। ज्ञानी व्यक्ति ही ऐसा जानता है जिसके कारण वह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है, एक तत्त्व को जान लेने वाला व्यक्ति अपने को आत्म स्वरूप मानता है, जिसके कारण वह करने वाले और न करने वाले कार्यों का ज्ञान (याद) नहीं करता क्योंकि जो कार्य किए गए हैं वे शरीर के द्वारा किए गए हैं, जो नहीं किए गए हैं, वे केवल कल्पना तक ही रह गए हैं। वे मन (चित्त) की सीमा में आते हैं। दोनों का आत्मा से कोई सम्बन्ध न होने से उनको याद नहीं करता।

## सूत्र-7

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति

निश्चयी ।

निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः ॥

शब्दार्थ—आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्—ब्रह्मा से लेकर चींटी तक, अहम्—मैं, एव—ही, इति—ऐसा, निश्चयी—निश्चय करने वाला, निर्विकल्पः—सभी प्रकार के विकल्पों से परे, शुचिः—शुद्ध, शान्तःशान्तः—शान्त शुद्ध, प्राप्ताप्राप्त—प्राप्त और अप्राप्त से, विनिर्वृतः—ऊपर उठा हुआ (सुखी होता है) ।

प्रसंग—ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त 'मैं ही हूँ' ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह निर्विकार, शुद्ध, शांत और प्राप्त-अप्राप्त से निवृत्त होता है ।

व्याख्या—अष्टावक्र बताते हैं कि ज्ञान रहित व्यक्ति शरीरों को देखता है, पदार्थों को देखता है, इसलिए उसे विविधता दिखाई पड़ती है, परन्तु ज्ञानी व्यक्ति इस सारे संसार को एकत्व ब्रह्म को, आत्मा को देखता है जिससे इस संसार का अस्तित्व है, इसीलिए इसे इस समस्त संसार में एकता दिखाई देती है, एक समानता दिखाई देती है, जिस व्यक्ति ने आत्मा को जान लिया, वह आत्मरूप ही हो जाता है। वह सारी शक्ति को अपनी ही शक्ति मानने लगता है। अलग-अलग शरीरों एवं अलग-अलग आत्माओं का अज्ञान नष्ट हो जाता है। अष्टावक्र बताते हैं कि जिस ज्ञानी व्यक्ति को ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है कि मैं आत्मा हूँ और ब्रह्मा से लेकर चींटियों तक मेरा ही फैलाव है। मैं एक ओर अविभाजित हूँ, यह संसार मेरा नहीं, बल्कि मैं ही संसार हूँ, मेरे से कुछ अलग है ही नहीं। ऐसा जानने वाला व्यक्ति बिना किसी विकल्प वाला हो जाता है। दूसरा कोई विकल्प नहीं रहता। वह व्यक्ति ही शांत और पवित्र हो जाता है। वह शुद्ध स्वर्ण बन जाता है। जितने दोष, अशुद्धता उसमें भी वो सब समाप्त हो जाती हैं। अब ऐसा व्यक्ति प्राप्त होने या न होने पर दुखी नहीं होता है। दोनों स्थितियों से

अलग हो जाता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति ही कह सकता है कि सब कुछ मेरा है या मेरा कुछ भी नहीं है” यही ज्ञानी व्यक्ति की अवस्था है। और यही मोक्ष है।

### सूत्र-8

नानाश्चर्यमिदं विश्वं किञ्चिदिति निश्चयी।

निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ॥

शब्दार्थ—नानाश्चर्यम्—विविधताओं से भरा हुआ, नाना रूपात्मक, इदम्—यह, विश्वम्—विश्व, न—नहीं, किञ्चित्—कुछ भी, इति—ऐसा, निश्चयी, निश्चय करने वाला, निर्वासनः—सभी वासनाओं से परे, स्फूर्तिमात्रः—चेतनारूप, बोधरूप, न—नहीं, किञ्चित्—कुछ भी, करता हुआ, शाम्यति—शान्त रहता है, शांति को प्राप्त करता है।

प्रसंग—अनेकों आश्चर्य वाला यह संसार कुछ भी नहीं है, अर्थात् मिथ्या है, ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह वासना रहित, बोध-स्वरूप पुरुष इस प्रकार शांति को प्राप्त है, मानो कुछ भी नहीं है।

व्याख्या—अष्टावक्र जनक से कहते हैं जिसने शाश्वत (सदैव रहने वाले को) पहचान लिया वह इस क्षण मात्र को जानने में प्रीति नहीं रखता है। जिसने अनमोल को जान लिया वह तुच्छ पर क्यों ध्यान देगा। जो व्यक्ति अध्यात्म के परम सुख को पीकर मग्न हो गया, वह द्वैत (द्वैत) के अशान्ति कष्टकारी और चिन्ता से भरे हुए घेरे में क्यों जाएगा। फिर उसकी क्षणिक एवं समाप्त हो जाने वाले जगत् के लिए कामना, लीनता आदि सब बुराइयां समाप्त हो जाती हैं और वह परम आनंद को प्राप्त हो जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि यद्यपि यह जगत् अनेक आश्चर्यों से परिपूर्ण है, लेकिन आत्म आनन्द के आगे कुछ भी नहीं है, सब बेकार है, बिना रस वाला है। ज्ञान स्वरूप व्यक्ति ऐसा निश्चित ही जानता है, इसलिए वह जगत् को झूठा जानकर शान्ति को प्राप्त होता है। जगत् में सत्य, आनन्द, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि

का जो अनुभव होता है, वह सब व्यक्ति की कामना और अभिमान के कारण है जिनसे कामना और अभिमान की वृद्धि होती है, वही सच्चा सुख दिखाई पड़ता है, लेकिन इसका उल्टा (विपरीत) हो जाने पर व्यक्ति को कष्ट होता है। यह संसार अपने नियमों से चलता है, उसे प्रत्येक प्राणी के सुख-दुःख की चिन्ता नहीं है, व्यक्ति अपने को उन नियमों के अनुसार बनाकर सुख को प्राप्त हो सकता है, लेकिन विपरीत स्थिति हो जाने पर दुःखी होता है। आत्म-ज्ञानी व्यक्ति इस भेद को जान जाता है, जिससे वह संसार की शर्तों (कानूनों) के अनुसार व्यवहार करता हुआ संसार की अवहेलना (निन्दा) करता है, उसे झूठा-बेकार, असत्य समझने लगता है। इसी से उसे शांति प्राप्त होती है, इसके विपरीत सांसारिक ज्ञान रहित व्यक्ति संसार के नियमों में पड़कर अशांति को ही प्राप्त होता है। ज्ञानी व्यक्ति एवं ज्ञान रहित व्यक्ति में यही भेद होता है। संसार के नियमों का ज्ञात हो जाना ही ज्ञान है, और इनको न जानना ही अज्ञान है। इसलिए ज्ञानरूपी दीपक को जलाने से अंधकार रूपी अज्ञानता को मिटाया जाता है, यह भाग जाने से नहीं अपितु जगाने से होगा। त्याग (छोड़) देने से नहीं, बल्कि ग्रहण करने और जानने से होता है।

□□



## बारहवां अध्याय

### सूत्र-1

( जनक-उवाच )

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः ।

अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥

शब्दार्थ—कायकृत्यासहः—शरीर से होने वाले कर्मों को नहीं सहन कर पाया, पूर्वम्—पहले, ततः—उसके बाद, वाग्विस्तरासहः—वाचिक कर्म मुझसे नहीं सहे गए, अथ—उसके बाद, चिन्तासहः—मानसिक कर्मों को सहन नहीं कर पाया, तस्मात्—उससे, एवम्—ऐसा, अहम्—मैं, अस्थितः—स्थित हूँ।

प्रसंग—राजा जनक आत्म-ज्ञान के बाद हुई अनुभूतियों का वर्णन अष्टावक्र जी के सामने करते हुए कहते हैं—पहले मैं शारीरिक कर्मों का न सहारने वाला हुआ फिर वाणी के विस्तृत कर्म का न सहारने वाला हुआ। इस प्रकार मैं स्थित हूँ।

व्याख्या—अष्टावक्र और राजा जनक दोनों आत्म-ज्ञानियों का आपस में बड़ा मीठा संवाद चल रहा है। दोनों आत्मज्ञानियों को एक ही अनुभव हुआ जिसके कारण ये संवाद संभव हो सका है, एक ज्ञानी और एक अज्ञानी में संघर्ष तो हो सकता है लेकिन संवाद (वार्तालाप) होना असंभव है। अष्टावक्र के ज्ञान के उपदेश को सुनकर ही जनक को आत्मज्ञान का अनुभव हो सका। अब वे अपने द्वारा हुए अनुभव को अष्टावक्र के समक्ष बता रहे हैं। जनक कहते हैं कि कामना के कारण मन में लहरें उठती हैं, जिससे मन में विचारों की संकल्प-



विकल्प की व्याकुलता होने लगी है ये ही विचार बोलने और शरीर की क्रियाओं में दिखाई पड़ते हैं, इन सबका विरोध करने से ही आत्मज्ञान होता है। पतंजलि कहते हैं, 'चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।' गीता में कहा है, 'यह मन कठिनाई से ही वश में आता है।' पतंजलि बताते हैं कि 'अभ्यास और वैराग्य' से मन की वासनाओं का विरोध होता है, अतः अभ्यास और वैराग्य आत्मज्ञान के लिए अति आवश्यक है। जनक बताते हैं कि पहले मैंने शारीरिक कार्यों का विरोध किया, फिर वाणी (बोलने) के कार्यों का विरोध किया और फिर मानसिक कार्यों को रोकने के लिए निरोध किया। इस प्रकार से मुझे आत्मज्ञान की प्राप्ति हो सकी। शरीर और इन्द्रियों से जो कार्य किए जाते हैं उनके साथ फल की इच्छा, आशा-निराशा, लाभ-हानि, सुख-दुःख और अनेक प्रकार की इच्छाएं लगी रहती हैं, जिनसे हृदय में तरंगें उठती हैं, इनको रोकने के लिए व्यक्ति जाप, तपस्या, यज्ञ, आसन, हठयोग आदि शारीरिक कार्यों को करते हैं, जिसके कारण और नई भावनाएं उत्पन्न होने लग जाती हैं, अगर शारीरिक कार्यों को रोक भी दिया जाए तो भी वाणी (बोलने) के कार्य चलते रहते हैं। भजन-कीर्तन, मन्त्रों का उच्चारण, प्रवचन (उपदेश) अखण्ड-पाठ इत्यादि कोई न कोई चलता रहता है। इनको रोक देने पर भी चित्त में अनेक संकल्प, विकल्प, विचार आदि चलते रहते हैं। ये तीनों प्रकार कार्य जब तक शान्त नहीं होते, तब तक मन को भी शान्ति नहीं होती और मन के शान्त हुए बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं। इन तीनों प्रकार के कार्यों को रोकने का केवल एक उपाय है कि इनके प्रति उपेक्षा रखना अर्थात् समान भाव रखना। कार्य से कार्य को रोकने के प्रयास में नए कार्य उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए इन्हें उपेक्षित करना, इनके प्रति उदासीन होना, देखने वाला ही एक रास्ता है। शरीर, चित्त और वाणी (बोलने) के कार्य स्वयं होते हैं, स्वभाव के कारण होते हैं, नींद में और बेहोशी की अवस्था में भी स्वयं ही होते रहते हैं। स्वप्न (सपने) में भी चित्त अपना कार्य करता रहता है। ये शरीर भी स्वयं ही

चलता रहता है, सारे कार्य प्राकृतिक हैं। इसी प्रकार चित्त (मन) और वाणी (बोलने) के कार्य भी स्वभाव के कारण होती हैं, व्यक्ति जब इन्हें रोकने का प्रयास करता है तो इनकी गति और तेज हो जाती है, अतः व्यक्ति को इनसे अलग होकर केवल देखने वाला होने से इनको रोका जा सता है, इसी से मन शांत एवं एकाग्र हो सकता है। मित्र-शत्रु, निंदा-प्रशंसा, त्याग-ग्रहण, राग-विराग, सभी उपद्रव हैं, दोनों में ही रस है, स्वार्थ है, ग्रहण में स्वार्थ है तो त्यागने में भी स्वार्थ है, शत्रु, निंदा, विराग भी विपरीत स्वार्थ है। इसलिए जनक कहते हैं कि मैं तीनों प्रकार के कार्यों को न करने वाला हुआ। इस प्रकार अब मैं चेतन आत्मा में स्थापित हूँ।

## सूत्र-2

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः ।

विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥

शब्दार्थ—प्रीत्यभावेन—प्रीति के अभाव में, शब्दादेः—शब्दादि विषयों के, अदृश्यत्वेन—इन्द्रियों की पहुंच से परे होने, च—और, आत्मनः—आत्मा के, विक्षेपैकाग्रहृदय—विषयों से एकाग्रहृदय वाला, एव—ही, अहम्—मैं, अस्थितः—स्थित हूँ।

प्रसंग—शब्द आदि ऐन्द्रिक विषयों के प्रति राग के अभाव से और आत्मा की अदृश्यता से प्राप्त विक्षेपों से जिसका मन मुक्त होकर एकाग्र हो गया—ऐसा ही मैं स्थित हूँ।

व्याख्या—जनक कहते हैं कि चित्त में काम-वासनाएं हैं, उनको पूरा करने के लिए शरीर का सहयोग लेना पड़ता है। व्यक्ति के शरीर में पांच ज्ञान के केन्द्र और पांच कर्म (कार्य) के इन्द्रियां हैं, इन ज्ञानेन्द्रियों के नाम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषय हैं। जिनका शरीर के अंगों (इन्द्रियों) की सहायता से उपयोग कर मन प्रसन्न होता है। इसी से राग उत्पन्न होता है और बार-बार उपयोग करने की इच्छा होती है, यह चित्त स्वयं ही एक सबसे बड़ा शैतान है। यह ना तो

उपयोग करने से ही प्रसन्न होता है और ना ही उनका त्याग करने से। शरीर के उपभोग रुक जाने पर वाणी के उपभोग शुरू हो जाते हैं, वाणी के उपभोग रोकने पर मानसिक उपभोग चलने शुरू हो जाते हैं। चित्त भोग (स्वीकार) त्याग (छोड़ने) दोनों से ही अशान्त (व्याकुल) रहता है, उसके अन्दर वासनाएं लगातार चलती रहती हैं। उसके उपस्थित होने से भोग और त्याग दोनों ही बेकार हो जाते हैं। मन को शान्त करके व्यक्ति जो जप, तपस्या, यज्ञ आदि कर्मकाण्ड करते हैं, इनसे नई भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए ये दोनों ही कार्य मन को इन आशाओं से स्वतन्त्र नहीं कर पाते हैं। आत्मा दिखाई नहीं देती, ध्यान और समाधि में बैठ जाने वाले व्यक्ति को आत्मा का ज्ञान नहीं हो पाता। आत्मा को तो केवल एहसास किया जा सकता, बोध होता है। वह दृश्य विषय नहीं है, स्वयं देखने वाली है। इन्द्रियों के सारे कार्य उसी के द्वारा हो रहे हैं। शरीर, चित्त, बुद्धि आदि जड़ हैं, साधन मात्र हैं जो उस आत्मा रूपी चेतन शक्ति के द्वारा गतिशील हैं, जड़ पदार्थ चेतन को कैसे देख सकता है। इसीलिए जनक को आत्म-ज्ञान हो जाने से वह इस स्थिति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि व्यक्ति को आत्मज्ञान हो जाने से सारी इच्छाएं समाप्त हो जाती हैं, आत्मा का ज्ञान न होने से व्यक्ति अनेक प्रकार के कष्टों और वासनाओं में लिप्त है। अतः अब मुझे आत्मज्ञान हो जाने से समस्त इच्छाओं का विनाश हो गया है तथा आत्मा के अज्ञान से जो मन में व्याकुलता थी, उनसे भी मेरा चित्त मुक्त होकर एकाग्र हो गया है, अब मैं केवल आरम्भ में स्थित हूं। यही आत्मज्ञानी की स्थिति है।

### सूत्र-3

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये ।

एवं विलोक्य नियममेव मेवाह मास्थितः ॥

शब्दार्थ—समाध्यासादिविक्षिप्तौ—भ्रम के परिणामस्वरूप उठने वाले विभिन्न विक्षेपों में, व्यवहारः—व्यवहार, समाधये—समाधि



के लिए, एवम्—ऐसा, विलोक्य—देखकर, नियमम्—नियम को, इव—की तरह, अहम्—मैं, अस्थितः—स्थित हूं।

**प्रसंग**—सम्यक् अभ्यास आदि के कारण विक्षेप होने पर ही समाधि का व्यवहार होता है। ऐसे नियम को देखकर समाधि रहित मैं स्थित हूं।

**व्याख्या**—जनक कहते हैं कि आत्मा के ज्ञान न होने के कारण ही व्यक्ति मन (चित्त) शरीर, बुद्धि (मति) व इन्द्रियों का सेवक हो जाता है। वह भोग-वासनाओं में प्रीति करने लगता है, जिसके कारण विविध प्रकार की कामनाएं उत्पन्न होती हैं। ये सारी कामनाएं अभ्यास मात्र हैं, सन्देह के कारण हैं तथा प्राणी की अज्ञानता के कारण हैं। आत्मज्ञान के प्रकाश (उजाले) से ही सत्य और गलत, सच्चाई व सन्देह बुद्धि और मूर्खता का पता चलता है। इस अज्ञान को समाप्त करने के लिए और आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए व्यक्ति समाधि का अभ्यास करते हैं, आत्मा का ज्ञान समाधि की स्थिति में होता है। लेकिन जनक ने आत्मज्ञान को प्राप्त कर लिया इसलिए अब वे इनको समान दृष्टि भावना से देख रहे हैं, वे अब समाधि को त्याग कर आत्मा में ही स्थित हो गए हैं। अब उन्हें समाधि की आवश्यकता भी नहीं है। लक्ष्य प्राप्त हो जाने पर साधन स्वयं ही छूट जाते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि ज्ञान रहित व्यक्ति के मन में जो वासनाएं आती हैं, जिसके कारण उन्हें समाधि को अपनाना पड़ता है। लेकिन मैं आत्म स्वरूप हूं, इसलिए समाधि के बिना ही मैं इस विधि को देख रहा हूं। अब मुझे इस विधि का अभ्यास करने की जरूरत नहीं है। अब मैंने आत्मा का आनंद प्राप्त कर लिया है, इसका अर्थ केवल इतना है कि आत्मज्ञान बोध से किया जा सकता है। जिस व्यक्ति में बोध नहीं है, उसी व्यक्ति को ध्यान, धारणा, समाधि आदि को करना पड़ता है। अन्यथा इसका कोई महत्त्व नहीं। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐसा आवश्यक नहीं कि यह समाधि के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। अहिंसा, सत्य, दया, करुणा आदि गुणों के बिना नहीं हो सकेगा। यम, नियम, आसन, प्राणायाम के

बिना होगा नहीं। आत्मा तो सदैव प्राप्त ही है। उसे तो केवल जगाना है।

### सूत्र-4

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः ।

अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः ॥

शब्दार्थ—हेय—अनुपयोगी, उपादेय—उपयोगी, विरहात्—वियोग से, एवम्—इस प्रकार, हर्षविषादयोः—हर्ष और विषाद दोनों के, अभावात्—अभाव से, हे ब्रह्मन्—हे ब्रह्मरूप!, एवम्—इस प्रकार, अहम्—मैं, आस्थितः—स्थित हूँ।

प्रसंग—उपयोगी-अनुपयोगी से दूर, हर्ष और विषाद से परे आज मैं, हे ब्रह्मन्! जैसा हूँ, वैसी ही स्थिति को स्वीकार करके स्थित हूँ।

व्याख्या—जनक कहते हैं कि व्यक्ति को प्रसन्नता-अप्रसन्नता, उपयोगिता-अनुपयोगिता आदि भावनाओं का संबंध जब समाप्त हो जाता है, जब दोनों की ही कोई आवश्यकता दिखाई नहीं पड़ती है, अब जब उनकी सार्थकता-निरर्थकता दोनों ही नहीं रही, व्यक्ति के ऊपर दोनों का कोई प्रभाव नहीं होता है तो उसके फलस्वरूप होने वाली प्रसन्नता-अप्रसन्नता का अभाव हो गया है, अब इनका क्षणमात्र भी भाव नहीं रहा। जनक कहते हैं कि इसलिए मैं अपने स्वरूप में स्थित हूँ। इन दोनों से होने वाली व्याकुलता के कारण ही हम अपनी स्थिति से गिरते हैं।

### सूत्र-5

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतिवर्जनम् ।

विकल्पं यम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः ॥

शब्दार्थ—आश्रमानाश्रमम्—वर्णाश्रमों से संबंधित यथार्थ को, ध्यानम्—ध्यान को, चित्तस्वीकृतिवर्जनम्—चित्त द्वारा स्वीकृत विषयों का त्याग, विकल्पम्—विकल्पों को, मम—अपने (मेरे),



वीक्ष्य—देखता हुआ, एतैः—इनसे, एव—ही, अहम्—मैं, अस्थितः—स्थित हूँ।

**प्रसंग**—आश्रम है, अनाश्रम है, ध्यान है और चित्त का स्वीकार और वर्जन है। उन सबसे उत्पन्न हुए अपने विकल्प को देखकर मैं उन तीनों से मुक्त हुआ स्थित हूँ।

**व्याख्या**—जनक कहते हैं कि मूर्ख या ज्ञान रहित व्यक्तियों की कोई परेशानी नहीं होती। वे न तो सोचते हैं न कोई परंपरा ही बनाते हैं और न कोई नियम ही बनाकर चलते हैं। ज्ञानी व्यक्ति भी इन मान्यताओं, विचारों एवं नियमों से पार हो जाते हैं, जिसके कारण वे सदैव अपनी बुद्धि में जीते हैं। मूर्ख व्यक्ति के सामने समस्या (परेशानी) आती ही नहीं। ज्ञानी व्यक्ति समस्याओं से पार हो चुका है, अज्ञानी को अनुभव नहीं हुआ है, जबकि ज्ञानी ने अनुभव करके उसका त्याग कर दिया है, इसलिए दोनों में बहुत अन्तर है, लेकिन ज्ञान रहित व्यक्ति की विविध मान्यताएं होती हैं, अनेक कल्पना और नियम होते हैं, मूर्ख व्यक्ति के पास सोचने-समझने की मति नहीं होती। अज्ञानी व्यक्ति बुद्धि में ही जीवन व्यतीत करता है। तर्क-वितर्क विश्लेषण, विभाजन (बांटना) करके संसार को जानना चाहता है। इसीलिए एकतत्त्व का ज्ञान उसे नहीं हो पाता। ज्ञानी व्यक्ति को एक तत्त्व का ज्ञान हो जाने के कारण उसका सारा विभाजन, विश्लेषण अनेक तत्त्व, विविधताएं नष्ट हो जाती हैं वह बिना किसी चुनाव के परम सुख का स्वाद लेता है। यह सारी वर्ण-व्यवस्था (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) आश्रम व्यवस्था (ब्रह्मचर्य (युवावस्था) गृहस्थ-आश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास) आदि ज्ञान रहित व्यक्तियों के लिए हैं, जिससे वे इस क्रमिक अवस्थाओं से होते हुए विकास करके आत्मोन्नति को प्राप्त हो सके। इस प्रकार से कार्य और उसका परिणाम का विधान भी अज्ञानी व्यक्तियों के लिए है। ज्ञान रहित व्यक्तियों के लिए अनेक कार्यों का विधान है। भजन, कीर्तन, भक्त, पूजा, पाठ, जप, यज्ञ, हवन, कर्मकाण्ड, आचरण (व्यवहार) में सुधार, हठयोग आदि क्रियाएं आदि अनेक प्रकार की

साधनाएं हैं, फिर ध्यान, धारणा, समाधि आदि क्रियाएं हैं, जिनको करने से चित्त की शुद्धि होती है। तब आत्मज्ञान होता है। इसी प्रकार कुछ धर्म मन (चित्त) को स्वीकार करने के लिए कहते हैं कि जैसा है, वैसा ही स्वीकार कर लो, सब ईश्वरीय है। स्वीकार करने से तुम स्वतन्त्र (मुक्त) हो जाओगे। तन्त्र शास्त्र की भी यही विचारधारा है, हठ योग चित्त की चंचलता की बात करता है, मन को रोको, वासनाओं का भोग कत करो, उसकी एक भी इच्छा को स्वीकार मत करो। वह तो भटकाने वाला है, शरीर को भी कष्ट दो, क्योंकि उसी के कष्ट के कारण तुम सांसारिक विषय वासनाओं में फंसे हो। शरीर को नग्न, भूखा और कोड़े लगाओ, इसे सर्दी, गर्मी में भी बहुत कष्ट दो क्योंकि इसी के द्वारा हम पापी बने हैं। इसी को तपश्चर्या कहते हैं। ये सब क्यों? इसका विकल्प है आत्म-ज्ञान। ये सब कार्य करने से तुम्हें आत्मज्ञान होगा, तुम्हारी मुक्ति होगी। ये सब साधन ज्ञान रहित व्यक्तियों के लिए हैं, लेकिन जनक तो आत्मज्ञान को जान चुके हैं। उन्हें वह प्राप्त हो चुका है, जिसके लिए ज्ञान रहित व्यक्ति इन साधनों का सहयोग लेते हैं। इसलिए वे कहते हैं कि मेरे लिए वर्ण, आश्रम, ध्यान, चित्त को स्वीकार, वर्जन आदि की आवश्यकता नहीं है। इन सब साधनों को बिना प्रयोग किए ही मैंने आत्मज्ञान को प्राप्त कर लिया है, जनक की यह घोषणा सिद्ध अवस्था की घोषणा है। साधनावस्था में या अज्ञान की अवस्था में तो इनसे गुजरना ही पड़ेगा। जिसको ज्ञान न हो सके उसके लिए कोई न कोई विधि अपनानी ही पड़ेगी। यह कुछ ही व्यक्तियों के लिए उपयोगी हो सकती है। साधारण व्यक्ति में इससे भटकाव की स्थिति आ सकती है।

### सूत्र-6

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा ।

बुद्ध्वा सम्यगिदंतत्त्वमेवमेवा हमास्थितः ॥

शब्दार्थ—कर्मानुष्ठानम—कर्म के अनुष्ठान को, अज्ञानात्—

अज्ञान से, यथा—जैसे, एव—ही, उपरमः—उपराम हुआ, तथा—उसी प्रकार, बुद्ध्वा—जानकर, सम्यक्—भली प्रकार, इदम्—इस, तत्त्वम्—तत्त्व को, एवम्—इस प्रकार, एव—ही, अहम्—मैं, अस्थितः—स्थित हूं।

**प्रसंग**—जैसे कर्म का अनुष्ठान अज्ञान से है, वैसे ही उसके त्याग का अनुष्ठान भी अज्ञान से है। इस तत्त्व को भली-भांति जानकर मैं कर्म, अकर्म से मुक्त हुआ अपने में स्थित हूं।

**व्याख्या**—जनक कहते हैं कि इस जगत् में रहकर कर्म (कार्य) करना आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। कार्य अनेक प्रकार के हैं जैसे स्वाभाविक कार्य, आवश्यक कार्य, प्रति कार्य, निष्कार्य, अकार्य आदि। फिर कार्य शारीरिक एवं मानसिक भी होते हैं। जीवन ही कार्य है, मृत्यु कार्य का अभाव है। कार्य का प्रारम्भ व्यक्ति के जन्म लेते ही होने लगता है। और मृत्यु तक चलता रहता है। अतः कार्य को रोकना नामुमकिन है। गीता में कहा है—“क्षणमात्र भी कोई कभी कार्य न करता हुआ नहीं ठहरता है, क्योंकि प्रकृति के गुण ऐसे हैं जो कि प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करना ही पड़ता है। लेकिन जो कार्य अभिमान के कारण किए जाते हैं, कामना की पूर्ति करने हेतु किए जाते हैं, जिनके पीछे किसी प्रकार के फल की इच्छा होती है, ऐसे कार्य ही व्यक्ति के बन्धन का कारण बनते हैं। जिस कार्य (कर्म) में करने वाले का अहम् स्थित हो, ऐसा मैं कर रहा हूं, मैंने किया है, इस प्रकार जिस स्थान में ‘मैं’ का भाव हो वहीं कार्य का बन्धन है, क्योंकि यह अभिमान व ‘मैं’ की भावना अज्ञानता के कारण है। ये जप, तपस्या, योग-साधना, भजन, पूजा, यज्ञ ध्यान आदि भी मैं की भावना से ही किए जाते हैं, इनमें भी परिणाम की इच्छा रहती है, इसलिए ये भी कार्य बन्धन स्वरूप हैं। अभिमान और ज्ञान न होने के कारण किए गए कार्यों का परिणाम अवश्य मिलता है, अच्छे कार्यों का अच्छा व बुरे कार्यों का बुरा परिणाम मिलता है। अगर बुरे कार्य बन्धन हैं तो अच्छे कार्य भी बन्धन ही हैं। जंजीर चाहे लोहे की हो या सोने की, लेकिन



उसका कार्य तो बांधना ही है। इसी प्रकार कार्यों का त्याग करना भी बन्धन है, क्योंकि उसमें भी अहंकार (अभिमान) है। मैं की भावना उसमें भी है जो अभिमान और अज्ञान है। 'मैंने छोड़ दिया' इस भावना के रहते जो दान होता है, वह अभिमान को और बढ़ा देता है और इस दान की भावना के पीछे भी स्वार्थ होता है चाहे वह स्वर्ग प्राप्त करने की हो या मोक्ष प्राप्त करने की। अतः कोई भी कार्य जो अभिमान, अज्ञान से किए जाते हैं वह मुक्ति का साधन नहीं है। जनक इस सूत्र में बताते हैं कि जैसे कार्य का अनुष्ठान अज्ञान से होता है। वैसे ही उसके त्याग का अनुष्ठान भी अज्ञान के कारण होता है, दोनों के अन्दर मैं की भावना पाई जाती है जो कि अज्ञानता का कारण है। मैं आत्मज्ञान को पाकर ऐसा जान गया हूँ कि आत्मा का कोई कार्य नहीं है। वह करने वाली नहीं है। कार्य तो केवल अभिमान मात्र के कारण होते हैं। मैं अभिमान रहित होकर कार्य व अकार्य, कार्य और उनका त्याग, दोनों से ही स्वतन्त्र होकर अपने आत्म स्वरूप में स्थित हूँ। अभिमान रहित, स्वाभाविक रूप से किए गए कार्य (कर्म) नहीं हैं, ऐसा होकर मैं स्थित हूँ।

### सूत्र-7

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ।

त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥

शब्दार्थ—अचिन्त्यम्—मन-बुद्धि द्वारा जिसका चिन्तन नहीं किया जा सकता, ऐसे ब्रह्म को, चिन्त्यमानः—चिन्तन करता हुआ, अपि—भी, चिन्तारूपम्—चिन्तन रूप को, भजति—भजता है, असौ—यह पुरुष, त्यक्त्वा—छोड़कर, तद्भावनम्—उस भावना को, तस्मात्—उससे, एव—ही, अहमास्थितः—मैं स्थित हूँ।

प्रसंग—अचिन्त्य (ब्रह्म) का चिन्तन करते हुए भी वह पुरुष चिन्ता को ही भजता है। इसलिए उस भाव को त्याग कर मैं भावना मुक्त हुआ स्थित हूँ।

**व्याख्या**—जनक कहते हैं कि गीता में साधक (शिष्य) के लिए उपदेश दिया गया है लेकिन यह अष्टावक्र गीता सिद्ध अवस्था का अनुभव का वर्णन करती है, इसमें उपदेश नहीं बल्कि यह ज्ञान को जांचने वाली कसौटी है जिस पर किसी भी आत्मज्ञानी के ज्ञान को जांचा जा सकता है। जिसको ऐसा एहसास हुआ है कि वह ज्ञानी व्यक्ति है। इस जगत् में अनेक व्यक्ति स्वयं को सिद्ध, महात्मा, ज्ञानी, तीर्थों की यात्रा करने वाला, पैगम्बर, ईश्वर-पुत्र, भगवान, संत आदि बताते हैं, उन सबको अष्टावक्र गीता की कसौटी पर परखा जा सकता है। यदि उन्हें इसके अनुसार ही अनुभव हुआ है तो उन्हें आत्मज्ञानी या मुक्त व्यक्ति कहा जा सकता है वरना नहीं। उनको आत्मज्ञान की प्राप्ति का सन्देह हुआ है या वो नाटक करते हैं, आत्मज्ञानी व्यक्ति को ऐसी परम कसौटी और कोई नहीं है यह न तो मान्यता है और न ही नियम देश, काल, धर्म, सम्प्रदाय, जाति, वर्ग आदि के उस पार अध्यात्म पर दिया गया पवित्र वैज्ञानिक वर्णन है जो सारे आध्यात्मिक संसार की धरोहर हैं। धर्म के नाम पर प्रचलित अनेक नाटक करने वाले, पाखण्डी और ढोंगी के झूठे रहस्यों पर से पर्दा (आवरण) इसके द्वारा किया जा सकता है, राजा जनक यहां पर और भी महत्त्वपूर्ण तथ्य बताते हैं कि अनेक प्राणी कर्मकाण्ड, उपासना, भक्ति और कार्यों को त्यागकर केवल उस अचिन्त्य ब्रह्म का चिन्तन मात्र करते हैं, वे ऐसा मानते हैं कि उनका (परमात्मा) का चिन्तन करने से ही उन्हें मोक्ष प्राप्त हो जाएगा। जनक यह भी कहते हैं कि यह सन्देह ही है। पहले तो ब्रह्म निराकार (बिना आकार वाले हैं) उनका चिन्तन (मनन) हो ही नहीं सकता। फिर चिन्तन की भी उसे चिन्ता होगी कि आज चिन्तन (भजन) नहीं किया, आज ध्यान नहीं किया या आज उस प्रभु के नाम जपने के लिए समाधि नहीं लगाई। इस प्रकार के चिन्तन (मनन) में करने वाले का कर्ता भावना लगी रहती है अतः ऐसा कार्य करने वाला व्यक्ति परमात्मा को नहीं बल्कि चिन्ता का भजन करता है। मैं आत्मज्ञान को उपलब्ध होकर इस परमात्मा का चिन्तन (भजन) करने की भावना से मुक्त होकर अपने में स्थित हूँ।



## सूत्र-8

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ ।

एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ ॥

शब्दार्थ—एवम्—ऐसा, एव—ही, कृतम्—किया गया, येन—जिससे, सः—वह, कृतार्थो—कृतार्थ, भवेत्—हो जाता है, असौ—पुरुष, एवम्—इस प्रकार, एव—ही, स्वभावो—स्वभाव वाला, यः—जो, सः—वह, कृतार्थो—कृतार्थ, भवेत्—होता, है, असौ—वह पुरुष ।

प्रसंग—जिसने साधनों से क्रिया रहित स्वरूप अर्जित किया है—वह पुरुष कृतकृत्य है और जो ऐसा ही (स्वभाव से ही) स्वभाव वाला है, वह तो कृतकृत्य है ही, इसमें कहना ही क्या ?

व्याख्या—राजा जनक बिना कोई साधना, जप, तपस्या, योग, भक्ति, पूजा, उपासना, ध्यान, कर्म (कार्य) को किए बिना ही आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर लिया लेकिन वे यह नहीं कहते हैं कि ये सब साधन बेकार है, इनका कोई औचित्य नहीं है। इनको नहीं करना चाहिए। इनसे करने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी या ये तुम्हें अपने मार्ग से विचलित कर देंगे जैसा कि जे. कृष्णामूर्ति कहते हैं कि करना कुछ भी नहीं है। लेकिन इससे व्यक्ति में भटकाव की स्थिति आ सकती है, अतः राजा जनक कहते हैं कि यह आत्मा करने वाली नहीं है। इसके क्रिया रहित स्वरूप को जिस व्यक्ति ने ऊपर बताए गए साधनों से प्राप्त किया हो, वह पुरुष कृतकृत्य है। उसे भी आत्मा के सुख का अनुभव होगा, उसका प्रयास भी बेकार नहीं होगा। साधना के द्वारा भी आत्मज्ञान को प्राप्त करने की विधि है। इसको जनक अस्वीकार नहीं करते, लेकिन जो स्वभाव से ही आत्म भाव वाला है वह तो धन्य है ही। इसे कहना ही क्या। ऐसी आत्म-भावना वाला व्यक्ति ही परम ज्ञानी है, चाहे वह स्वयं ही स्वभाव के कारण प्राप्त हुआ हो या किसी साधन के द्वारा। प्राप्त करने में कोई अन्तर नहीं है। रास्ते तो बहुत हैं लेकिन उद्देश्य तो एक ही है। लक्ष्य तो एक ही है।



## तेरहवां अध्याय

### सूत्र-1

#### जनक-उवाच

अकिञ्चन भवं स्वास्थ्य कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम् ।

त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥

शब्दार्थ—अकिञ्चन भवम्—बेचारगी से पैदा हुआ, स्वास्थ्यम्—अपने चित्त की स्थिर स्थिति, कौपीनत्वेऽपि—कौपीन धारण करने पर भी, दुर्लभम्—मुश्किल से प्राप्त होती है, त्यागदाने—छोड़ने और लेने में, विहाय—छोड़कर, अस्मात्—इससे, अहम्—मैं, आसे—स्थित-स्थिर हूं, यथासुखम्—परम सुखपूर्वक ।

प्रसंग—नहीं है कुछ भी—ऐसी भावना से पैदा हुआ जो स्वास्थ्य (चित्त की स्थिरता) है, वह कोपीन को धारण करने पर भी दुर्लभ है। इसीलिए त्याग और ग्रहण दोनों को छोड़कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूं।

व्याख्या—राजा जनक को आत्मज्ञान को जाने अब उन्हें शरीर, चित्त, स्वाभिमान आदि को अपने से अलग जानने लगे हैं। सृष्टि के जितने भी कार्य, भावना, कल्पना, दान, ग्रहण, अच्छा-बुरा आदि हैं वे सब चित्त, शरीर और स्वाभिमान के कारण हैं। आत्मा इन सबसे अलग केवल देखने वाली है उसका इन सबसे कोई नाता नहीं है। ये सारे कार्य प्रकृति के द्वारा ही होते हैं। राजा जनक आत्मज्ञान की परम अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। जिससे वो कहते हैं, अब मेरे लिए यह जगत्, कर्तव्य, त्याग, ग्रहण आदि का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि आत्मा का इनसे किसी प्रकार का कोई रिश्ता नहीं होता। इस प्रकार

की भावना से मैं मन की स्थिरता जो कि उसका स्वास्थ्य है, उसको प्राप्त हो चुका हूँ। सागर की तरंगों जिस प्रकार शांत हो गई हैं, उसी प्रकार से मेरा मन भी शान्त हो चुका है, अब किसी प्रकार की कोई इच्छा रूपी लहर नहीं उठती। मन का शान्त हो जाना ही आत्मज्ञान की स्थिति है, जिसके चित्त में व्याकुलता है, तरंगे उठती हैं, उनको अभी आत्मज्ञान ही प्राप्ति नहीं हो सकती है। जनक कहते हैं कि मन की ऐसी शांत अवस्था, जगत् का त्याग कर देने तथा कोपीन को धारण कर लेने से संभव नहीं है, सब कुछ को त्याग कर संन्यासी का वेश धारण कर लेने से अथवा वस्त्रों का त्याग कर देने से व्यक्ति आत्मज्ञानी नहीं हो सकता। इस प्रकार के कार्य तो पाखण्डता को दर्शाते हैं। इससे मन की व्याकुलता शान्त न हो सकेगी। जनक कहते हैं कि मेरे मन की व्याकुलता शान्त हो जाने के कारण अब मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। स्वीकार और छोड़ देना तो मन की व्याकुलता के कारण होते हैं।

## सूत्र-2

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।

मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषाथे स्थितः सुखम्॥

शब्दार्थ—कुत्र—कहीं, अपि—भी, खेदः—दुःख है, कायस्य—शरीर के, जिह्वा—वाणी, कुत्रापि—कहीं भी, खिद्यते—खिन्न होती है, मनः—मन, कुत्रापि—कहीं भी, तत्त्यक्त्वा—उनको छोड़कर, (उनको त्याग करके), पुरुषार्थे—अन्तिम पुरुषार्थ रूप मोक्ष में, स्थितः—स्थित होकर, सुखम्—सुखपूर्वक।

प्रसंग—कहीं तो शरीर का दुःख है, कहीं वाणी का दुःख, कहीं मन दुःखी होता है। इसीलिए तीनों को त्यागकर मैं पुरुषार्थ में (आत्मा के आनन्द) में सुखपूर्वक स्थित हूँ।

व्याख्या—व्यक्ति शारीरिक, मानसिक और वाणी के कष्ट से पीड़ित है। शरीर अनेक प्रकार के रोगों की जड़ है। शरीर ही सबसे बड़ा विपत्ति है। इस शरीर के रहते हुए व्यक्ति को सुख प्राप्त होना



संभव नहीं है। शारीरिक कष्ट, बीमारी, थकान, शरीर के किसी अंग का बेकार हो जाना, जीवन-यापन के लिए शारीरिक मेहनत करना आदि शारीरिक कष्ट हैं। व्यक्ति में बोलने की शक्ति न होना, मन की भावनाओं को बिना विचार किए ही व्यक्त कर देना, गलत शब्द कहना, कठोर वचन कहना, अधिक बोलना या आवश्यकता होने पर भी न बोलना आदि वाणी के कष्ट हैं। वाणी के रोग के कारण ही अधिकांश बुद्धिमान व्यक्ति पागल हो जाते हैं, गूंगे व्यक्ति का तो जीवन ही व्यर्थ हो जाता है, ये समस्त वाणी के कष्ट हैं। चित्त के तो अनेक कष्ट हैं। कमी, अपमान, चिन्ता, आशा, महत्त्वाकांक्षा, बुरे-विचार, प्राप्त करने की चिन्ताएं, नष्ट हो जाने की चिन्ताएं, रख-रखाव की परेशानी, सुरक्षा की समस्या, चयन-उपचयन की चिन्ता आदि से सदैव व्यक्ति को कष्ट रहता है। इस जगत् में स्वस्थ चित्त वाला व्यक्ति मिल जाना असंभव है, इसलिए राजा जनक कहते हैं कि मैं इन तीनों प्रकार के कष्टों से मुक्त होकर आत्मा के आनन्द में सुखपूर्वक स्थित हूँ। आत्मा को जानने वाला व्यक्ति ही आत्म-आनन्द का अनुभव कर सकता है। जो व्यक्ति शरीर, चित्त और वाणी के कष्टों से प्रभावित नहीं होता, आत्म बल को पा लेना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थी है, इसी से आत्मा की उपलब्धि होती है।

### सूत्र-3

कृतं किमपि नैव स्यादिति संचिन्त्य तत्त्वतः।

यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वाऽऽसे यथासुखम्॥

शब्दार्थ—कृतम्—किया गया, किमपि—कुछ भी, नैव—नहीं ही, स्यादिति—ऐसा होता है, संचिन्त्य—विचार करके, तत्त्वतः—तात्त्विक रूप से, यदा—जब, यत्कर्तुम्—जो करने को, आयाति—आ पड़ता है, तत्कृत्वा—वह करके, आसे—स्थित हूँ, यथा सुखम्—पूर्णरूप से सुखी हूँ।

प्रसंग—किया हुआ (कर्म) कार्य भी वास्तव में आत्मकृत नहीं

होता। ऐसा यथार्थ विचार कर मैं जब जो कुछ कर्म करने को आ पड़ता है, उसे करके सुखपूर्वक स्थित हूँ।

**व्याख्या**—जनक कहते हैं कि व्यक्ति के कार्य दो प्रकार के होते हैं, कुछ तो स्वाभाविक हैं जो कि प्रकृति के द्वारा होते हैं। इनको करना नहीं पड़ता। इनको करने के लिए शारीरिक श्रम भी नहीं करना, जैसे स्वांस लेना, भोजन को पचाना, हृदय का धड़कना, शरीर में खून (रक्त) का बहना आदि शारीरिक कार्य स्वयं होते रहते हैं, ये कार्य व्यक्ति सोते समय भी करता रहता है। अतः इन्हें कार्य नहीं कहा जा सकता। लेकिन कुछ कार्य ऐसे हैं जिनको व्यक्ति अपना फर्ज (कर्त्तव्य) जानकर करता है। कुछ प्राप्त करने की कामना से करता है। संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए करता है, भोगने की कामना से करता है, सुख, शान्ति और आनन्द के लिए करता है। अपने विकास एवं उन्नति के लिए करता है। दूसरों के कल्याण के लिए करता है, राग, द्वेष (कलह) ईर्ष्या (घृणा) से करता है, इत्यादि कार्यों का बड़ा विशाल जाल है, इन समस्त कार्यों में कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो आत्मा के द्वारा किया गया हो। आत्मा तो करने वाली है ही नहीं। उसका नाता न तो कर्म करने से है और न ही उसका परिणाम देने से। इन सारे कार्यों का नाता तो शरीर, मन और अभिमान से है। अभिमान के कारण किया जाने वाला कार्य का फल तो प्राप्त होगा ही। करने वाले लक्ष्य, फल की कामना से किया गया प्रत्येक कार्य कर्म है, यहां तक कि मोक्ष, मुक्ति, स्वर्ग-प्राप्ति एवं शक्ति-लाभ के लिए जो भी कार्य किया जाता है, वह भी कर्म (कार्य) ही है। जहां पर व्यक्ति करने वाला है या जिस स्थान में 'मैं' उपस्थित है, वही कार्य है तथा उस कार्य को करने वाले व्यक्ति को उसका फल भोगना ही पड़ता है। आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर लेने वाले व्यक्ति भी तो कर्म (कार्य) करते ही हैं, उन्हें भी खाने-पीने की व्यवस्था सम्बन्धी, सुरक्षा-सम्बन्धी कार्य करने पड़ते हैं, बल्कि वे भी उन्हीं सब कार्यों को करते हैं जो कि ज्ञान रहित व्यक्ति करते हैं। वे त्यागी या संन्यासी होकर, कोपीन धारण



करके वनों में नहीं रहते यदि इन कार्यों में स्वार्थ है तो ये ही व्यक्ति के बन्धन हैं। ज्ञानी व्यक्ति अभिमान रहित होकर स्वाभाविक रूप से कार्य करते हैं, उनको न तो कार्यों को करने के लिए विवश होना पड़ता है और न छोड़ने का क्योंकि आत्म-ज्ञान हो जाने से वो यह जानते हैं कि इस कार्य को करने या न करने से हम पर क्या प्रभाव होगा। ये सभी कार्य प्रकृति के द्वारा किए जाने वाले हैं और मैं प्रकृति से अलग चेतना स्वरूप हूँ। अतः जनक कहते हैं कि मुझे ऐसा ज्ञान हो जाने से अब बिना आग्रह पूर्वक जो कार्य करना पड़ता है, उसे कर लेता हूँ, कार्य करने और न करने से कामना का त्याग हो गया है, इसीलिए मैं परम सुखी हूँ।

### सूत्र-4

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्ध भावा देहस्थ योगिनः ।

संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम् ॥

शब्दार्थ—कर्म—करने, नैष्कर्म्य—न करने, निर्बन्ध—बंधे हुए, भावा—भावना से, देहस्थ—देह में स्थित, योगिनः—योगी हैं, संयोग—मिलने, वियोग—बिछुड़ने के, विरहात्—त्याग से, अहम्—मैं, आसे—स्थित हूँ, यथासुखम्—पूर्णरूप से सुखी।

प्रसंग—कर्म और निष्कर्म के बन्धन से संयुक्त भाव वाले शरीर में आसक्त जो योगी हैं मैं इस देह के संयोग-वियोग से सर्वदा पृथक् होने के कारण सुखपूर्वक स्थित हूँ।

व्याख्या—जनक कहते हैं कि जिस व्यक्ति को शरीर से प्रीति है वहां अभिमान का होना आवश्यक है और जहां अहंकार है वहां कर्ता (करने वाला) उपस्थित है, कर्ता के उपस्थित रहते हुए जो भी किया जाएगा वो कार्य ही होगा। निष्कर्म का अर्थ है, स्वार्थ रहित कार्य (कर्म) को छोड़ देना निष्कर्म नहीं है, कार्य का अभाव भी निष्कर्म नहीं है, आलस्य व मृतक व्यक्ति भी निष्कर्म को प्राप्त नहीं कर पाते। जहां पर 'मैं' का अभाव है, जिस कार्य को करने के बाद व्यक्ति किसी

लक्ष्य, फल की इच्छा नहीं करता है, वही निस्वार्थ कार्य है। संन्यासी भीख मांगने वाले को भी कार्य तो करना ही पड़ेगा। कार्य का त्याग करना ईश्वरीय कार्यों में रुकावट पहुंचाता है। कार्य तो करना चाहिए परन्तु उसे ईश्वर की आज्ञा के अनुसार करो। कर्त्तापन से मुक्त हो जाओ। करने वाला (कर्त्ता) का ज्ञान ही अभिमान है जो कि प्रथम पाप है (कर्त्ता) करने वाला तो परमात्मा है, सब उसकी आज्ञा से चल रहा है, कार्य न करना भी उसके कार्य में रुकावट करना है, जो कि पाप है। निष्कर्म स्वार्थ रहित कार्य होता है, कुछ प्राप्त करने के लिए कुछ छोड़ देना भी उचित नहीं है, यह समझौता है, यह त्याग नहीं है। वासना (इच्छापूर्ति) के लिए किया गया भजन, प्रार्थना, पूजा आदि भी निष्कर्म (स्वार्थ) रहित नहीं है। यह स्वार्थ रहित कार्य भी कष्टों का कारण है। दो रुपये का मन्दिर में प्रसाद चढ़ाकर दो-चार आरती कर लेने से भगवान के सामने अपने मांगों की सूची रखकर उनसे उन्हें पूरी करने का प्रयास करते हैं। मांगना तो यह जगत् है और न मांगते हुए ही उपासना है भक्ति है। गीता में कहा है—“इस लोक में कर्म-सिद्धि को चाहने वाले व्यक्ति देवताओं की पूजा करते हैं।” देवता सहयोग करते हैं, ईश्वर स्वयं नहीं देता, शरीर के लिए जरूरी (उपयोगी) कार्यों (कर्मों) का करने वाला, स्वाभाविक रूप से कार्य करने वाला कार्य करते हुए भी कर्म (कार्य) बन्धन से स्वतन्त्र है। आग्रहपूर्वक, जिद के द्वारा किया जाने वाला प्रत्येक कार्य बन्धन है। त्याग और ग्रहण दोनों में निवेदन होने पर बन्धन है। आशा ही तृष्णा का कारण है कार्य को त्यागकर उपदेश देने वालों ने संसार को भटकाया है। जीवन और कर्म (कार्य) समानार्थी है। व्यक्ति में या तो दोनों का समावेश होगा या दोनों ही नहीं रहेंगे। योगी व्यक्ति की तपस्या शरीर से आरम्भ होती है जो कि साधन की प्रथम सीढ़ी है, इसलिए वह शरीर से प्रीति रखता है, इस प्रीति के प्रभाव के कारण वह कार्य (कर्म) और निष्कर्म दोनों में समान भाव वाला होता है, क्योंकि शरीर में प्रीति के कारण वह जो भी करेगा वह कर्म (कार्य) ही होगा। निःस्वार्थ की साधना भी शरीर में

प्रीति रखकर ही करेगा अतः वह दोनों को समान भावना से होने वाला होकर बन्धनों वाला हो जाएगा, लेकिन जनक कहते हैं कि मैं इस शरीर के जुड़ने (संयोग) वियोग (अलग) होने, दोनों से अलग चेतन आत्मा में स्थित हूँ, इसीलिए मैं परम सुखी हूँ। अब कर्म, निष्कर्म आदि मेरे बन्धन नहीं हैं क्योंकि मेरी इनमें न तो प्रीति है और न ही अप्रीति।

### सूत्र-5

अर्थानर्थो न मे स्थित्या गत्या वा शयनेन वा।

तिष्ठन् गच्छन् स्वप्नतस्मादहमासे यथासुखम् ॥

शब्दार्थ—अर्थः—शुभ, अनर्थो—अशुभ, न—नहीं, मे—मेरी, स्थित्या—स्थिर रहने से, गत्या—गति से, वा—और, शयनेन—सोने से, वा—और, तिष्ठन्—बैठे हुए, गच्छन्—चलते हुए, स्वप्न—सोते हुए, तस्मात्—उससे, अहम्—मैं, आसे—स्थित हूँ, यथासुखम्—सुखपूर्वक।

प्रसंग—स्थिरता हो, गति हो, शयन हो, बैठना हो, चलना-फिरना हो या फिर स्वप्न की स्थिति—ये व्यावहारिक कर्म-क्रियाएं न मेरे लिए शुभ हैं न ही अशुभ, ऐसा स्वीकार कर मैं परम सुख में स्थित हूँ।

व्याख्या—जनक कहते हैं कि जब व्यक्ति के शरीर का अभिमान कष्ट हो जाता है तो उसमें कर्तृत्व ही नहीं रहता तो उसका परिणाम भी नहीं होता। तब तो सब कुछ करते हुए भी तत्त्व ज्ञानी न करने वाला हो जाता है और न करने वाले को कष्ट नहीं होता। इसी कारण तो जनक सुखी हैं वो जागते हुए हों या सोते हुए या स्वप्न में। यहां पर भी जनक 'अर्थानर्थो' कह रहे हैं, न अर्थ है, न अनर्थ ही है। न शुभ है और न अशुभ है, ये शब्द संघर्ष से जुड़े हुए हैं। ये शब्द सापेक्ष हैं। अगर व्यक्ति शुभ अच्छा चाहता है तो उसे अशुभ को भी स्वीकार करना होगा और अगर अशुभ है, तभी तो इच्छा है, शुभ प्राप्त करने की। या



अच्छा प्राप्त करने की। जनक कहते हैं कि मैं आत्म-ज्ञान को प्राप्त हो गया हूँ, जो मेरा स्वभाव था अब मैं अपने स्वभाव के कारण ही जीवित हूँ, लाभ-हानि, अच्छा-बुरा की दृष्टि से नहीं जीवित हूँ।

### सूत्र-6

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्थत्नवतो न वा।

नाशोल्लासो विहायास्मादह मासे यथासुखम्॥

शब्दार्थ—स्वपतः—सोते हुए, नास्ति—नहीं है, मे—मेरी, हानिः—हानि, सिद्धिः—सिद्धि, यत्नवतो—प्रयास करते हुए, न—नहीं है, वा—अथवा, नाशः—हानि, उल्लास—लाभ, विहाय—छोड़कर, असम्पद्—इसी वजह से, अहम्—मैं, आसे—स्थित हूँ, यथासुखम्—सुखपूर्वक।

प्रसंग—सोते हुए मुझे हानि नहीं है, न यत्न करते हुए मुझे सिद्धि है। इसलिए मैं हानि-लाभ दोनों को छोड़कर सुखपूर्वक स्थित हूँ।

व्याख्या—जनक आगे कहते हैं कि मेरे सारे कार्य (कर्म) अब स्वभाव से अपने आप हो रहे हैं। प्रकृति के विरुद्ध भी कोई कार्य नहीं हो रहा है। अब मुझे सोते समय भी किसी तरह का कोई नुकसान नहीं है, नींद आना स्वभाव है तो मैं सो जाता हूँ, स्वभाव के विरुद्ध मैं नींद से जागता भी नहीं, ऐसा विचार नहीं करता कि सोते रहने से मुझे नुकसान (हानि) हो जाएगी, मेरा कार्य बिगड़ जाएगा, मेरे व्यवसाय में हानि होगी। और न मैं ऐसा सोचता हूँ कि बहुत प्रयास करने से बहुत बड़ा फल मिल जाएगा। स्वभाव से जितने की आवश्यकता है, उतना लाभ-हानि की चिन्ता या लक्ष्य-निर्धारण ही अशान्ति का कारण है। ज्ञानी व्यक्ति इन सबसे पार हो जाता है, उसे परम सुख प्राप्त हो जाता है। जबकि संसारी व्यक्ति इनसे दुःखी रहता है।

### सूत्र-7

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्त्य भूरिशः।

शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥



शब्दार्थ—सुखादिरूपानियमम्—सुख-दुःख की अनियमितता को, भावेषु—जन्म-जन्मान्तरों में, आलोक्य—देखकर, भूरिशः—बारबार, शुभाशुभे—शुभ-अशुभ (दोनों को), विहाय—छोड़कर, अस्मात्—इसी कारण, अहम्—मैं, आसे—स्थित हूं, यथासुखम्—पूर्ण सुख से।

प्रसंग—अनेक परिस्थितियों में सुख की अनित्यता को बारंबार देखकर और शुभ और अशुभ दोनों को छोड़कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूं।

व्याख्या—जनक कहते हैं कि ज्ञान रहित व्यक्ति इस जगत् में दुःख ही देखता है। उसे इस जगत् में कष्टों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता। वह कष्टों को बढ़ाकर और सुख को घटाकर देखने का आदी हो चुका है। इनके लिए वह सारा संसार, समाज और भगवान (प्रभु) तक को दोष देता है। कष्टों की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिए वह अनेक प्रकार के अच्छे-बुरे कार्य करता है। दूसरे व्यक्तियों को कष्ट देकर वह स्वयं सुखी होने का प्रयास भी करता है, लेकिन जनक कहते हैं कि मैंने कई अवस्थाओं, जन्मों में देख लिया है कि जैसे कष्ट अनित्य हैं, सदैव रहने वाले नहीं हैं, समाप्त तो होना ही है, उसी प्रकार सुख भी अनित्य है। वो भी सदैव रहने वाला नहीं है वे भी नष्ट होंगे। यह संसार का नियम है। मैंने आत्मा के आनन्द को प्राप्त कर लिया है। इसलिए अब मेरा शुभ-अशुभ कार्यों दोनों से पार हो गया हूं। ज्ञान रहित व्यक्ति ही इनमें उलझकर परेशान, चिन्तित और दुःखी रहते हैं। ज्ञानी व्यक्ति इनसे पार हो जाने से सदैव आत्मा के आनन्द में स्थित हुआ सुखपूर्वक जीता है। यह स्थिति ही मोक्ष है।

□ □

## चौदहवां अध्याय

### सूत्र-1

( जनक-उवाच )

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः ।

निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः ॥

शब्दार्थ—प्रकृत्या—स्वभाव से, शून्यचित्तः—शून्य चित्त वाला, यः—जो, प्रमादा भावभावनः—प्रमादपूर्वक विषयों का सेवन करने वाला, निद्रितः—सोता हुआ, बोधितः—जागा हुआ, इव—की तरह, क्षीण संसरणः—क्षीण सागर वाला, हिः—क्योंकि, सः—वह ।

प्रसंग—राजा जनक कहते हैं—जो स्वभाव से ही शून्य-चित्त है, पर प्रमाद से विषयों की भावना करता है और सोता हुआ भी जागने के समान है—वह पुरुष संसार से मुक्त है ।

व्याख्या—बारहवें और तेरहवें प्रकरण में राजा जनक अनुभूति का वर्णन करते हैं कि आत्मा को जान लेने से ही मुक्ति नहीं है, बल्कि उसे प्राप्त कर लेने से मुक्ति होती है । यही परम सुख है । प्राप्त करने के बाद भी मन की व्याकुलता को पूर्ण रूप से शांत करने के लिए उसमें लगातार स्थिर रहना भी अति आवश्यक है, जिसके कारण बहुत से जन्मों में किए गए पाप वासनाओं के बीज को समाप्त किया जा सके । जब यह बीज ही समाप्त हो जाता है, तभी उसे कैवल्य पद प्राप्त होता है । ऐसा व्यक्ति सारे में उसी आत्मा को देखता है, यही आत्मज्ञान की अवस्था है । इस प्रकरण में जनक मुक्ति का वर्णन कर रहे हैं जो कि

आत्मज्ञान हो जाने के बाद की अवस्था है। आत्मज्ञान की अवस्था में यदि इच्छा या भोग का थोड़ा-सा बीज शेष रह जाता है तो वह उचित समय पाकर दोबारा अंकुरित हो सकता है, इस बीज को समाप्त करना ही मुक्ति है। राजा जनक कहते हैं कि आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ व्यक्ति स्वभाव से शून्य होता है। उसके मन से सभी इच्छाएं, भोग वासना और संस्कार आदि की लहरें शांत होकर मन की व्याकुलता समाप्त हो चुकी है, अब उसमें चयन-उपचयन नहीं है, ऐसी अवस्था को प्राप्त हुआ ज्ञानी व्यक्ति हमेशा जागता रहता है। सोते समय केवल शरीर का थोड़ा-सा हिस्सा ही सोता है। शरीर की समस्त क्रियाएं पहले की तरह ही चलती रहती हैं, सोते समय में जिस प्रकार व्यक्ति स्वांस, रक्त प्रवाह, स्नायु संस्थान, मन आदि अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। वे सोते ही नहीं। केवल व्यक्ति के दिमाग का थोड़ा-सा भाग ही सोता है, थोड़ा आराम कर लेता है लेकिन चेतन शक्ति कभी आराम नहीं करती। वह नींद में भी जागती रहती है। सोना चेतना का गुण नहीं है। इसलिए जनक कहते हैं कि मैं आत्म-स्वरूप हूं, अतः सोता हुआ दिखाई देते भी जागता रहता हूं। शरीर सो जाता है, लेकिन आत्मा कभी नहीं सोती। इस प्रकार आत्मा को जान लेने वाला ज्ञानी व्यक्ति इस जगत् से मुक्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति यदि सांसारिक विषयों की भावना जाग्रत हो भी जाए तो वह वासना और प्रीति से युक्त न होकर प्रमादपूर्वक करता है। आत्म-ज्ञानी के क्रियामाण कार्य तो बन्द हो जाते हैं, क्योंकि वह करने वाला (कर्त्ता) नहीं रह जाता। संचित कार्य भी आत्मज्ञान से समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि कार्यों (कर्मों) का नाता मन से है, वह नहीं रहने पर कार्यों का भी नाश हो जाता है। लेकिन शुरू में जो कार्य कर चुका है, जिनके परिणामस्वरूप यह शरीर और जीवन प्राप्त हुआ है। उसे इस जन्म में आत्मज्ञान हो जाने के बाद भी भोगने पड़ते हैं। इनका भोग किए बिना मुक्ति नहीं होती। इसलिए आत्म-ज्ञानी को भी शेष कार्यों का फल भोगना आवश्यक है, तभी व्यक्ति की मुक्ति हो पाएगी। यदि उनका फल नहीं भोगो तो वे कार्य

उस पर अपना प्रभाव दिखाते हैं। जनक कहते हैं कि मैं अब सांसारिक विषयों की कामना, से न करके, प्रमादपूर्वक, शुरू होकर करता हूँ। इस जन्म में जो भोग मुझे विवशता के कारण भोगने हैं, ईश्वरीय विद्या के अनुसार उनको तो भोगना ही पड़ेगा, लेकिन मैं अभिमान से मुक्त हूँ।

## सूत्र-2

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः ।

क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, धनानि—धन, क्वः—कहां, मित्राणि—हितचिन्तक, विषयदस्यवः—विषय रूपी डाकू (लुटेरे), क्व—कहां, शास्त्रम्—शास्त्र, क्व—कहां, च—और, विज्ञानम्—विज्ञान, यदा—जब, मे—मेरी, गलिता—गलकर नष्ट होगी, स्पृहा—इच्छा।

प्रसंग—जब मेरी इच्छा नष्ट हो गई तब मेरे लिए कहां धन, कहां मित्र, कहां विषय रूपी चोर हैं, कहां शास्त्र है, कहां ज्ञान है?

व्याख्या—जनक कहते हैं कि आत्म-ज्ञान के सुख के अभाव से ही व्यक्ति शारीरिक एवं मानसिक सुख-प्राप्ति हेतु सांसारिक भोगों की ओर प्रेरित होता है। उसे इस प्रकार का सन्देह है कि ये विषय ही उसे सुख दे सकते हैं, लेकिन ये विषय और इनसे प्राप्त होने वाला सुख अनित्य (सदा रहने) वाला नहीं है। ज्ञानी व्यक्ति सदैव रहने वाले सुख को प्राप्त करता है। फिर उसका इन भौतिक विषयों के प्रति कोई मोह नहीं रहता। उस व्यक्ति की इन्हें प्राप्त करने की इच्छा ही नष्ट हो जाती है। बहुमूल्य प्राप्त हो जाने पर तुच्छ को पाने की इच्छा कौन रखता है। संपत्ति, सखा, सांसारिक भोग, शास्त्र, ज्ञान आदि व्यक्ति की कामना पूर्ति के उपकरण मात्र हैं, जब तक कामना अन्दर है तभी तक ये मूल्यवान पदार्थ प्रतीत होते हैं, इनमें रस मालूम होता है। यह जीवन व जगत् की कामना की दौड़ मात्र है। व्यक्ति दौड़ता ही जाता है,



लेकिन उसकी प्राप्त करने की प्यास कभी भी शांत नहीं होती। यह कामना उसकी कई जन्मों तक पीछा नहीं छोड़ती। इसी कारण से इस जगत् को मृग-मारीचिका का नाम दिया है। यह झूठी दौड़ है, जिसको प्राप्त करने पर भी व्यक्ति रिक्त ही रहता है। यह इच्छा जगत् की नहीं बल्कि धर्म की भी होती है। लेकिन इच्छा न रहने पर ही मन-शून्य होता है। यही अवस्था आत्मज्ञान की होती है। यहीं पर परमात्मा का निवास स्थान है। जनक कहते हैं कि जब मेरी इच्छा ही नष्ट हो गई तो मेरा मन शून्य हो गया, अब कामना की लहरें नहीं उठतीं, मन व्याकुल नहीं होता। अब मेरे लिए संपत्ति, सखा, विषय आदि तो क्या ग्रन्थ और ज्ञान का भी कोई महत्त्व नहीं रहा है। ये आत्मा को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं थे। केवल मन, शरीर और अभिमान संतुष्टि के लिए थे, जिनसे ही मैं आत्मानन्द के सुख को प्राप्त नहीं कर पाया। इन सांसारिक विषयों ने ही चोर के समान मेरी आत्मा को चुरा लिया था, अब मैंने वो दोबारा पाकर सुख को प्राप्त कर रहा हूँ।

### सूत्र-3

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।

नैराश्ये बन्धमोक्षे च न चित्ता मुक्तये मम॥

शब्दार्थ—विज्ञाते—जान लेने के बाद, साक्षिपुरुषे—साक्षी रूप, जीवात्मा को, च—और, परमात्मने—परमात्मा को, च—और, ईश्वरे—ईश्वर को, नैराश्ये—आशारहित, बन्धमोक्षे—बन्धन और मोक्ष, च—और, न—नहीं, चिन्ता—चिन्ता, मुक्तये—मुक्ति के लिए, मम—मेरी।

प्रसंग—साक्षी पुरुष, परमात्मा, ईश्वर, आशा-मुक्ति तथा बन्ध-मुक्ति के जान लेने पर मुझे मुक्ति के लिए चिन्ता नहीं है।

व्याख्या—जनक कहते हैं कि सारे संसार का कारण एवं आधार एक ही चेतन सत्ता है जिसे भारतीय अध्यात्म ने 'ब्रह्म' कहा है। इस ब्रह्म का स्वरूप है। सत्य ज्ञान अनंत 'ब्रह्म' यह ब्रह्म ही सत्य है, सदैव

रहने वाला है। ज्ञान स्वरूप है और इसका कभी अन्त नहीं होने वाला है। संसार के समस्त स्वरूप इसी के स्वरूप हैं। ब्रह्म से अलग कुछ नहीं है, सारे प्राणी संसार के अन्दर इसी का वास है, जिसे आत्मा कहा जाता है। शरीर, इन्द्रियों आदि के संयोग वाला यह आत्मा ही जीव है। इस प्राणी और ब्रह्म का बिना भेद रहित सम्बन्ध है जिसे गुरु आत्म-ज्ञानी शिष्य को ज्ञान उपदेश के रूप में देता है। 'अपमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) 'तत्त्वमसि' (वह तू ही है) वह ईश्वर या ब्रह्म तू जीव या आत्मा, असि है, ये महावाक्य हैं जो प्राणी और ब्रह्म की अभेदता का ज्ञान कराते हैं। शिष्य को इनका ज्ञान हो जाने पर वह कहता है 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) ब्रह्म कण-कण में व्याप्त हैं और प्राणी एक कोशीय और छोटा है। इस छोटे से रूप में जो चेतन-तत्त्व आत्मा है वही ईश्वर हैं। दोनों का अभेद रहित नाता चेतन में होता है। इस भेद-रहित को जो जान चुका है, वही मुक्त है। उसे मुक्ति की न साधना करनी पड़ती है। और न ही चिन्ता।

जनक कहते हैं कि शरीर-स्थित देह-इन्द्रियों आदि का साक्षी पुरुष यह प्राणी ही आत्मा है। जिसने इस साक्षी पुरुष आत्मा को जान लिया उसने इस परमात्मा (परम+आत्मा) को जान लिया, उसने परमेश्वर को पहचान लिया। आत्मा तो अल्प है लेकिन परमात्मा सर्वज्ञ। उसी आत्मा (आत्माओं में श्रेष्ठ) बताया है। ऐश्वर्य के कारण उसे 'ईश्वर' (परमेश्वर) कहा जाता है। ज्ञानी पुरुष आत्मा में एवं परमात्मा और परमेश्वर में भेद रहित सम्बन्ध है। जिस व्यक्ति ने इस रहस्य को जान लिया तो उसे इच्छाओं से मुक्ति और बन्धनों से मुक्ति की भी चिन्ता नहीं रहती। जनक को यह भेद रहित सम्बन्ध का ज्ञान हो जाने से ही वे कहते हैं कि इस देखने वाले साक्षी पुरुष परमात्मा, ईश्वर के भेद रहित सम्बन्ध को जान लेने से मैं आशा रहित एवं बन्धन मुक्त हो गया हूँ। अतः अब मुझे मुक्ति की भी चिन्ता नहीं है। स्वतन्त्र तो मैं था ही। बन्धन का जो सन्देह था वह समाप्त हो गया है, जिससे मैं शांत होकर स्थित हूँ। इस सूत्र का मूल अर्थ यही है कि आत्मा एवं परमात्मा के

अभेद को जान सके। यही ज्ञान की परम अवस्था है। जो दोनों में अन्तर देखते हैं, परमात्मा को आत्मा से अलग मानते हैं वे द्वैतवादी धर्म हैं। जो आत्मा, आत्मा में विविधता देखते हैं, वे आत्मा के नाम से प्राणी ही की व्याख्या कर रहे हैं। जनक कहते हैं यह अध्यात्म का अनुभव ही ज्ञान का अंतिम अनुभव है।

#### सूत्र-4

अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः ।

भ्रान्तस्येव दशास्तारस्तादृशा एव जानते ॥

शब्दार्थ—अन्तर्विकल्पशून्यस्य—जिसका अन्तःकरण समस्त विकल्पों से शून्य हो गया है, बहिःस्वच्छन्दचारिणः—बाहर से जो स्वच्छन्द विचरण करते हैं, भ्रान्तस्य—भ्रान्त की, एव—ही, दशा—स्थिति, तास्तादृशाः—उसी तरह के, एव—ही, जानते—जानते हैं।

प्रसंग—जो भीतर विकल्प से शून्य है और बाहर भ्रान्त हुए पुरुष की भांति स्वच्छन्दचारी है। ऐसे पुरुष की भिन्न-भिन्न दशाओं को वैसी ही दशा वाले पुरुष जानते हैं।

व्याख्या—इस सूत्र में जनक तत्त्व ज्ञानी की आंतरिक और बाहरी अवस्था का वर्णन करते हुए इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि उसे वही व्यक्ति जानता है, जो स्वयं वैसा होता है। यही कारण है कि महापुरुष को जानने में सांसारिक व्यक्तियों को गलती हुई है, उन्हें पहले समाप्त किया गया है, फिर उनकी पूजा की गई। सांसारिक व्यक्ति को उसको बाहरी आचरण (व्यवहार) अपना-सा लगता है। जिस व्यक्ति की सोच जैसी होती है वैसा ही उसे बाहरी संसार दिखाई देता है। यहां पर एक बात और है कि इस संसार में उन्हीं को सम्मान मिलता है, जो बाहरी रूप से अलग चलते हैं। नाटक के चक्करों में सांसारिक प्राणी बड़ी सरलता से उलझ जाता है।

□□



## पन्द्रहवां अध्याय

सूत्र-1

( अष्टावक्र-उवाच )

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान् ।

आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति ॥

शब्दार्थ—यथातथा—जैसे-तैसे, उपदेशेन—उपदेश से, कृतार्थः—कृतार्थ, सत्त्वबुद्धिमान्—सात्त्विक बुद्धिवाला, आजीवम्—जीवन पर्यन्त, अपि—भी, जिज्ञासु—जानने की इच्छा रखने वाला, परः—अन्य, तत्र—वहां, विमुह्यति—मोहित होता रहता है ।

प्रसंग—अष्टावक्र को विश्वास हो गया कि राजा जनक को जो आत्म-बोध हुआ है, वह वास्तविक है, भ्रान्ति नहीं हुई है । अतः अब वे उसकी पुष्टि करते हुए कहते हैं—सत्त्व बुद्धि वाला पुरुष थोड़े से उपदेश से ही कृतार्थ होता है । असत बुद्धि वाला पुरुष आजीवन जिज्ञासा करके भी उसमें मोह को ही प्राप्त होता है ।

व्याख्या—राजा जनक की अष्टावक्र आत्म-ज्ञान की पुष्टि हेतु फिर उपदेश करते हुए कहते हैं कि सत्त्व बुद्धि वाले पुरुष हृदय (अन्तःकरण) शुद्ध स्वच्छ होता है इसी कारण थोड़े से ज्ञान के उपदेश से ही उसे आत्मज्ञान हो जाता है । लेकिन कामना युक्त, राग-द्वेष, अभिमान, लालच, मोह, घृणा आदि से भरे हुए मन (चित्त) को स्वच्छ करने से बहुत समय लगता है, कई जन्म भी लग जाते हैं इसलिए ऐसी असत बुद्धि वाला पुरुष जीवन भर जिज्ञासा करके भी



आत्म-ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता। उसकी इच्छा केवल बुद्धि की होती है। वह धर्म और अध्यात्म को भी बुद्धि के बल पर ही समझना चाहता है। समझने से तर्क-वितर्क उत्पन्न होता है। दूसरे ग्रन्थों व धर्म के अध्ययन से वह कहीं समानता पाता है तो कहीं विरोध देखता है। इस प्रकार अध्ययन के आधार पर वह वास्तविक को भी बुद्धि द्वारा ही जानना चाहता है। जिसके द्वारा वह पंडित तो बन जाता है, लेकिन ज्ञानी नहीं बन सकता। उसे ग्रंथों से और अपने विवेक के ज्ञान से मोह हो जाता है, जिसके कारण वह उपलब्धि (परम ज्ञान) से वंचित रहता है। यह ज्ञान बुद्धि से परे चेतना का अनुभव है जो ध्यान या समाधि में बैठकर बोध से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त और भी विधि है। लेकिन उनकी एक ही शर्त है कि सतोगुण वाली बुद्धि व्यक्ति की होनी चाहिए। अवगुण रहित व्यक्ति ही इसको प्राप्त करने का अधिकारी है, जिज्ञासु नहीं। आत्मज्ञान की कोई साधना नहीं है। मात्र अज्ञान रूपी आवरण को हटाने की आवश्यकता है, जिसको हटाने में अधिक समय लगता है, इसी अज्ञान के कारण बुद्धि में भटकाव है। इसीलिए साधना के द्वारा ही सत्त्व बुद्धि प्राप्त होती है। इसके पश्चात् गुरु के द्वारा दिए गए ज्ञान के उपदेश से तत्त्व का ज्ञान होता है। यही साधना और बुद्धि की उपलब्धि का भेद है।

## सूत्र-2

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः ।

एतावदेव विज्ञान यथेच्छसि तथा कुरु ॥

शब्दार्थ—मोक्षो—मोक्ष, विषयवैरस्यम्—विषयों में रस की प्रवृत्ति का न होना, बन्धः—बन्धन, वैषयिको—विषयों से सम्बन्धित, रसः—रस है, एतावदेव—ऐसा ही, विज्ञानम्—ज्ञान का वास्तविक स्वरूप है, यथेच्छसि—जैसी इच्छा है, तथा—वैसा, कुरु—करो।

प्रसंग—विषयों में विरसता मोक्ष है, विषयों में रस बन्ध है। इतना ही विज्ञान है। तू जैसा चाहे वैसा कर।

**व्याख्या**—तत्त्व-बोध का उपदेश अधिकारी शिष्य को ही दिया जाता है। अनाधिकारी को देने से उसे फायदे की अपेक्षा नुकसान ही होगा। पात्र कौन है, इसकी विवेचना अष्टावक्र ने प्रथम सूत्र में की है कि सत्व बुद्धि वाला ही इसे प्राप्त करने का अधिकारी है, दूसरा कोई नहीं। सत्व बुद्धि वाला ही इसे जानकर आत्मज्ञान कर सकता है। तभी उसे सत्व का अनुभव होता है। वही व्यक्ति अच्छा शिष्य होता है। मन की शून्य स्थिति ही ग्राहक बनती है। अच्छे कांच में ही व्यक्ति की छाया दिखाई देती है। योग्य शिष्य बनने की परीक्षा गुरु स्वयं लेता है, शिष्य कभी भी अपने आपको अधिकारी नहीं कहता। वह कभी यह नहीं कहता है कि मैंने इतने व्रत किए, संसार को त्याग दिया, नग्न रहा, इतने गायत्री यज्ञ किए, इतने घंटे रोज साधना की, इतना दान दिया, इतना त्याग किया, इसलिए मैं आत्मज्ञान का पात्र हूँ, मुझे ज्ञान दीजिए। गुरु यदि जान लेता है कि यह सब अच्छी बुद्धिवाला है तो उसे यह अंतिम उपदेश देता है जैसा अष्टावक्र ने जनक को दिया, जिसे सुनने मात्र से ही जनक का आत्मज्ञान हो गया। यदि पहले से तैयारी नहीं होती तो अष्टावक्र यह उपदेश कभी नहीं देते। वे उन्हें साधना बताते, मन्त्र जाप को कहते, अष्टांग-योग बताते, उपासना बताते, किन्तु जनक के लिए इसकी उपयोगिता नहीं थी। उनमें ज्ञान पाने की योग्यता पहले से ही थी, इसलिए उन्हें सुनने से ही आत्म ज्ञान हो गया, अष्टावक्र ने फिर परीक्षा ली जिससे उनको विश्वास हो गया कि जनक को वास्तव में आत्म-ज्ञान हो गया, सन्देह नहीं हुआ। अब इस प्रकरण में गुरु दीक्षान्त रूप में, आशीर्वाद दे रहे हैं कि तुझे आत्मज्ञान हो गया है, तू स्वतन्त्र हुआ, अब तू सुख के साथ विचरण कर। सार संक्षेप में, सारे भेद को खोलकर रख दिया। ऐसा अनूठा संवाद अध्यात्म जगत् में मिलना कठिन है। सांख्य का ऐसा उपदेश कहीं नहीं मिलता। अष्टावक्र के ये सूत्र साधना सूत्र नहीं हैं, शुरूआत नहीं है बल्कि साधना के द्वारा मन को शुद्ध होने पर दिया गया अंतिम उपदेश है।

अष्टावक्र कहते हैं कि मोक्ष कोई वस्तु नहीं है, जिसे प्राप्त किया

जाए, न कोई स्थान है जहां पहुंचा जाए, न कोई भोग्य पदार्थ है, जिसका उपभोग किया जाए, न कोई रस है, जिसको पीकर सुख का अनुभव हो, न इसकी कोई साधना, तपस्या है, न ये कोई सिद्धि है यह न तो स्वर्ग में है और न सिद्ध पत्थर में। विषयों में लिस न होना ही मोक्ष है, विषयों में प्रीति होती है तो जगत् है। उसका कारण मन है अतः मन ही बन्धन और युक्ति का कारण है। उपनिषद् कहते हैं, “मन एवं मनुष्याणां कारणा बन्धन मोक्षयोः” (यह बन्धन ही व्यक्तियों के बन्धन और मुक्ति का कारण) यह चित्त जब सांसारिक भोगों में लीन रहता है, तब व्यक्ति बन्धन में होता है, यही विश्व है। जब यह विषयों को त्याग देता है तो व्यक्ति मुक्ति की अवस्था में पहुंच जाता है। इस जगत् की उपस्थित बन्धन नहीं है, इस जगत् में रहना, खाना-पीना व और कार्य करना भी बन्धन नहीं है, बल्कि उनमें लीन हो जाना, उनमें रुचि लेना ही बन्धन है, इनमें विरक्त हो जाना, आसक्ति रहित हो जाना ही मुक्ति है। अष्टावक्र कहते हैं इतना ही मोक्ष का ज्ञान है। इसलिए हे जनक! तूने मोक्ष को प्राप्त कर लिया। अब तू जैसा चाहे वैसा कर। अब तेरे लिए इस जगत् में प्रीति का कोई कारण शेष नहीं है। जब बीज ही समाप्त हो गया तो वृक्ष कहां से होगा। शरीर पर भस्म लगा लेने से, धूनी रमाने से जगत् को अपशब्द (दोष) देने से शरीर को कष्ट देने से, व्रत करने से भोजन के साथ नीम का उपयोग करने से विषयों के प्रति विरसता नहीं आती। इनका मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है।

### सूत्र-3

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम् ।

करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः ॥

शब्दार्थ—वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगम्—वाणी से प्रखर, बुद्धिमान और उद्यमी को, जनम्—व्यक्ति को, मूक—गूंगा, जड़—बुद्धिहीन, आलसम्—आलसी, करोति—करता है, तत्त्वबोधः—यह तत्त्व बोध, अयम्—ऐसा, मतः—मानते हुए, त्यक्तः—त्याग करने दिया



जाता है, **बुभुक्षुभिः**— भोग की कामना करने वालों द्वारा ।

**प्रसंग**— यह तत्त्व-बोध वाचाल, बुद्धिमान और महाउद्योगी पुरुष को गूंगा, जड़ और आलसी कर जाता है । इसलिए भोग की अभिलाषा रखने वालों के द्वारा तत्त्व-बोध व्यक्त हैं ।

**व्याख्या**— अष्टावक्र कहते हैं कि भोग और मोक्ष दो धुरियां हैं जो एक दूसरे की विपरीत दिशा में जाती हैं । संसार में भोग और उसकी विरसता ही मोक्ष है । दोनों के मध्य में मन (चित्त) खड़ा है । दोनों की ओर यह कभी भी नहीं जा सकता । भोगों में रुचि लेना, उनमें प्रीति होना, वासना रहित और उद्देश्य पूर्ण कार्य करना, फल की इच्छा से कार्य करना विश्व है । इसलिए जिस प्राणी को रुचि है, विषयों में सुख मिलता है, उसके लिए यह तत्त्व-बोध जो कि मोक्ष के लिए ही है, व्यक्त है क्योंकि मोक्ष में प्राप्त कुछ नहीं होता है, सब छूट जाता है, अनुपयोगी सब छूट जाता है, जगत् में फिर इसका रस नहीं रहता है, इसलिए उसका चित्त विषय-वासनाओं में दोबारा आकर्षित होने के लिए दौड़ेगा, जिससे उसका पतन होगा । ऐसा व्यक्ति फिर कहीं का भी नहीं रहता है, वह न घर का रहता है और न घाट का । वह नाटक करने वाला, पथ-भ्रष्ट हो जाएगा । भोग की कामना रखने वाला व्यक्ति वाचाल होगा, बुद्धिमान होगा । श्रेष्ठ उद्योगपति होगा, कर्मठ होगा तभी वह भोग सकता है । लेकिन आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर वह गूंगा हो जाता है, उसमें बोलने की शक्ति नहीं रहती, वह कार्य (कर्म) के प्रति उदासीन हो जाता है, जड़ और आलस्य से परिपूर्ण हो जाता है, जिसके कारण वह और अधिक व्याकुल होने लगता है । चित्त का सारा प्रवाह, उसकी समस्त शक्ति चेतना की ओर जाने से सांसारिक विषयों से नाता छूट जाता है । अष्टावक्र की देशना है जिस व्यक्ति की सांसारिक पदार्थों में प्रीति है, जिसे भोगों में सुख प्राप्त होता है जो पुरुषार्थी एवं कर्मठ तथा बड़ा उद्योगी है जो श्रेष्ठ बुद्धि वाला, विद्वान है, पांडित्य ही जिसका आभूषण (गहना) है, ऐसे व्यक्ति के लिए संन्यास, मुक्ति और मोक्ष का उपदेश देना उसको लाभ नहीं हानि ही पहुंचाएगा । यह



उपदेश ऐसे व्यक्तियों कि लिए है जो भोग वासनाओं से संतुष्ट हो गया है। जगत् के सारे कठोर अनुभवों को प्राप्त कर चुका है। जिसे स्वभाव से ही संसार (जगत्) से आस्था समाप्त हो गई है, वही इसका लाभ उठा सकता है।

### सूत्र-4

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्त्ता न वा भवान्।

चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥

शब्दार्थ—न—नहीं, त्वम्—तुम, देहः—शरीर हो, न—नहीं, ते—तुम्हारा, देहः—शरीर है, भोक्ता—भोगने वाला, कर्त्ता—करने वाले, न वा—नहीं है, भवान्—आप, चिद्रूपः—चैतन्य रूप, असि—हो, सदा—हमेशा ही, साक्षी—सब कुछ मात्र देखने वाला, निरपेक्षः—जिसे किसी की अपेक्षा नहीं, (इसलिए), सुखम्—सुखपूर्वक, चर—विचरण करो।

प्रसंग—तू शरीर नहीं है, न तेरा शरीर है, तू भोक्ता और कर्त्ता भी नहीं है। तू वो चैतन्य रूप है, नित्य है, साक्षी है, निरपेक्ष है। तू सुखपूर्वक विचर।

व्याख्या—अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि तेरी इन सांसारिक विषयों में रुचि नहीं थी, उनमें सुख नहीं था, तू ज्ञानी था एवं शुद्ध हृदय वाला था इस कारण तुझे शीघ्रता से ही आत्म-ज्ञान हो गया, अब तू शरीर नहीं है, न तेरा शरीर है, न तू भोगने वाला है न करने वाला कर्त्ता है, क्योंकि तू तो चेतन आत्मा है जो कि नित्य है, देखने वाली है तथा निरपेक्ष है इसलिए अब तू सुख के साथ विचरण कर।

### सूत्र-5

रागद्वेषो मनोधर्मो न मनस्ते कदाचन।

निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर॥

शब्दार्थ—राग-द्वेषौ—राग और द्वेष, मनोधर्मो—मन के धर्म

हैं, न—नहीं, मनः—मन, ते—तुम्हारा, कदाचन—कभी भी, निर्विकल्पः—सभी प्रकार के विकल्पों से परे, असि—हो, बोधात्मा—ज्ञानरूप आत्मा, निर्विकारः—दोष रहित, सुखम्—सुखपूर्वक, चर—विचरण करो।

**प्रसंग**—राग और द्वेष मन के धर्म हैं। तू कभी मन नहीं है। तू निर्विकल्प, निर्विकार, बोध-स्वरूप आत्मा है तू सुखपूर्वक विचार।

**व्याख्या**—शरीर, मन, बुद्धि, अभिमान आदि प्रकृति जन्य है, जिनके अलग-अलग धर्म हैं। आत्मा चेतन स्वरूप है, जिसके गुण-धर्म इनसे अलग हैं। अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि तू आत्म-ज्ञानी है, इसलिए आत्मा ही तेरा कार्य एवं स्वभाव है। तू इसी के व्यवहार के अनुसार आनन्दपूर्वक विचरण कर। ये राग व द्वेष मन (चित्त) के धर्म हैं, तुझ चेतन के धर्म नहीं हैं क्योंकि तू मन (चित्त) नहीं है तू तो आत्मा है जो कि बिना चयन, दोष-रहित और ज्ञान स्वरूप है जो इन सबको मात्र देखने वाली है। इसलिए शरीर और मन (चित्त) के दोषों से तू सदैव ही मुक्त है।

## सूत्र-6

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्व भूतानि चात्मनि।

विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव॥

**शब्दार्थ**—सर्वभूतेषु—सभी प्राणियों में, च—और, आत्मानम्—आत्मा को, सर्वभूतानि—सभी प्राणियों को, च—और, आत्मनि—आत्मा में, विज्ञाय—जानकर, निरहंकारः—निरभिमानी, निर्ममः—ममता रहित, त्वम्—तुम, सुखी—सुखी, भव—हो।

**प्रसंग**—सब भूतों में आत्म को तथा सब भूतों को आत्मा जानकर तू अहंकार रहित और भय रहित है। तू सुखी हो।

**व्याख्या**—इस जगत् में विविधता का आभास होता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, जड़-चेतन, ठोस-तरल, गैस आदि पदार्थों में विविधता दिखाई देती है, जो चित्त के ही कारण है,

चित्त सदैव विविधता ही देखता है, क्योंकि उसकी देखने की शक्ति सीमाबद्ध है। लेकिन ये सारी विविधताएं आत्मा के ज्ञान न होने से ही प्रतीत होती हैं। जिस व्यक्ति को आत्म-ज्ञान हो जाता है, उसकी इस विविधता का सन्देह समाप्त हो जाता है। वह यह जान लेता है कि यह समस्त संसार उसी एक आत्मा के विविध रूप हैं। इन सबके अन्दर एक ही चेतन आत्मा का वास है। जिस प्रकार दूध से सैकड़ों प्रकार की मिठाइयां बनती हैं। उसी प्रकार आत्मा ही सबका मूल तत्त्व है। इस एक का अनुभव होना ही परम-ज्ञान है। ज्ञान रहित व्यक्ति विविधता देखता है। इसी में अभिमान और ममता (स्नेह) होता है। राग-द्वेष, घृणा, लालच, प्रेम होता है। अष्टावक्र कहते हैं कि तू आत्मा को उपलब्ध हो गया, इसलिए तूने निश्चित रूप से जान लिया कि तू सभी भूतों भौतिक पदार्थों से आत्मा है तथा सब भूत आत्मा ही है। दोनों में कोई भिन्नता नहीं है। इसलिए तू अभिमान रहित एवं ममता रहित है। अब तू आनन्द का अनुभव करके सुखी हो। यह कथन उतना ही वैज्ञानिक है जितना कि वैज्ञानिक विद्युत और पदार्थ को अलग मानते हैं। पदार्थ ही ऊर्जा है एवं ऊर्जा ही पदार्थ है। अध्यात्म की यह दृष्टि भी पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा और जगत् की ऐसी व्याख्या कोई भी दूसरा धर्म नहीं कर पाया है।

### सूत्र-7

विश्व स्फुरित यत्रेदं तरंगा इव सागरे।

तत्त्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव ॥

शब्दार्थ—विश्वम्—संसार, स्फुरति—उत्पन्न होता है (स्फुरित होता है), यत्र—जहां, इदम्—यह, तरंगा, इव—तरंगों की तरह, सागरे—समुद्र में, तत्—वह, त्वम्—तुम, एव—ही, न—नहीं, संदेहः—संदेह, चिन्मूर्ते—चेतन रूप में, विज्वरो—रोगमुक्त, संतापरहित, भव—होओ।

प्रसंग—सम्पूर्ण विश्व जिसमें स्फुरित होता है, बिल्कुल वैसे ही



जैसे सागर में तरंगों, वह तुम ही हो। इस बात में कोई संदेह नहीं है। तुम चेतना मात्र हो इसीलिए सभी प्रकार के संताप-तापों और रोगों से मुक्त हो जाओ।

**व्याख्या**—अष्टावक्र राजा जनक को बताते हैं कि जैसे सागर में लहरें उठती हैं, लेकिन ये लहरें सागर से अलग नहीं हैं वैसे ही तू आत्मा होने से उस महासागर के समान है, जिससे यह लहरों के समान उत्पन्न होता है। लहरें जिस प्रकार से अनित्य (सदैव) उठती हैं, गिरती हैं और नष्ट हो जाती हैं लेकिन इससे सागर को कोई फायदा-नुकसान नहीं होता, उसी प्रकार से जगत् अनित्य (हमेशा) रहने वाला नहीं है वह उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और यह बनने बिगड़ने का कार्य सदैव चलता रहता है। लेकिन इससे आत्मा पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि आत्मा सागर के समान नित्य रहने वाली है, जगत् का समस्त आचरण, सारे विषय, भोग, मिलना-बिछुड़ना, लेना-देना आदि लहरों के समान ही है। लेकिन तू लहर नहीं है बल्कि महासागर है। इसमें कोई भ्रान्ति नहीं। इसलिए तू ऐसा मानकर ज्वर-रहित, कष्ट रहित हो। सारे कष्ट का कारण इतना ही था कि तूने स्वयं को महासागर नहीं, लहर समझा, आत्मा नहीं शरीर व मन जाना जो कि तेरा सबसे बड़ा अज्ञान था। अब ज्ञान का दीपक प्रज्वलित हो जाने से अज्ञान रूपी सन्देह समाप्त हो गया। जिससे तू कष्ट रहित है।

### सूत्र-8

श्रद्धस्व तातश्रद्धस्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः।

ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः॥

**शब्दार्थ**—श्रद्धस्व—श्रद्धा करो, तात—हे प्रियपुत्र, श्रद्धस्व—श्रद्धा करो, न—नहीं, अत्र—यहां, मोहम्—मोह, कुरुष्व—करो, भोः—हे, ज्ञानस्वरूपोः—ज्ञानस्वरूप, भगवान—ईश्वर, आत्मा—परमात्मा, त्वम्—तुम, प्रकृतेः—प्रकृति से, परः—परे हो।



**प्रसंग**—श्रद्धा करो, सौम्य! यहां इस संसार में मोह न करो। ज्ञान स्वरूप ईश्वर वास्तव में आत्मा ही है और तुम प्रकृति से परे हो। मेरी इस बात पर, जीवन के इस यथार्थ पर श्रद्धा करो—विश्वास करो।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि तू इस प्रकार की आत्म स्थिति को प्राप्त हो गया, अतः हे राजन्! अब इसमें श्रद्धा कर। जिसने प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया केवल ग्रन्थों का अध्ययन किया है या किसी अन्य व्यक्ति से सुना है तो वह अश्रद्धा (अविश्वास) भी कर सकता है क्योंकि यह ज्ञान बुद्धि की सीमा से परे है, स्वयं की अनुभूति का ही विषय है, लेकिन तूने तो इसका स्पष्ट अनुभव कर लिया है, इसलिए तेरे अविश्वास करने का तो कोई प्रश्न नहीं है। यह जगत् नाशवान है, जड़ है, प्रकृति के द्वारा उत्पन्न हुआ है। तू आत्मा है, जो प्रकृति से परे ज्ञान-स्वरूप व परमात्मा स्वरूप है। इसलिए इस नाशवान और प्रकृति के द्वारा उत्पन्न जगत् का तू मोह मत कर।

### सूत्र-9

गुणैः संवेष्टितो देहास्तिष्ठत्यायाति याति च।

आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि॥

**शब्दार्थ**—गुणैः—गुणों से, संवेष्टितोः—लिपटा हुआ, देहः—शरीर, तिष्ठति—बैठता है, आयाति—आता है, याति—जाता है, च—और, आत्मा—आत्मा, न—नहीं, गन्ता—जाता है, न—नहीं, आगन्ता—आता है, किम्—क्या, एवम्—इसके लिए, अनुशोचसि—शोकवान् होता है।

**प्रसंग**—गुणों से संयुक्त, लिपटा हुआ यह शरीर ही बैठता, आता, जाता आदि विभिन्न क्रियाएं करता है, जबकि आत्मा न जाता है, न आता है, वह इस आने-जाने से परे है। इसलिए उस पर क्या शोक करना, क्या विचार करना।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि जैसे स्वर्ण (धातु) से अनेक प्रकार के आभूषण (जेवरात) बनाए जाते हैं और बिगाड़े जाते हैं,

मिट्टी से अनेक बर्तन बनते व बिगड़ते हैं, सागर से अनेक लहरें उठती हैं और नष्ट हो जाती हैं, ऊर्जा से नए पदार्थ बनते हैं, बिगड़ते हैं, लेकिन उनका मूल तत्त्व सदैव वैसा ही रहता है। विज्ञान की भी यही मान्यता है कि पदार्थ अविनाशी (विनाश न होने वाला) है। ऊर्जा अविनाशी है। पदार्थ के रूप में परिवर्तन हो जाता है, ऊर्जा को भी परिवर्तित किया जा सकता है लेकिन वह स्वयं अविनाशी ही रहती है। ऊर्जा और पदार्थ का आपस में परिवर्तन हो जाता है, पदार्थ विनाशी है एवं यही विश्व है। ऊर्जा सदा रहने वाली है, शाश्वत है स्वयं भू है। उसका कभी भी विनाश नहीं होता। अध्यात्म भी इसी तथ्य पर बल देता है कि यह शरीर एक आकार है जो सत्त्व गुण, रजो गुण एवं तमो गुण से ग्रस्त है। यह शरीर जन्म लेता है, रहता है मर जाता है इसी का बचपन, यौवन और वृद्धा आती है, लेकिन यह आत्मा हमेशा नित्य एवं शाश्वत है। यह न तो कहीं जाता है न आता है, न जन्म लेता है न मरता है, न इसका विनाश होता है, न बहता है। यह शरीर तो जाने के बाद पुनः नया शरीर धारण कर लेता है। इसलिए स्वयं को शरीर न मानकर उस सदा रहने वाली आत्मा को जानते हुए इस बनने और नष्ट होने वाले शरीर के लिए विचार मत कर। ज्ञान रहित व्यक्ति ही ऐसा विचार करते हैं जो इस नाशवान शरीर को ही सब कुछ मानते हैं कि इसके चले जाने पर सब कुछ समाप्त हो जाएगा शेष कुछ नहीं बचेगा, लेकिन ज्ञानी व्यक्ति ऐसा कोई विचार नहीं करते हैं।

### सूत्र-10

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्यद्यैव वा पुनः।

क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः ॥

शब्दार्थ—देह—शरीर, तिष्ठतु—स्थिर रहे, कल्पान्तम्—युगों-युगों बाद, गच्छति—चला जाए, अद्यैव—आज ही, वा—चाहे, पुनः—दोबारा, क्वः—कहां, वृद्धि—वृद्धि, च—और, वा—चाहे, हानिः—हानि, स्तवचिन्मात्ररूपिणः—चेतनामात्र रूप तुझमें।

**प्रसंग**—यह शरीर युग-युगान्तरों तक रहे, चाहे आज ही समाप्त हो जाए, उसकी वृद्धि या हानि से चिन्मात्र रूप वाले तुम पर क्या अन्तर पड़ता है, निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं।

**व्याख्या**—अष्टावक्र आगे कहते हैं कि यह शरीर तो मरने-जीने वाला ही है। यह तो नष्ट होगा ही। इसे बचाए रखने की कोई विधि नहीं है। राम, कृष्ण, बुद्ध आदि का भी शरीर न बच सका। न ज्ञानी ही जीवित रह सका और न ज्ञान रहित व्यक्ति न सन्त महात्मा ही बचे और न ही चोर-डाकू। आना-जाना तो संसार का नियम है, यह कोई गलत बात नहीं है। जब यह निश्चित है कि शरीर तो नष्ट होने वाला है तो फिर वह बरसों तक रहे या क्षणमात्र में नष्ट हो जाए। कोई प्रभाव नहीं होता, अतः यह विचार करने का विषय नहीं है। लेकिन चेतन रूप आत्मा है। यह आत्मा कभी नष्ट नहीं होगी न इसकी वृद्धि ही होगी, यह जैसी है वैसी ही हमेशा रहेगी। तू आत्म-स्वरूप होने से नित्य है, अतः तू सुखी हो।

### सूत्र-11

त्वय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः ।

उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः ॥

**शब्दार्थ**—त्वयि—तुझमें, अनन्त महाम्भोधौ—अनन्त समुद्र में, विश्ववीचिः—संसार रूपी तरंगों, स्वभावतः—सहजरूप से, उदेतु—उदित होती है, वा—और, अस्तम्—अस्त को, आयातु—प्राप्त होता है, न—नहीं, ते—तुम्हारी, वृद्धि—वृद्धि, न—नहीं, वा—और, क्षतिः—नुकसान है।

**प्रसंग**—तुझ अनन्त महासागर में संसार रूपी लहरें सहज रूप से, बिना किसी प्रयत्न के उत्पन्न और विलीन हो जाती हैं, इससे तुझ महासागर पर कोई प्रभाव नहीं होता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे लहरों की वृद्धि और क्षय का सागर पर कोई अंतर नहीं होता।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि जिस प्रकार इस विशाल



महासागर में हवा (वायु) के झोंकों से विविध प्रकार की तरंगें उठती हैं और समाप्त हो जाती हैं लेकिन इससे सागर की न तो वृद्धि होती है और न ही कमी। जिस प्रकार आकाश में अनेक वायु की लहरें उठती हैं और शांत हो जाती हैं लेकिन आकाश से इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता उसी प्रकार तू आत्मारूपी महासागर है, जिसमें मन की व्याकुलता के कारण संसार रूपी लहरें उठती हैं और समाप्त हो जाती हैं लेकिन उनसे इस साक्ष्य रूपी आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जगत् की वृद्धि एवं विनाश से तेरी आत्मा की वृद्धि या नाश नहीं होने वाला है।

### सूत्र-12

तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्।

अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥

शब्दार्थ—तात—हे पुत्र, चिन्मात्ररूपोऽसि—मात्र चेतनरूप हो, न—नहीं, ते—तुमसे, भिन्नम्—अतिरिक्त, इदम्—यह, जगत्—संसार, अतः, इसलिए, कस्य—किसका, कथम्—कैसे, कुत्र—कहां, हेयोपादेय—ग्याने और ग्रहण करने की, कल्पना—विचारणा।

प्रसंग—हे पुत्र! तुम चिन्मात्र हो। तुमसे भिन्न इस जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है, यह तुमसे अभिन्न है। इसलिए इस संसार के पाने और छोड़ने का प्रश्न कैसे, कहां और कब—इस बारे में क्या विचार करना।

व्याख्या—अष्टावक्र जनक को बताते हैं कि हे राजन्! यह सारा संसार एक इकाई है, यह जुड़ी हुई है, अखंड है, इसका विभाजन नहीं हो सकता। यह संसार परिधि है लेकिन इसका केन्द्र एक ही है, धुरी एक है जिसके सहयोग से यह जगत्-रूपी, चक्र चलता है, कुएं अनेक हैं लेकिन उन सबके अन्दर जल का स्रोत एक ही है, पदार्थ बहुत से हैं लेकिन उन सबका मूल आधार विद्युत् एक ही है जो विविध तत्त्वों में एवं पदार्थों में विभाजित दिखाई देती है। इसी प्रकार



आत्मा एक ही है, जिसके केन्द्र पर यह शरीर-रूपी गतिमान है। जो शरीर के अन्दर स्थित आत्मा है वही विश्वात्मा है, जिससे यह संसार रूपी चक्र चल रहा है। अतः आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, संसार, जीव (प्राणी) जगत्, जड़, चेतन, अलग-अलग नहीं उसी एक की अभिव्यक्ति मात्र हैं। वह एक ही बहुत से रूपों में प्रकट हुआ है। यह विविधता अभिमान के कारण प्रतीत होती है, इसी विविधता के अज्ञान के कारण त्यागने योग्य और न त्यागने योग्य, स्वीकार और छोड़ना, जगत् और परमात्मा, लाभ और हानि, जीवन और मृत्यु आदि अनेक संघर्षों की कल्पना होती है एवं यह संघर्ष ही कष्टों का कारण बन जाता है, इसी अभिमान से वासना की उत्पत्ति होती है और कामना ही जगत् (विश्व) है। अतः अष्टावक्र जनक को बताते हैं कि तू चेतना रूप आत्मा है अतः यह संसार तुझसे अलग नहीं है फिर इस उपयोगी और अनुपयोगी की कल्पना तुझमें कैसे आ सकती है। उपयोगी और अनुपयोगी की कल्पना तभी हो सकती है, जब व्यक्ति अपने को संसार से अलग शरीर मात्र मानता है। आत्मा का ज्ञान हो जाने पर उपयोगी और अनुपयोगी के विचार बेकार हो जाते हैं, जैसे एक शरीर के विविध अंगों में कौन-सा उपयोगी है और कौन-सा अनुपयोगी है यह विचार करना ही मूर्खता है, ऐसा ही यह संसार है, इसके भाग अलग होने से उपयोगी और अनुपयोगी बताना अनुचित है, यह वर्णन चित्त और अभिमान के कारण होता है जो कि अज्ञानता है।

### सूत्र-13

एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि।

कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च॥

शब्दार्थ—एकस्मिन्—एकमात्र, अव्यये—जिसका व्यय नहीं होता, जो नष्ट नहीं होता (ऐसे), शान्ते—शान्त, चिदाकाशे—चैतन्य रूप सर्वत्र व्यापक में, अमले—शुद्ध में, त्वयि—तुझमें, कुतः—कहां से, जन्म—पैदा होना, कर्म—कर्म, कुतः—कहां से,

**अहंकार**—अहंकार, एव—ही, च—और।

**प्रसंग**—एक मात्र अद्वैत स्वरूप, अव्यय, शान्त, चैतन्य रूप, निर्मल (शुद्ध) तुझमें कहां जन्म, कैसे कर्म, कहां अहंकार अर्थात् इन सबका तो प्रश्न ही नहीं उठता।

**व्याख्या**—अष्टावक्र जनक से फिर कहते हैं कि आत्मा तो शुद्ध है, उसमें किसी प्रकार का कोई विकार नहीं है। यह अविनाशी है, शांत है, इसमें लहरें नहीं उठतीं तथा यह चेतना मात्र आकाश के समान सब जगह है सदैव स्थित रहने वाली है इसका न तो जन्म होता है और न ही मृत्यु, इसमें न तो कार्य है और न ही अभिमान। हे जनक! तू आत्मा है इस कारण ये सभी गुण तेरे ही गुण हैं। ये समस्त दोष चित्त, देह, अभिमान के हैं, जिनसे तू अलग है। अपने को आत्म स्वरूप जान लेने से इनका आभास नहीं होता।

### सूत्र-14

यत्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे।

किं पृथक्भासते स्वर्णात्कटकांगदनूपुरम् ॥

**शब्दार्थ**—यत्—जिसे, त्वम्—तुम, पश्यसि—देखते हो, तत्र—वहां, एकः—एकमात्र, त्वम्—तुम, एव—ही, प्रतिभाससे—भास रहे हो, दिख रहे हो, किम्—क्या, पृथक्—अलग, भासते—दिखाई देता है, स्वर्णात्—स्वर्ण से, कटको—कंगन, अंगद—बाजूबन्द, नूपुरम्—घुंघरू।

**प्रसंग**—जिसको तू देखता है, उसमें एक तू ही भासता है (दिखाई देता है), क्या कंगना, बाजूबन्द और नूपुर सोने से भिन्न भासते हैं।

**व्याख्या**—अष्टावक्र बताते हैं कि जिस प्रकार कंगना, बाजूबन्द और घुंघरू के आकार अलग-अलग हैं, उपयोग अलग-अलग हैं, लेकिन सबको बनाने वाला तत्त्व धातु तो (स्वर्ण) ही है, वही सोना (स्वर्ण) सबका आधार है। नाम और रूप की विविधता से स्वर्ण में तो विविधता नहीं होती, उसी प्रकार से संसार के विविध अवयवों में

आत्मा ही मूल आधार है, सब उसी के रूप मात्र हैं, अतः आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि आत्मा ही है जो संसार के सभी पदार्थों में तू ही दिखाई देता है, यह जो अन्तर दिखाई देता है, वह शरीरों का है आकारों का है। इन आकृतियों के अन्दर जो कुरूप छिपा है वही मूल आधार है। ये अनेक उसी एक चेतना मात्र समुद्र की तरंगे हैं। अन्दर जो महासागर छिपा हुआ है वही इनका आधार तत्त्व है। ऐसा जान लेने पर ही व्याकुलता शांत होकर परम सुख को उपलब्ध होती है।

### सूत्र-15

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज।

सर्वमात्मेति निश्चित्य निः संकल्पः सुखो भव ॥

शब्दार्थ—अहं—यह, सः—वह, अहम्—मैं, अयं—यह, न—नहीं, अहम्—मैं, विभागम्—विभाजन की, इति—ऐसा, सन्त्यज—छोड़ो, सर्वम्—समस्त संसार, आत्मेति—आत्मा ही है, ऐसा, निश्चित्य—निश्चय करके, निःसंकल्प—सभी प्रकार के संकल्पों (विकल्पों) से मुक्त होकर, सुखी—सुखी, भव—हो जाओ।

प्रसंग—‘यह मैं हूँ’, ‘यह मैं नहीं हूँ’ ऐसे विभाग को छोड़ दे।  
‘सब आत्मा है ऐसा निश्चय करके तू संकल्प रहित हो सुखी हो।’

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि यह सारा संसार एक है, अविभाजित है, उस एक ही आत्मा का फैलाव है। इसमें विविधता कहीं नहीं है। नाम रूपी की विविधता से ज्ञान रहित व्यक्ति विविधता को देखता है। वह खण्ड-खण्ड में देखता है, उसे हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई आदि अलग-अलग दिखाई देते हैं। उसे जड़-चेतन व्यक्ति, प्राणी में अन्तर दिखाई देता है, वह प्राणी और आत्मा में अन्तर देखता है। आत्मा और परमात्मा में भी अन्तर देखता है, यह अन्तर ही दुःखों का कारण है। संसार एक ही शासन है इसको विभाजित करना ही अज्ञानता है। द्वैत विचारों के कारण ही कष्टों का जन्म होता है। सम्पूर्ण का अनुभव करना ही ज्ञान है धर्म है। सम्पूर्णता ही जीवन है।



यही ब्रह्म है। इसी एकत्व अस्तित्व को उपलब्ध करना ही धर्म है, इसको विभाजित करना ही अधर्म है, अज्ञान है। 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा ऐसे ही धर्म की घोषणा करना है। यह अभिमान नहीं है बल्कि उस अखंड की उसी सम्पूर्ण की अनुभव है, कि 'मैं' और 'ब्रह्म' एक ही हैं, अलग नहीं हैं। दो का कोई स्थान नहीं है। सब कुछ त्याग देने से, भस्म लगा लेने से भिक्षा मांगकर पेट भरने से गिड़गिड़ाने एवं प्रार्थना करने से, दण्डवत करने से, नम्रता दिखाने से क्षमा-प्रार्थना करने से अभिमान नहीं समाप्त होता। अभिमान इस एक तत्त्व के ज्ञान हुए बिना समाप्त नहीं होता। यह धर्म की महानता है, कि आत्मा एक है। सब उसी का फैलाव है, वही सबमें स्थित है। विविधता का एहसास होना ही अज्ञान है और एक तत्त्व का ज्ञान हो जाना ही ज्ञान है, मोक्ष है। अष्टावक्र बताते हैं कि हे राजन्! "मैं वही ब्रह्म हूँ" या मैं वह नहीं हूँ, उससे अलग प्राणी मात्र हूँ, "परमात्मा और मैं अलग हूँ" ऐसी अन्तर दृष्टि को, ऐसे विभाग को त्याग दे। क्योंकि 'सोऽहं' 'शिवोऽहं' आदि कहना भी अन्तर-दृष्टि है। जिसे उस शिव या ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, वही ऐसा कहता है ज्ञान होने पर, जान लेने पर 'मैं' रहता ही नहीं फिर मैं वही हूँ कहने का कोई औचित्य नहीं रहता। इसलिए सब आत्मा ही है, विविधता कहीं नहीं है, ऐसा मान करके तू संकल्प रहित होकर सुखी हो। एक का अनुभव कर लेने से ही सभी संकल्प गिर जाते हैं और व्यक्ति सुखी व शांत हो जाता है।

### सूत्र-16

तवैवाज्ञानतो विश्व त्वमेकः परमार्थतः ।

त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन ॥

शब्दार्थ—तव—तुम्हारा, एव—ही, अज्ञानताः—अज्ञान से, विश्वम्—संसार, त्वम्—तुम, एकः—अकेले, परमार्थतः—परमार्थ से, त्वत्तः—तुझसे, अन्यः—अन्य, नास्ति—नहीं है, संसारी—संसार की, वस्तुएं, न—नहीं, असंसारी—संसार से परे अर्थात् ईश्वर,



च—और, कश्चन—कोई।

**प्रसंग**—तुम्हारे अज्ञान के परिणामस्वरूप ही यह संसार है। वास्तव में तो तुम ही एकमात्र हो, तुमसे दूसरा न तो संसारी है अर्थात् जीव और न ही किसी असंसारी अर्थात् ईश्वर का अस्तित्व है।

**व्याख्या**—इससे पहले सूत्र में जिस बात को संकेत रूप में कहा उसका अब वर्णन करते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि, इस संसार का अस्तित्व प्राणी के अज्ञान के कारण ही है, जब प्राणी को ज्ञान हो जाता है तो संसार और प्राणी एक हो गए। आत्मदृष्टि ही परमार्थ दृष्टि है। अष्टावक्र ने सांसारिक और असांसारिक का आधार प्राणी को लेकर किया है, जब ज्ञान के द्वारा निरपेक्ष भाव आ गया तो कुछ भी नहीं रहा। यह आत्मा सांसारिक भी नहीं है, क्योंकि यह जगत् में लिस नहीं है और यह असांसारिक भी नहीं है क्योंकि जगत् उसी की अभिव्यक्ति है।

### सूत्र-17

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्व नि किञ्चिदिति निश्चयी।

निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ॥

**शब्दार्थ**—भ्रान्तिमात्रम्—भ्रान्तिमात्र, इदम्—यह, विश्वम्—जगत् है, न—नहीं, किञ्चित्—कुछ भी, निश्चयी—निश्चित रहने वाला, निर्वासनः—वासनाओं से रहित, स्फूर्तिमात्रः—स्फुरण मात्र है, न किञ्चित् इव—कुछ नहीं है, की तरह (होकर), शाम्यति—शान्त होता है।

**प्रसंग**—यह संसार भ्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसा निश्चय करने वाला समस्त वासनाओं से मुक्त होकर, सहज कार्यों में प्रवृत्त हुआ 'कुछ नहीं है' की तरह बरतता हुआ शांति को प्राप्त करता है।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि इस विश्व में दो ही प्रकार के मनुष्य हैं, अज्ञानी और ज्ञानी तथा इनकी संसार को देखने की दृष्टि भी दो ही हैं। ज्ञान रहित व्यक्ति कहता है कि यह विश्व ही सत्य है। जगत्

में विविधता है। प्राकृतिक, राजनीतिक, मानसिक, शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक आदि अनेक प्रकारों में भी विविधता दिखाई देती है, यहां तक कि कुछ व्यक्तियों को आत्मा में भी विविधता दिखाई देती है कि सब आत्माएं अलग-अलग हैं। कुछ व्यक्ति परमात्मा में भी विविधता देखते हैं जैसे कि हिन्दू के, मुस्लिम के, ईसाई के, जैनी आदि के परमेश्वर भी अलग-अलग हैं, ये सब विचार ज्ञान रहित व्यक्ति के हैं। उसे जैसा सामने दिखाई देता है, वैसा ही समझ लेता है। अप्रत्यक्ष का उसे ज्ञान नहीं है। उसका समस्त ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा है। जो इन्द्रियों की सीमा में आता है, जिसे बुद्धि पकड़ लेती है, उसी को वह अज्ञानी व्यक्ति सत्य मान लेता है। इन्द्रियों से आगे के ज्ञान का उसे पता नहीं है। वह ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर आदि के भी शासन में विश्वास नहीं करता क्योंकि वह इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसे विचारों वाला व्यक्ति वैज्ञानिक है, भौतिक मात्र हैं, लेकिन वह सच्चा है, ईमानदार है। जैसा देखा वैसा ही कह दिया। वह ब्राह्मण है, कोई नाटक नहीं करता, कुछ छिपाया नहीं, किसी को धोखा नहीं दिया। जैसा दिखाई दे रहा है वैसा कह देना भी बड़े हिम्मत का कार्य है, ऐसे व्यक्ति को बहुत आत्मबल चाहिए। संसार की सारी विचारधाराओं को त्यागकर तथा दण्ड के भय को भी हिम्मत के साथ स्वीकार करते हुए जब गैलीलियो ने कहा कि सूर्य नहीं पृथ्वी घूमती है तो उसके ये शब्द क्या किसी महात्मा के वाक्य से कम थे। चार्वार्क को भी इसीलिए महात्मा कहा गया कि उसने जैसा जाना वैसा ही कह दिया। लेकिन कई व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो बिना जानते हुए ही कहते हैं कि ब्रह्म है, आत्मा है, संसार माया है, इसमें सार नहीं है। ब्रह्म सत्य है, मोक्ष है, स्वर्ग-नरक है, पुनर्जन्म है आदि। ज्ञान रहित व्यक्ति के लिए ही सत्य है और ब्रह्म, आत्मा, सब झूठे हैं, लेकिन न जानते हुए भी जानने का झूठा दावा करना व उन्हें सिद्ध करने का प्रयास करना ही बेईमानी है। ये सत्य न होकर धोखा देने वाले हैं। दूसरी दृष्टि ज्ञानी व्यक्ति की है। उसी ने ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर आदि को जाना है। ज्ञान रहित व्यक्ति विशाल को जानता है छोटा उसकी पकड़ में नहीं आता। वह प्रकृति

को ही जानता है, उसकी दृष्टि शरीर उसके भोग, वासनाएं तथा विषयों तक ही सीमित है, जिससे इससे आगे जो छोटा (सूक्ष्म) है जो चेतन तत्त्व है, जो शक्ति है, उसे नहीं जान पाता, जिसके कारण वह कहता है कि ये तो है ही नहीं गलत है, बकवास है। इसके विपरीत स्थिति में ज्ञानी व्यक्ति इनको जान लेता है। जिससे वह कहता है कि ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर ही सत्य है, संसार झूठा है सन्देह मात्र है, यह अनित्य है, इसलिए यह मूल्य हीन है, शाश्वत और सनातन ही बहुमूल्य है। ज्ञानी व्यक्ति बीज की बात करता है, जबकि ज्ञान रहित व्यक्ति वृक्ष और उस पर आने वाले फल के बारे में विचार करता है। दोनों के विचार अपनी-अनी दृष्टि से सही हैं, विरोध नहीं है। देखने का अन्तर है। अष्टावक्र एवं जनक दोनों ही ज्ञानी व्यक्ति हैं, दोनों को सत्य का अनुभव हुआ है अतः दोनों का वार्तालाप ज्ञान प्राप्त व्यक्तियों का संवाद है। एक ज्ञान रहित व दूसरा ज्ञानी होता तो संवाद नहीं विवाद ही होता तर्क और प्रमाण (सबूत) ही पूछे जाते, कुतर्क होता। अपनी बात को सफल करने के लिए आग्रह होता लेकिन ऐसा कुछ न होकर दोनों ही एक सत्य को मान रहे हैं। अष्टावक्र कह रहे हैं कि यह संसार सन्देह मात्र है और कुछ नहीं है। जो कामना रहित हो गया है, अभिमान शून्य हो गया है, वही अपने अन्दर स्थित उसे चेतन आत्मा को पहचान लेता है, ऐसा ज्ञान हो जाने पर उसे यह संसार सन्देहशील लगने लगता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि यह संसार ही भ्रम है, यह है ही नहीं बल्कि इसका अर्थ है कि इसके साथ जो रागात्मक (लिस) सम्बन्ध हैं, जो प्रीति है जो आस्था है, वह सब सन्देह है। ज्ञानी व्यक्ति इसी सन्देह रूपी प्रीति से मुक्त हो जाता है और आत्मा ही सत्य प्रतीत होती है। आत्मज्ञानी ही ऐसा दृढ़पूर्वक जानता है, ज्ञान रहित व्यक्ति ऐसा नहीं जान सकता। अतः ज्ञानी व्यक्ति ऐसा जानकर शांति को प्राप्त होता है जबकि अज्ञानी व्यक्ति संसार को परम सत्य मानने के कारण अशांत बना रहता है। ज्ञानी और ज्ञान रहित व्यक्ति में यही भेद है। ज्ञानी की दृष्टि ज्ञान रहित व्यक्ति से अलग हो जाती है।



## सूत्र-18

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति ।

न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर ॥

शब्दार्थ—एक—अकेला, एव—ही, भवाम्भोधौ—संसाररूपी समुद्र में, आसीत्—था, अस्ति—है, भविष्यति—होगा, न—नहीं, ते—तेरा, बन्धः—बन्धन, अस्ति—है, मोक्षः—मुक्त, वा—और, कृतकृत्य—कृतकृत्य होकर, सुखम्—सुखी होकर, चर—विचरण करो ।

प्रसंग—संसार रूपी समुद्र में तू एक ही था और होगा । तेरा बन्ध और मोक्ष नहीं है । तू कृतकृत्य होकर सुखपूर्वक विचार ।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि बन्धन में तीन का होना आवश्यक है, एक जो बांधता है, दूसरा जिससे बांधा जाता है, तीसरा बांधने वाला । ज्ञान रहित प्राणी ही बन्धन में है जिससे व्यक्ति ज्ञान न होने के कारण बंधता है । कोई उसे बांधने वाला नहीं है । जगत् किसी भी व्यक्ति को नहीं बांधता । लेकिन व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद ज्ञानी का देखने का तरीका बदल जाता है । वह स्वयं को शरीर चित्त और अभिमान से परे शुद्ध चेतन आत्मा जान लेता है जिससे संसार और आत्मा का अन्तर ही समाप्त हो जाता है । अज्ञान रूपी आवरण के हट जाने पर उसी एक चेतन आत्मा का ज्ञान होता है । जब एक ही है तो न बन्धन और न मोक्ष । कौन किसको बांधे और कौन किसे मुक्त करे, अष्टावक्र कहते हैं कि तू चेतन आत्मा होने से इस जगत् रूपी सागर में एक ही था और आगे भी एक ही रहेगा । ज्ञान न होने के कारण तूने शरीर अभ्यास के कारण स्वयं को चेतन आत्मा से अलग शरीर जाना था । यही तेरे बन्धन का कारण था । अब न तेरा बन्धन है न मुक्ति, तू कृतकृत्य होकर अब सुख के साथ विचार । आत्मा तो स्वभाव से ही मुक्त है, उसका कोई बन्धन है ही नहीं । संदेह था जो समाप्त हो गया ।



मा संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय।

उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे ॥

शब्दार्थ—मा—नहीं, संकल्पविकल्पाभ्याम्—संकल्प-विकल्पों से, चित्तम्—चित्त को, क्षोभय—क्षुब्ध कर, चिन्मय—चैतन्यरूप, उपशाम्य—शांत करके, सुखम्—सुखपूर्वक, तिष्ठ—स्थित हो, स्वात्मन्यानन्द विग्रहे—अपनी आत्मा के स्वरूप में, स्वात्माराम में।

प्रसंग—हे चिन्मय! तू चित्त को संकल्प और विकल्पों से क्षोभित मत कर। शांत होकर आनन्दपूर्वक अपने स्वरूप में सुखपूर्वक स्थित हो।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि मन का स्वभाव है संकल्प विकल्प। जब उसमें संकल्प-विकल्प की लहरें उठती हैं तो मन व्याकुल होता है, इन लहरों का नाम ही मन है। संकल्प-विकल्प के कारण ही कल्पना उत्पन्न होती है योजनाएं बनती हैं, उनको पूरा करने के उपाय ढूंढे जाते हैं। इनको पूरा करने के लिए शरीर और इन्द्रियां भी सक्रिय होते हैं, फिर व्यक्ति कार्य (कर्म) करता है। अभिमान के कारण वह कर्त्ता करने वाला बन जाता है, जिससे कार्यों का बन्धन होता है, नए संस्कार बनते हैं, इस प्रकार पूरा कार्य (कर्म) जाल बनकर तैयार हो जाता है। यह कर्म (कार्य) जाल ही विश्व है यही बन्धन है अतः अष्टावक्र कहते हैं कि तू चेतन आत्मा है, तेरा बन्धन और मोक्ष नहीं है, तू एक है और शांत है। इसलिए अब तू नए सिरे से अपने हृदय को संकल्प विकल्पों से दुःखी मत कर नहीं तो फिर कार्यों के बन्धन रूपी जाल में उलझ जाएगा। यह आत्मा तेरा स्वरूप है, जिसे तूने प्राप्त कर लिया है अतः अब तू शांत होकर आनंद पूरित होकर इस अपने स्वरूप आत्मा में सुखपूर्वक स्थित हो।

## सूत्र-20

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किञ्चिद्धृदि धारय।

आत्मा त्वम्मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥

शब्दार्थ—त्यज—छोड़, एव—ही, ध्यानम्—ध्यान को, सर्वत्र—सभी जगह, मा—नहीं, किञ्चित्—कुछ भी, हृदि—हृदय में, धारय—धारण करो, आत्मा—आत्मा, त्वम्—तुम, मुक्तः—मुक्त, एव—ही, असि—हो, किम्—क्या, विमृश्य—विचार करके, करिष्यसि—करेगा।

प्रसंग—सर्वत्र ही ध्यान को त्यागकर हृदय में कुछ भी धारण मत कर। तू आत्मानुक्त ही है। तू विमर्श करके क्या करेगा।

व्याख्या—अष्टावक्र फिर कहते हैं कि यह ध्यान, धारणा, समाधि ज्ञान रहित व्यक्तियों के लिए है जो ज्ञान-प्राप्ति के उपकरण मात्र हैं। तू इस आत्मज्ञान को उपलब्ध हो गया। अतः इस ध्यान और धारणा को छोड़ दे। लक्ष्य तक पहुंचने के लिए ही इन उपकरण मात्र साधनों का प्रयोग करना पड़ता है, उसके बाद तो बेकार है। नाव के द्वारा नदी पार कर जाने पर कोई उस नाव को अपने साथ नहीं ले जाता। उसे किनारे पर ही छोड़ देता है। उसी प्रकार आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए जो भी उपाय या विधि का प्रयोग किया उन्हें लक्ष्य को प्राप्त हो जाने पर छोड़ देना ही उचित है नहीं तो वो भी बन्धन का रूप धारण कर लेते हैं। अष्टावक्र कहते हैं कि अब मन में कुछ भी धारण मत कर। तू आत्म-स्वरूप को उपलब्ध हो गया इसलिए अब तू मुक्त हो गया। अब कल्पना करके क्या करना। जब ध्यान कहीं भी नहीं रह जाता, हृदय शून्य हो जाता है यही बिना किसी इच्छा की समाधि है, यही आत्मा और परमात्मा की अनुभूति है।

□□

## सोलहवां अध्याय

सूत्र-1

( अष्टावक्र-उवाच )

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः ।

तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥

शब्दार्थ—आचक्ष्व—कहो, शृणु—सुनो, वा—या, तातः—हे प्रिय! नानाशास्त्राणि—नानाशास्त्र हैं, अनेकशः—अनेक हैं, तथापि—फिर भी, न—नहीं है, तव—तुम्हारा, स्वास्थ्यम्—स्व में स्थित अर्थात् शांति, सर्वम्—सब कुछ, विस्मरणात्—भूल जाने से, ऋते—बिना ।

प्रसंग—हे प्रिय! कई तरह के शास्त्र हैं, उनमें विभिन्न विचारधाराओं का कई तरह से प्रतिपादन है। उन्हें कितना भी कहो या सुनो तब भी तुम्हें शांति प्राप्त नहीं होगी, जब तक तुम उनका विस्मरण नहीं कर दोगे, उन्हें भूल नहीं जाओगे ।

व्याख्या—अष्टावक्र जनक को तत्त्व ज्ञान का उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे तात! शास्त्र (ग्रंथ) अनेक प्रकार के हैं, जिनमें विविध मत हैं। ये ग्रंथ केवल पथ प्रदर्शक हो सकते हैं, ये नक्शे मात्र हैं जिनके सहयोग से तुम लक्ष्य तक पहुंचने का मार्ग तय कर सकते हो। नहीं तो इनका और कोई प्रयोग नहीं है, ग्रंथों में ज्ञान नहीं है। ज्ञान स्वयं के अंदर है, जिसे जानना है। वह प्राप्त तो है, लेकिन उसे देखना मात्र है। मन के शीशे पर जो धूल जम गई है, जिसके कारण आत्मा का बिम्ब (छाया) दिखाई नहीं दे रहा है, उस धूल को साफ करना मात्र है,

तुम्हारा चित्त कामना और कल्पनाओं से इतना भर गया है कि उनसे आत्मा की छाया दिखाई नहीं दे रही है अतः मन को लहरों से रहित करना है। ये विचार ही लहरें उत्पन्न करते हैं। बहुत से ग्रंथों के अध्ययन से, उनको सुनने और सुनाने से मन में विचार की लहरें और बढ़ जाती हैं। इनसे तर्क, वितर्क उत्पन्न होता है, सन्देह पैदा होता है, पंडित बन जाता है, जिससे अभिमान बढ़ता है। चित्त को भरने से आत्मज्ञान नहीं होता। उसको खाली करने से होता है। एकत्रित धन हो, सम्मान हो या प्रतिष्ठा हो या कल्पनाओं का संग्रह। यह संगठन भी बाधा है बन्धन है, जिसके प्रभाव के कारण व्यक्ति आत्मज्ञान से वंचित रह जाता है, बाहरी पदार्थों को तो त्यागा भी जा सकता है, लेकिन ग्रन्थों के अध्ययन से जो प्राप्त ज्ञान है उसको भी भूलना पड़ेगा तभी तुझे सर्वोत्तम ज्ञान रूपी (शांति) की प्राप्ति हो सकेगी। जगत् बन्धन नहीं बल्कि उसके प्रति प्रीति, आस्था और रुचि ही बन्धन है। इन सबको भूलकर चेतन आत्मा में स्थित हो जाना ही मुक्ति है, यही स्वास्थ्य है, इसी से शांति मिलती है। सत्य किताबों से नहीं मिलता, इसके बड़े-बड़े महान विद्यालय भी नहीं होते और न ही इसकी उपाधि मिलती है। बाहरी अनुभवों को भूलने से ही आत्मा का स्मरण होगा। दोषरहित मन की स्थिति में ही ज्ञान होता है। यह मौन अवस्था में ही उपलब्ध होता है।

## सूत्र-2

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते।

चित्त निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति ॥

शब्दार्थ—भोगम्—भोग, कर्म—कर्म, समाधिम्—समाधि को, वाध्या, कुरु—करो, विज्ञ—जानने वाला, तथापि—तब भी, ते—तुम्हारा, चित्तम्—चित्त, निरस्तसर्वाशम्—समस्त प्रकार की आशाएं जिसकी समाप्ति हो गई है, अत्यर्थम्—अत्यन्त, रोचयिष्यति—आनन्ददायक रोचक लगेगा।



**प्रसंग**—हे ज्ञान रूप! तेरा चित्त भोग करे, समाधिस्थ हो या फिर कर्म में प्रवृत्त हो, वह तब तक अत्यन्त रुचिकर को नहीं प्राप्त करेगा, जब तक उसकी सभी प्रकार की आशाएं समाप्त नहीं हो जाएंगी।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि मन का स्वभाव ही चंचलता (व्याकुलता) है। वह सदैव सांसारिक भोगों की ओर लालायित रहता है। वह विविध भोग वासनाओं को भोगकर भी संतुष्ट नहीं होता। ज्यादा से ज्यादा पाने की इच्छा बढ़ती रहती है। इतना ही नहीं व्यक्ति का मन समाधि में बैठने पर भी शांत नहीं होता। थोड़े समय के लिए रुक जाता है। लेकिन बीज रूप में जो उसकी व्याकुलता है। वह समाप्त नहीं होती, इसलिए समाधि में भी वह सभी आशाओं से रहित प्रतीत होता हुआ भी समय आने पर दोबारा विषयों की ओर भागता है। हे जनक! तू ज्ञानी है, ज्ञान स्वरूप है अतः मन की इस व्याकुलता को जानकर इससे किसी प्रकार प्रभावित मत हो।

### सूत्र-3

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।

अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति विर्वृतिम्॥

**शब्दार्थ**—आयासात्—प्रयास करने के परिणामस्वरूप, सकलः—सभी, दुःखी—दुखी है, न—नहीं, एवम्—इसे, जानाति—जानता है, कश्चन—कोई भी, अनेन—इसी, उपदेशेन—उपदेश से, धन्यः—कोई सुकृत पुरुष ही, प्राप्नोति—प्राप्त करता है, विर्वृतिम्—परमानन्द को।

**प्रसंग**—प्रयास से सब व्यक्ति दुखी हैं, इसको कोई नहीं जानता है। इसी उपदेश से भाग्यवान लोग निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि प्रयत्न करने से ही ये जगत् मिलता है। धन, मान, पद, प्रतिष्ठा, ज्ञान, विद्वत्ता, ऐश्वर्य, समृद्धि आदि सभी कुछ प्रयत्न करने से ही व्यक्ति प्राप्त करता है। बिना प्रयत्न के इस जगत् में कुछ भी नहीं मिलता। विज्ञान की उपलब्धियां, खेती,

आवागमन, संचार के साधन, वाणिज्य, व्यापार (व्यवसाय) आदि सब कुछ जो आज हम देख रहे हैं वह कई पीढ़ियों से किए गए व्यक्ति के प्रयत्न का ही फल है। यदि व्यक्ति ने प्रयत्न न किया होता तो संसार जितना सुन्दर और उपयोगी बन पाया है, उतना कभी नहीं बन सकता था। प्रकृति का विदोहन (त्याग) और तकनीक का विकास व्यक्ति के प्रयासों का परिणाम है। लेकिन व्यक्ति इन प्रयत्नों का इतना आदी हो चुका है कि परमेश्वर को भी प्रयत्न से ही प्राप्त करना चाहता है, व्यक्ति ने जैसे अणु, परमाणु की खोज की उसी प्रकार से परमात्मा को भी पदार्थों में खोज रहा है। वह उसे जाप, तपस्या, योग, साधना, हठयोग, मंत्र, भक्ति, स्मरण, पूजा आदि के प्रयत्नों द्वारा प्राप्त करना चाहता है लेकिन परमेश्वर प्रयत्न से नहीं प्राप्त होता, खोजने से नहीं प्राप्त होता। क्योंकि वह कहीं पर खोया नहीं है, वह तो प्राणी के अन्दर है, जिसे देखना मात्र है, वह भूल चुका है, उसे दोबारा से याद करना है, इसमें प्रयत्न करना मार्ग नहीं है, प्रयास न करना ही मार्ग है, मन की शांत और जाग्रत स्थिति ही इसे पाने का उपाय है। प्रयास से तनाव उत्पन्न होता है। विचार (कल्पना) उत्पन्न होते हैं, तर्क-वितर्क होता है। इसी प्रयास से व्यक्ति सुखी-दुखी होता है। जिससे व्यक्ति के चित्त में लहरें उठती हैं। जिससे अन्दर स्थित आत्मा की उसे झलक नहीं पड़ती। परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग द्वन्द्व नहीं है, समर्पण है। प्रयत्न में कर्त्तापन करने का भाव है, जिससे अभिमान की वृद्धि होती है जो कि मूल बाधा है। अभिमान और परमात्मा दोनों एक साथ नहीं हो सकते। अभिमान नष्ट हो जाने पर 'मैं' भाव के नष्ट होने पर परमात्मा ही शेष रह जाता है। यह मैं ही रुकावट है जो प्रयत्न से और अधिक सुदृढ़ हो जाता है, इस कारण प्रयत्न करने वाला योगी व्यक्ति भटक जाता है, वह सिद्धियों में उलझ जाता है, जबकि भक्त अपने लक्ष्य को पा लेता है, यह मार्ग जगत् के मार्ग से अलग है। मन को संकल्प, विकल्पों, कल्पनाओं, मान्यताओं, नियमों, सम्प्रदायों आदि से मुक्त कर देना, जिससे उसमें लहरें नहीं उठें, यही मार्ग है। इसलिए

अष्टावक्र जी कहते हैं कि प्रयासों से सभी व्यक्तियों को कष्ट होता है। तनाव होता है, अशांति मिलती है, इसी से उनके मन व्याकुल होते हैं, यदि कोई व्यक्ति इस भेद को जान लेता है, तो वह मन की शांति को प्राप्त होकर आत्मज्ञानी हो सकता है। इसी उपदेश से कुछ ही सौभाग्यशाली व्यक्ति हैं जो परमानंद को प्राप्त होते हैं। समर्पण ही प्रभु का द्वार है, संघर्ष जगत् का। यही भेद है।

#### सूत्र-4

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि।

तस्यालस्याधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित् ॥

शब्दार्थ—व्यापारे—विषयों की प्रवृत्ति में, खिद्यते—खेद होता है, जिन्हें, यः—जो, तु—तो, निमेषोन्मेषयोः—पलकों को खोलने-बन्द करने में, तस्य—उसका, आलस्य-धुरीणस्य—आलस्य में प्रवीण, सुखम्—सुख, न—नहीं, अन्यस्य—अन्य का, कस्यचित्—किसी को।

प्रसंग—जो आंख के खोलने और ढकने के व्यापार से दुखी होता है, वह आलसी शिरोमणि का ही सुख है। दूसरे किसी का नहीं।

व्याख्या—महर्षि कहते हैं, ऐसा तत्त्ववेत्ता पलक झपकने जैसे सरल कार्य का प्रतिपादन करने में भी प्रमादी (आलसी) हो जाता है और आश्चर्य की बात ये है कि ऐसा महान आलस्य वाला व्यक्ति ही सुखी होता है, दूसरा कोई नहीं। 'पलक झपकने' रूपी कार्य आज की भाषा में 'रिफ्लैक्शन एक्शन' कहा जाता है। यह एक बिना इच्छा के और सरलता से होने वाली प्रतिक्रिया है। कार्यों में प्रवृत्त न होने का भाव तत्त्व को जानने वाले में इतना अधिक होता है कि बिना इच्छा से होने वाली क्रिया भी उससे प्रभावित होने लगती है। वह अप्रवृत्ति उसकी आदत (स्वभाव) बन जाता है, ऐसा कहना भी गलत नहीं होगा। इस विषय में तीन प्रकार की स्थितियों का वर्णन मिलता है, मिल जाता है, तो प्रेरित करना खा लेते हैं, कोई खिलाता है तो खाया



जाता है और खिलाने समय बार-बार पड़ता है, खाने को। तीसरी स्थिति में जिजीविषा की भी रेखा मात्र रह जाती है। ऐसे व्यक्ति का शरीर त्याग शीघ्र हो जाता है। शरीर के रहने न रहने से उसे कोई फर्क नहीं पड़ता।

### सूत्र-5

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः।

धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत्॥

शब्दार्थ—इदम्—यह, कृतम्—किया, इदम्—यह, न—  
नहीं, इति—इस प्रकार के, द्वन्द्वैः—द्वन्द्वों से, मुक्तम्—मुक्त, यदा—  
जब, मनः—मन, धर्मार्थकाममोक्षेषु—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष  
में, निरपेक्षम्—निरपेक्ष, तदा—तब, भवेत्—हो जाता है।

प्रसंग—यह किया गया है और यह नहीं किया गया, ऐसे द्वन्द्व से  
जब मन मुक्त हो तब वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रति उदासीन  
हो जाता है।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि व्यक्ति जो कार्य कर लेता है  
उसके फल की इच्छा से उसका मन व्याकुल रहता है। अच्छे-बुरे  
किए गए कार्यों का फल भी सही-गलत होता है, जिससे व्यक्ति को  
सुख, कष्ट का आभास होता है। फिर व्यक्ति अधिक सुखों को प्राप्त  
करने के एवं कष्टों की मुक्ति हेतु प्रसन्न करता है जिससे मन को कभी  
शांति नहीं मिलती। व्यक्ति के किए गए कार्य अपना प्रभाव चित्त पर  
छोड़ते हैं जिन्हें संस्कार कहा जाता है। ये संस्कार ही व्यक्तियों का कई  
जन्म तक पीछा नहीं छोड़ते। उनका भोग किए बिना मोक्ष की प्राप्ति  
संभव नहीं है। लेकिन जो कार्य नहीं किए गए हैं, केवल कल्पनाओं  
तक ही सीमित हैं, उनसे भी चित्त व्याकुल होता रहता है। उन्हें करने  
की इच्छा बार-बार होती है। मन में विक्षिप्त बना रहता है। उपयोग  
करने वाले व्यक्ति कम दुखी हैं लेकिन जिन व्यक्तियों ने अभी तक  
उपयोग नहीं किया है, उन्हें मानसिक समस्या ज्यादा है। संसार में



अधिकांश व्यक्ति मानसिक रूप से पागलों की संख्या इन्हीं की है। अष्टावक्र कहते हैं कि जो किया और जो अभी तक नहीं किया इन दोनों के द्वन्द्व (संघर्ष) से जब व्यक्ति का चित्त मुक्त हो जाता है तो वह धर्म, अर्थ (धन-संपत्ति) और काम (वासना) तो क्या मोक्ष (मुक्ति) के प्रति भी उदासीन हो जाता है, मोक्ष की चाहना भी है, तो चित्त शांत नहीं होगा। अतः इच्छा का त्याग ही मुक्ति है।

### सूत्र-6

विरक्तो विषयद्वेषा रागी विषयलोलुपः।

ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्॥

शब्दार्थ—विरक्त—जिसकी समस्त आसक्तियां समाप्त हो चुकी हैं, विषयद्वेषा—विषयों में जिसकी राग दृष्टि नहीं है, रागी—आसक्त, विषयलोलुपः—विषयों का लोभी, ग्रहमोक्षविहीनः—पकड़ने और छोड़ने से मुक्त, तु—तो, न—नहीं, विरक्तः—विरक्त, न—नहीं, रागवान्—रागवाला।

प्रसंग—विषय का द्वेषी विरक्त है। विषय लोलुप रोगी है। जो ग्रहण और त्याग दोनों से रहित है वह न विरक्त है न रागवान है।

व्याख्या—जो व्यक्ति विषयों में लोलुप है वह रागी है, उसे प्रत्येक क्षण भोगों की ही इच्छाएं बनी रहती हैं। पूरा समय अधिक से अधिक पाने में लगा रहता है। वह दूसरों के हित को भी छीनकर स्वयं सुखी होना चाहता है। ऐसे सांसारिक विषय-वासनाओं में लिप्त रहने वाले व्यक्ति को बुरे से बुरा कार्य करने में भी उसे शर्म नहीं आती। उनके बुरे परिणाम को भोग लेने के बाद भी उसे अक्ल नहीं आती, बल्कि उसकी सांसारिक भोगों को प्राप्त करने की इच्छा और बढ़ जाती है। चोरी या किसी और गलत ढंग से कमाए हुए धन को रिश्वत में दे देने से उसकी आशा और बढ़ती जाती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति विषयों (सांसारिक भोगों) से घृणा करता है। उसे विरक्त (त्यागी) कहते हैं ऐसा त्याग देने वाला व्यक्ति भी शांत नहीं है। उसका मन

विषयों को भला-बुरा कहने में ही लगा रहता है। वह जगत्, घर, परिवार, धन-संपत्ति, पत्नी, पुत्र, काम, क्रोध सबको गालियां ही देता है। भोग करने वाले और ये त्याग कर देने वाले दोनों के ही समान रूप से चित्त अशांत (व्याकुल) हैं। मोक्ष की बड़ी स्थिति है जब चित्त पूर्णतः शान्त हो जाएं। कल्पना और विकल्प दोनों ही शून्य हो जाएं। अष्टावक्र कहते हैं कि जो राग और विराग, ग्रहण और त्याग, संसार (जगत्) और संन्यास, भोग और त्याग, आसक्ति एवं विरक्ति जैसे संघर्षों से रहित हो वही वीतरागी है, वही बिना आस्था वाला है वही द्वन्द्व रहित है। उसी व्यक्ति को परम सुख की प्राप्ति होती है। और वह स्थिति ही मोक्ष है। मोक्ष कोई स्थान विशेष नहीं है, जहां पहुंचना है बल्कि मन की ऐसी शांत दशा ही मोक्ष (मुक्ति) है।

### सूत्र-7

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपांकुरः ।

स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम् ॥

शब्दार्थ—हेयोपादेयता—त्यागना और ग्रहण करना, तावत्—तब तक है, संसार-विटपांकुरः—संसार रूपी वृक्ष का अंकुर, स्पृहा—वासना, जीवति—जीवित है, यावत्—जब तक, वै—निश्चयपूर्वक, निर्विचारदशास्पदम्—अविवेक की दशा।

प्रसंग—जब तक वासना है, तब तक अविवेकी विचार शून्य स्थिति में जीवित रहता है। त्यागने और ग्रहण करने की वृत्ति ही संसार रूपी वृक्ष का अंकुर है।

व्याख्या—इस सूत्र में महर्षि त्याग करना और ग्रहण करने को इस विश्वरूपी वृक्ष का अंकुर कहा गया है। उपयोगिता और अनुपयोगिता की कसौटी पर इस जगत् का समस्त व्यवहार (आचरण) चलता है। सांसारिक व्यक्ति जब तक तृष्णा (प्यास) के प्रभाव में रहता है तब तक बुद्धिहीन बना रहता है। तृष्णा में संतोष की कोई भूमिका नहीं है। व्यक्ति जैसे-जैसे भोगता है, उसको प्राप्त की इच्छा और बढ़ती जाती

है और जब तक व्यक्ति में प्यास रहती है, तब तक उसे जीवित रहने की इच्छा भी बनी रहती है। लेकिन आत्मज्ञान को प्राप्त हो जाने वाला व्यक्ति भी तो भोगता है, परन्तु उसमें प्यास नहीं होती। यह प्यास अगर व्यक्ति के अन्दर रहती है तो विश्व रूपी वृक्ष का अंकुर दोबारा अंकुरित हो जाएगा। तृष्णा (प्यास) ही विश्व है और उसकी समाप्ति ही मोक्ष है। सांसारिक भोगों को छोड़ देने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसे कोई भी पागल व्यक्ति अपने पागलपन में त्यागकर नग्न हो सकता है और बहुत से मूर्ख व्यक्ति ऐसा ही करते हैं। वे इसी बिना ज्ञान के छोड़ते हैं कि इनको त्यागने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी। लेकिन बिना प्यास को त्यागकर मुक्ति नहीं होती। इस तृष्णा रूपी प्यास से मन में लहरें उठती हैं। जब तक लहरें हैं तब तक शांति तथा मुक्ति नहीं है।

### सूत्र-8

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।

निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः ॥

शब्दार्थ—प्रवृत्तौ—प्रवृत्ति में, जायते—पैदा होता है, रागाः—राग, निवृत्तौ—निवृत्ति में, द्वेषः—वैर, एव—ही, हि—क्योंकि, निर्द्वन्द्व—द्वन्द्वों से मुक्त, बालवत्—बच्चों की तरह, श्रीमान्—बुद्धिमान, एवमेव—इस प्रकार ही, व्यवस्थितः—व्यवस्थित।

प्रसंग—प्रवृत्ति से राग (आसक्ति) व निवृत्ति (त्याग) से द्वेष पैदा होता है, इसीलिए बुद्धिमान व्यक्ति द्वन्द्व युक्त बालक के समान जैसा है, वैसा ही रहता है।

व्याख्या—इस संसार (जगत्) से मोक्ष के लिए दो मार्ग बताए हैं—एक है प्रवृत्ति मार्ग तथा दूसरा निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति को मानने वाले कहते हैं कि भोग से ही मोक्ष प्राप्त होता है। आरम्भ के कार्यों के कारण ही यह मानव जीवन प्राप्त हुआ है, अतः इन कार्यों का भोग किए बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है आत्मज्ञानी व्यक्ति को भी



अपने पहले किए गए कर्म (कार्य) का फल तो भोगना ही पड़ता है। जो व्यक्ति इन कार्यों के परिणाम को भोगे बिना ही इस दुनिया से चला जाता है या त्याग कर देता है यह उस व्यक्ति का अभिमान है। कर्मों (कार्यों) के नियम की अवमानना कर रहा है। हठ योग करने वाले व्यक्ति भी हठ (जिद) के कारण अपनी इन्द्रियों की क्रियाओं पर तो अंकुश लगा सकते हैं लेकिन अन्दर इच्छाएं चलती रहती हैं, आस्था बनी रहती है, जिससे वह ढोंगी हो जाता है। प्रवृत्ति मार्ग वाले यह भी बताते हैं, जिसको छोड़ना चाहते हो, उसका पहले पूर्ण आनन्द ले लो। ऐसा करने से उसके प्रति घृणा और उसमें आस्था नहीं रहेगी व तुम उससे शीघ्रता से मुक्त हो जाओगे। विषयों में आनन्द इसीलिए प्राप्त होता है कि तुम उसे पूरा आनन्द नहीं ले पाते हो, आधा ही उपभोग कर पाते हो। इसके विपरीत निवृत्ति मार्ग वाले बताते हैं कि भोगों का अधिक भोग करने से विषय वासनाएं शान्त नहीं होतीं। यह ऐसा आकर्षण है, जिसका जितना भोग करो उतना ही बढ़ता जाता है। वासनाएं बहुत सी हैं जो भोग से शांत नहीं होंगी। जिस प्रकार से अग्नि (आग) में घी डालने से आग और बढ़ जाती है इसी प्रकार से सांसारिक भोग वासनाएं हैं जो कि जितना भोग करो उतना ही बढ़ती जाती हैं। इसलिए निवृत्ति ही मार्ग है। इनका त्याग कर देना ही मार्ग है यह दृढ़ निश्चय से हो सकेगा। लेकिन अष्टावक्र तीसरी ही बात बताते हैं। वे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को ही कामना मानते हैं। वे बताते हैं कि प्रवृत्ति से राग उत्पन्न होता है, प्रीति बढ़ती है तो निवृत्ति से, छोड़ भागने से, हठ पूर्वक त्याग करने से, अधिक प्राप्त करने की कामना से, तुच्छ का त्याग कर देने से, मुक्ति के लिए जगत् और विषयों को त्याग देना भी कामना रूपी प्यास है ऐसी प्यास का होना ही बन्धन है। निवृत्ति से भी ईर्ष्या उत्पन्न होती है, इसलिए आत्मज्ञानी बुद्धिमान व्यक्ति प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से युक्त होकर बच्चे के समान दृढ़ रहित होकर सहज एवं साधारण जीवन जीता है। स्वभावपूर्वक जो प्राप्त होता है उसे ग्रहण कर लेता है। कामना युक्त होकर, विनय और



दृढ़ (जिद) पूर्वक कार्य नहीं करता है और न ही त्याग करता है।

### सूत्र-9

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया।

वीतरागी हि निर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यति ॥

शब्दार्थ—हातुम्—त्यागना, इच्छत्—चाहता है; संसारम्—संसार को, रागी—विषयों में राग करने वाला, दुःख जिहासया—दुःख को छोड़ने के लिए, वीतरागः—जिसके विषयों में राग समाप्त हो चुका है, हि—क्योंकि, निर्दुःख—दुख से परे होता हुआ, तस्मिन्—उसमें, अपि—भी, न—नहीं, खिद्यति—खेद को प्राप्त नहीं होता।

प्रसंग—रागी पुरुष दुःख से बचने के लिए संसार को त्यागना चाहता है लेकिन वीतरागी दुःख मुक्त होकर संसार के बीच भी खेद को प्राप्त नहीं होता है।

व्याख्या—अष्टावक्र बताते हैं कि वह व्यक्ति भी रागी ही हो जाता है जो कष्टों से बचने के लिए इस दुनिया को छोड़ देना चाहता है। जो कहता है कि जगत् में कष्ट ही कष्ट है, जन्म लेना भी दुःख है, मृत्यु भी कष्ट है जीना, मरना, कष्ट है। जगत् कष्टों का भण्डार है, इसलिए इसे छोड़कर भाग चलो। घर-परिवार, पत्नी-बच्चे, धन-संपत्ति आदि को त्यागकर भाग जाओ क्योंकि इनमें भी व्यक्ति को कष्ट ही दिखाई पड़ता है लेकिन संसार को त्याग देने से कष्ट समाप्त नहीं हो जाते। कष्टों का कारण देह व चित्त है, कामना एवं प्यास है, जिनके रहते हुए व्यक्ति को वनों में भी शान्ति नहीं मिल सकती। वहां जाकर उसे और अधिक व्याकुलता होती है। राग यदि कष्ट है तो विराग भी कष्ट है, आसक्ति (प्रीति) दुःख है तो विरक्ति भी दुःख ही है। जगत् की प्यास को त्यागकर मोक्ष की प्यास को करना भी कष्टदायक ही है। अतः जिसका विषयों में राग समाप्त हो चुका है वही एकमात्र उपाय है इन दुःखों से मुक्त होने का। व्यक्ति को न तो राग है न विराग। दोनों से बिना प्रेम किए ही इनसे पार निकल जाना ही मोक्ष को पाने का उपाय

है। ऐसा प्राणी इस जगत् में रहते हुए भी बिना किसी दुःख के मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। और विरागी व्यक्ति न तो वनों में ही सुखी होगा और न ही हिमालय पर रहकर अतः सुख-दुःख सांसारिक पदार्थों में नहीं बल्कि अपने मन के भावों में है।

### सूत्र-10

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।

न च योगी न वा ज्ञानी केवलं दुःख भागसौ॥

शब्दार्थ — यस्य — जिसका, अभिमानः — अभिमान, मोक्षेऽपि — मोक्ष में भी, देहेऽपि — शरीर में भी, ममता — मेरे मन की भावना, तथा — और, न — नहीं, च — और, न — नहीं, वा — अथवा, ज्ञानी — ज्ञानी, केवलम् — केवल, दुःखभागसौ — दुःख का भागी है।

प्रसंग — जिसका मोक्ष के प्रति अहंकार है, और वैसी ही शरीर के प्रति ममता है, वह न तो ज्ञानी है और न योगी है, केवल दुःख का भागी है।

व्याख्या — योगी क्रिया से पहुंचता है। वह अष्टांग योग साधता है, यम, नियम, आसन, प्राणायाम की क्रिया से पहुंचता है, वह विधि के अनुसार एक के बाद एक सीढ़ी पार करता हुआ पहुंचता है। इसलिए ऐसे व्यक्ति को गिर जाने का डर नहीं होता। अगर गिर भी पाता है तो एक सीढ़ी नीचे ही रुक जाता है, पूरा नीचे नहीं पहुंच जाता। योग भ्रष्ट में पहले जन्म के संस्कार रहते ही हैं, जहां से आगे का रास्ता फिर दोबारा शुरू कर देता है। दूसरा व्यक्ति ज्ञानी है जो उपर्युक्त क्रिया को नहीं करता हुआ भी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। बोध मात्र से ही पहुंच जाता है। वह सीधा ही अस्तित्व से अन-अस्तित्व में लांघकर पहुंच जाता है। वह व्यक्ति क्रिया एवं साधना को भी बन्धन जानता है। क्योंकि सारी क्रियाएं अभिमान की वृद्धि करती हैं। नियम के अनुसार चलने वाले को भी सांसारिक भोगों से प्रीति होने

लगती है। वह स्वयं को ज्ञानी, महात्मा जानने लग जाता है, जो अभिमान की वृद्धि करता है। इसी प्रकार संसार को छोड़ देने वाला, गेरुए वस्त्र धारण करने वाला भी स्वयं को साधु, महात्मा, सन्त, त्यागी जानने लगता है, इससे उसे अभिमान सांसारिक व्यक्ति से भी अधिक हो जाता है। उसकी इसमें भी ममता, स्नेह होने लगता है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि जो व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध हो गया यदि उसे भी मोक्ष के लिए अभिमान हो जाए कि अब मैं मुक्त हो गया, मैं सिद्ध शिला पर बैठ गया, मैं परमात्मा हो गया, अब मेरे से बड़ा कोई नहीं है तथा ऐसी ही शरीर के प्रति ममता हो गई कि लोग अब इस शरीर की पूजा अर्चना करें, बैंड-बाजे के साथ शोभा यात्रा निकालें, मुझे गुरु, तीर्थकर, भगवान मानें तो ऐसा व्यक्ति न ज्ञानी है और न योगी है, बल्कि वह कष्ट का भागीदार है।

### सूत्र-11

हरौ यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।

तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥

शब्दार्थ—हरः—शिव, यदि—यदि, उपदेष्टा—उपदेश करने वाले, ते—तुम्हें, हरिः—विष्णु, कमलजोऽपि—ब्रह्मा भी, वा—और, तथापि—तब भी, न—नहीं, तव—तुम्हारा, स्वास्थ्यं—निजस्थिति, आनन्द प्राप्ति, सर्वविस्मरणादृते—सब कुछ को भूले बिना, सबका त्याग किए बिना।

प्रसंग—भगवान शिव, भगवान विष्णु या फिर स्वयं ब्रह्मा तुम्हें उपदेश करने वाले हों, तब भी तुम्हें आत्म शान्ति, आनन्द की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक संसार के विषयों का त्याग नहीं कर देते—सबको भूल नहीं जाते—आत्म शान्ति का एक मात्र मार्ग है, त्याग।

व्याख्या—अष्टावक्र बताते हैं कि मोक्ष का अर्थ भूल जाना ही है। व्यक्ति को जो संस्कारों या इस जगत् से प्राप्त किया है, उन सभी

को भूल जाना ही मोक्ष है। जब तक इनकी थोड़ी-सी भी याद बाकी है, तब तक व्यक्ति को मोक्ष नहीं है, क्योंकि यह जगत् बन्धन नहीं बल्कि स्मृति ही बन्धन है। इसी से स्वतन्त्र होना है, यह जगत् ही नहीं बल्कि ईश्वर, आत्मा, परमात्मा आदि का भी स्मरण (याद करना) बन्धन है क्योंकि मुक्ति में 'मैं' होता ही नहीं फिर स्मरण (याद) कौन करेगा। स्मरण का अर्थ है कि दो विद्यमान हैं—स्मरण करने वाला और जिसका स्मरण किया जा रहा है। अतः इन दोनों के उपस्थित रहते हुए मुक्ति नहीं हो सकती। यहां तक कि जिस गुरु की कृपा (दया) से ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका भी विस्मरण (भूलना) है नहीं तो वह गुरु भी बन्धन हो जाता है। ऐसा गुरु शिव, विष्णु या ब्रह्मा ही क्यों न हो, उनको भी भूल जाना होगा। ऐसा किए बिना शान्ति, मुक्ति नहीं मिल सकती।

□□



## सत्रहवां अध्याय

### सूत्र-1

#### ( अष्टावक्र-उवाच )

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा ।

तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु याः ॥

शब्दार्थ—तेन्—उससे, ज्ञानफलम्—ज्ञान का फल, प्राप्तम्—प्राप्त होता है, योगाभ्यासफलम्—योगाभ्यास का फल, तथा—और, तृप्तः—तृप्त, स्वच्छेन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियां स्वच्छ निर्मल हैं, नित्यम्—नित्य, एकाकी—अकेला, एकमात्र, रमते—रमण करता है, तु—तो, यः—जो ।

प्रसंग—जो पुरुष तृप्त है, शुद्ध इन्द्रिय वाला है और सदा एकाकी रमण करता है उसी को ज्ञान और योगाभ्यास का फल प्राप्त होता है ।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि सभी प्रकार की साधनाओं का फल ज्ञान है । भक्ति हो या उपासना, ध्यान हो या समाधि, योगाभ्यास हो या सांख्य तन्त्र हो या हठ योग इन सबकी अंतिम उपलब्धि अंतिम फल ज्ञान ही है और ज्ञान का परिणाम ही मुक्ति है । लेकिन ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद व्यक्ति संतुष्ट नहीं है, उसकी इच्छाएं अभी भी दौड़ रही हैं । वह चिंतित है तो इसका मतलब है कि ज्ञान प्राप्त करके भी वह उसका पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं कर पाया है । उसे ज्ञान का परिणाम मिला ही नहीं । अगर ज्ञान प्राप्त करने पर भी व्यक्ति की इन्द्रियां पवित्र नहीं हुई हैं, अभी भी सांसारिक भोगों की ओर दौड़ रही हैं और वह अकेले रहने से डरता है, वह समूह में ही रहना चाहता है, आश्रम, मठ

बनाकर, बहुत से शिष्य बनाकर उनमें वास करके अपने अभिमान को संतुष्ट करता है तो उसे आत्मज्ञान का लाभ नहीं हुआ है। अष्टावक्र बताते हैं कि आत्मज्ञान एवं योगाभ्यास से जो व्यक्ति स्व चेतना को जाग्रत कर लेता है वह स्वयं से संतुष्ट हो गया है, संतुष्टि के लिए उसे दूसरे किसी की आवश्यकता नहीं है। वह शुद्ध इन्द्रियों वाला हो गया जिसके कारण उसकी इन्द्रियां विषयों की ओर नहीं भागतीं। स्वभाव से जो प्राप्त हो जाता है उसी में संतोष कर लेती हैं। कामना नहीं है। शरीर के लिए जितना जरूरी है, उतना ही पाकर संतोष कर लेता है तथा जो अकेले रहता है, समूह का निर्माण नहीं करता, किसी अन्य से कोई आशा नहीं रखता। नगर में रहकर भी अकेले होने का अनुभव करता है। मित्र-सखा, शत्रु, हितैषी नहीं बनाता। न किसी से सहयोग लेता है, ऐसे ज्ञानी व्यक्ति को ही आत्मज्ञान का परिणाम मिलता है। इसके विपरीत करने पर वह ज्ञान प्राप्त करके भी उसके परिणाम से वंचित रहता है। इसलिए आत्मज्ञानी को अकेला रहने का सुझाव दिया जाता है वरना फिर वह वासनाओं का दास बन सकता है।

## सूत्र-2

न कदाचिज्जगत्यस्मिस्तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति।

यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम्॥

शब्दार्थ—न—नहीं, कदाचित्—कभी, जगति—जगत् में, अस्मिन्—इस, तत्त्वज्ञः—तत्त्व को जानने वाला, हन्तः—यह बात ठीक है, खिद्यति—दुखी, यतः—क्योंकि, एकेनतेन—एक उससे, इदम्—यह, पूर्णम्—पूर्ण है, ब्रह्माण्डमण्डलम्—ब्रह्माण्ड मंडल।

प्रसंग—हन्त! तत्त्वज्ञानी इस जगत् में कभी खेद को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उसी एक से यह ब्रह्माण्ड मण्डलपूर्ण है।

व्याख्या—जब तक कोई व्यक्ति आत्मज्ञान को उपलब्ध नहीं हो जाता तब तक वह सभी शरीरों को अलग-अलग समझता है। यह विविधता ही कष्टों का कारण है। अलग-अलग चित्त, बुद्धि और शरीर

वाले व्यक्ति जब एकत्र होते हैं तो उन सबके विचारों में समानता न होने से व्यक्ति को बड़ी व्याकुलता होती है। घर में भी बड़ा परिवार होने पर उसमें मानसिक रोग हो जाते हैं। वह विकास (उन्नति) नहीं कर सकता। स्वस्थ मन और दिमाग एकान्त में ही हो सकता है। दूसरे की उपस्थिति से मानसिक तनाव उत्पन्न होता है, दूसरे के होने से ही अभिमान की भी वृद्धि होती है। अभिमान के लिए अनेक व्यक्तियों का होना आवश्यक है, एकान्त में अभिमान नष्ट हो जाता है। दूसरे की मौजूदगी में व्यक्ति स्वाभाविक नहीं रह सकता, उसे नैतिकता, शिष्टाचार आदि का ढोंग करना ही पड़ता है। इसलिए चिन्तन करने वाला, ध्यान लगाने वाला कलाकार, वैज्ञानिक आदि व्यक्ति एकान्त चाहते हैं। वे दूसरे की मौजूदगी में अशांति का अनुभव करते हैं जिसके कारण कई व्यक्ति तो दूसरों को समाप्त करने में लग जाते हैं, बहुत से दूसरों से परेशान होकर वनों में चले जाते हैं लेकिन अष्टावक्र कहते हैं कि जो तत्त्व ज्ञान को जानते हैं, वे इस संसार में भीड़-भाड़ के बीच रहते हुए भी बाधा नहीं समझते, क्योंकि उनकी नजर में यह सारा ब्रह्माण्ड मण्डल उसी एक आत्मा का फैलाव है, उसी एक से सब परिपूर्ण हैं। अतः सारा ब्रह्माण्ड एक ही है, यहां पर अन्य कोई नहीं है, फिर कष्ट किससे हो। कोई भी स्वयं को कष्ट नहीं देता। अतः आत्मज्ञानी को इस एक तत्त्व की भावना का ज्ञान हो जाने से वह सदैव चिन्ता से मुक्त रहता है।

### सूत्र-3

न जातु विषयः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्ययी।

सल्लकी पल्लव प्रीत मिवेमन्निम्बपल्लवाः ॥

शब्दार्थ—न जातुः—कभी भी नहीं, विषयः—विषय, केऽपि—कोई भी, स्वारामम्—आत्माराम में स्थित तत्त्वत्व को, हर्षयन्ति—प्रसन्न होते हैं, करते हैं, अभी—ये, सल्लकी पल्लव प्रीतम्—सल्लकी नाम की मधुर बेल की पत्तियों से प्रसन्न, इव—



की तरह, इमम्—हाथी को, निम्बपल्लवाः—नीम के पत्ते ।

**प्रसंग**—जैसे सल्लकी के पत्तों से प्रसन्न हुए हाथी को नीम के पत्ते हर्षित नहीं करते हैं वैसे ही विषय आत्मा में रमण करने वाले मनुष्य को कभी हर्षित नहीं करते हैं ।

**व्याख्या**—अष्टावक्र बताते हैं कि सांसारिक विषयों में प्राणी को आनन्द एवं सुख प्राप्त होता है, यह बिना विवादपूर्वक है । अगर विषयों में सुख नहीं होता तो यह विश्व पागलों की तरह उनके पीछे नहीं दौड़ता । वह इस अंधी दौड़ में पड़ता ही नहीं । संसार में सुख है, आनन्द है, यह सांसारिक व्यक्ति का स्वयं अनुभव है । इसी के लिए वह सारी दौड़ धूप करता है लेकिन कुछ सिर-फिरे व्यक्तियों ने संसार को दुःख बताकर उससे भागने की बात कही लेकिन संसार छोड़ने से किसी को सुख मिला नहीं । जो था वह भी छूट गया अतः ऐसे व्यक्तियों की दशा बड़ी दयनीय हो गई । त्याग सब दिया, लिया कुछ नहीं । प्रत्यक्ष को त्याग कर अप्रत्यक्ष की इच्छा में दौड़ने वाला व्यक्ति बुद्धिमान नहीं हो सकता, मूर्ख ही हो सकता है । छोड़ना-मिलने की शर्त नहीं है । अगर बहुमूल्य प्राप्त हो गया तो तुच्छ स्वयं ही छूट जाएगा । छोड़ना नहीं पड़ेगा । अष्टावक्र इसी तथ्य को प्रकट करते हुए कहते हैं कि ये विषय भोगों के सुख क्षण मात्र हैं । हमेशा रहने वाले नहीं । इन सुखों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को बहुत से अनुचित कार्य करने पड़ते हैं, जिनका फल भोगने में उसे कष्ट होता है । अतः जगत् में कोई भी ऐसा सुख नहीं है, जिसके साथ दुःख जुड़ा हुआ न हो फिर ये सारे सुख अधिक समय तक रहने वाले नहीं हैं । आत्मा का, आनन्द का सुख ही सदैव रहने वाला है । आत्मा का सुख स्वयं का है । उसमें दूसरे का होना आवश्यक नहीं । अतः जिसने आत्मानन्द का सदा रहने वाला सुख प्राप्त कर लिया । जो नित्य आत्मा में ही रमण करने वाला हो उसे ये भौतिक सुख फीके ज्ञात होते हैं, इसलिए वह उनमें कभी प्रीति नहीं करता । जिस प्रकार सल्लकी के पत्तों से प्रसन्न हुए हाथी को नीम के पत्ते अच्छे नहीं लगते । लेकिन बहुत से ज्ञान रहित व्यक्तियों ने



इससे विपरीत आरम्भ किया है कि पहले छोड़ो तो मिलेगा। इससे संसार में भ्रान्ति हुई है। छूट भी गया व मिला कुछ नहीं।

#### सूत्र-4

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासितः ।

अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भव दुर्लभः ॥

शब्दार्थ—यः—जो, तु—तो, भोगेषु—भोगों में, भुक्तेषु—भोगे गए में, न—नहीं, भवति—होता है, अधिवासितः—आसक्त, अभुक्तेषु—जिन्हें नहीं भोगा गया है, ऐसे विषयों के प्रति, निराकांक्षी—जिसकी कोई (इच्छा) वासना नहीं, तादृशो—इस तरह के व्यक्ति, भवदुर्लभः—इस संसार में दुर्लभ हैं।

प्रसंग—जो भोगे हुए भागों में वासना नहीं रखता तथा न भोगे हुए विषयों के प्रति आकांक्षा नहीं करता, ऐसा मनुष्य संसार में दुर्लभ है।

व्याख्या—अष्टावक्र का समस्त उपदेश उपासना-सूत्र नहीं है बल्कि सिद्ध व्यक्ति, आत्म-ज्ञानी के लिए कहे गए सूत्र हैं कि आत्म-ज्ञानी व्यक्ति का आचरण कैसा हो जाता है। यह आत्मज्ञान की कसौटी है। इन्हें साधना के रूप में लेने पर वह व्यक्ति भटक जाएगा। जो व्यक्ति इन्हें साधन-सूत्र मान लेता है तो भटकना निश्चित ही है। सब कुछ त्याग कर देने से आत्मज्ञान नहीं होता। यहां पर भी अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मज्ञान को जानने वाला व्यक्ति इस जगत् में मुश्किल से मिलता है। गीता में भी कहा है “हजारों मनुष्यों में से कोई एक अन्तःकरण की शुद्धि के लिए यत्न (प्रयास) करता है। फिर उनमें कोई विरला व्यक्ति ही आत्मा को यथार्थ जानता है।” ऐसे आत्म-ज्ञानी ही भोग किए हुए सांसारिक भोगों के लिए कामना नहीं करते क्योंकि वह याददाश्त से भी मुक्त हो जाते हैं, अगर ऐसा व्यक्ति भी कामना रखता है तो इसका अर्थ है कि उसे अभी तक आत्म-ज्ञान की अनुभूति नहीं हुई है। उसे सांसारिक विषय भोग ही अच्छे लगते हैं।

ऐसा ज्ञानी व्यक्ति उपभोग न किए गए विषयों के लिए भी आशा नहीं करता है, क्योंकि ये इच्छाएं ही उसे दोबारा सांसारिक विषयों में आसक्त कर सकती हैं। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति ही आत्मज्ञानी है जो इस जगत् में मिलना कठिन है। वह सदैव आत्मा में ही संतुष्ट रहता है।

### सूत्र-5

बुभुक्षेरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।

भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः ॥

शब्दार्थ — बुभुक्षेः — भोग की इच्छा वाला, इह — इस, संसारे — संसार में, मुमुक्षु — मोक्ष की इच्छा करने वाला, अपि — भी, दृश्यते — दिखाई देते हैं, भोग, मोक्ष निराकांक्षी — भोग और मोक्ष की आकांक्षाओं से परे, विरलः — विरला, हि — ही, महाशयः — महापुरुष।

प्रसंग — इस संसार में भोग की कामना रखने वाले और मोक्ष की इच्छा रखने वाले दोनों ही देखे जाते हैं लेकिन भोग और मोक्ष दोषों के प्रति निराकांक्षी (अनिच्छा रखने) वाला विरला महाशय ही मिलेगा।

व्याख्या — अष्टावक्र कहते हैं कि जब मन की सभी कामनाएं शान्त हो जाती हैं तो वही स्थिति मुक्ति की है। कामना के कारण ही मन में लहरें उठती हैं। ये विविध लहरें ही मोक्ष की प्राप्ति में रुकावट हैं। ये लहरें सांसारिक विषय-वासनाओं की हों या फिर मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा है तो लहरें ही हैं। जो व्यक्ति मोक्ष की इच्छा रखता है, उसकी चिन्ता करता है, उसके लिए प्रयास करता है, उसका मन व्याकुल रहता है। यह अशांति ही मोक्ष की प्राप्ति में रुकावट है। सांसारिक व्यक्ति सदैव कामनाओं में ही जीता है, कभी वह विषय भोग की कामना करता है तो कभी मोक्ष की लेकिन वह इस अन्तर को नहीं जानता कि यह कामना ही बन्धन है। सभी सन्त, महात्मा जगत् को छोड़ने का उपदेश देते हैं, भोजन करना, पीना, वस्त्र और घर-परिवार को त्यागने का उपदेश देते हैं। शिक्षा दे-देकर महात्मा बनने में

लगे हैं, लेकिन कोई इस भेद को नहीं बताता कि जगत् बन्धन नहीं, तुम्हारी कामनाएं बन्धन हैं। इनका त्याग करना ही मुक्ति है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि भोग और मोक्ष दोनों के लिए जो इच्छा नहीं रखता, जिसकी दोनों में ही रुचि नहीं है, ऐसा व्यक्ति ही मुक्त है लेकिन ऐसा विरला महाशय ही मिलेगा। केवल आत्मज्ञानी की ही ऐसी स्थिति होती है। ज्ञान रहित व्यक्ति तो दोनों में ही आस्था रखता है।

### सूत्र-6

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा।  
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि॥

शब्दार्थ—धर्मार्थ काम मोक्षेषु—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में, जीविते—जीवन, मरणे—मरण में, तथा—और, कस्यापि—किसी का भी, उदारचित्तस्य—उदार हृदय वाले की, हेयोपादेयता—त्याग और ग्रहण, न हि—नहीं।

प्रसंग—कोई उदार चित्त ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जीवन और मृत्यु के प्रति हेय, उपादेय का भाव नहीं रखता।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि उदार मन वाला व्यक्ति ही आत्म-ज्ञानी हो सकता है क्योंकि उसको इस समस्त संसार में एक आत्मा ही दिखाई देती है। उसे विविधता कहीं दिखाई नहीं देती। ज्ञान रहित व्यक्ति को सब विविधता ही दिखाई देती है जिससे उसके प्रत्येक कार्य का लक्ष्य होता है, वह परिणाम प्राप्त करना चाहता है। कामना और विषय वासनाओं में लिप्त रहता है, उसमें त्याग और ग्रहण का भय बना रहता है, इसी कारण से वह मुक्त नहीं है और न ही उसका उदार मन हो सकता है। आत्मज्ञानी व्यक्ति ही धर्म, अर्थ (धन) काम और मोक्ष एवं जीवन व मृत्यु के प्रति भी त्याग और ग्रहण की भावना नहीं रखता, न इन्हें ग्रहण योग्य समझता है और न त्याग करने योग्य, न इन्हें बुरा समझता है और न ही अच्छा, न इन्हें उपयोगी



समझता है और न ही अनुपयोगी। आत्मज्ञानी व्यक्ति की ही ऐसी स्थिति होती है, अतः वही जीवन मुक्त है। ऐसी स्थिति को उपलब्ध हो जाना ही मोक्ष (मुक्ति) है।

### सूत्र-7

वाञ्छा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ।

यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम्॥

शब्दार्थ—वाञ्छा न—इच्छा नहीं, विश्वविलये—विश्व के विलय होने पर, न—नहीं, द्वेषः—द्वेष, तस्य—उसका, च—और, स्थितौ—स्थिति में, यथा—जैसी भी, जीविकया—जीविका से, तस्मात्—उससे, धन्यः—कृतार्थ, धन्य, आस्ते—होता है, यथासुखम्—सुखपूर्वक।

प्रसंग—जिसमें विश्व के विलय की इच्छा नहीं है और न उसकी स्थिति के प्रति द्वेष है, वह धन्य पुरुष इसलिए यथा प्राप्य आजीविका से सुखपूर्वक जीता है।

व्याख्या—संसार में अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जो कि संसार की स्थिति एवं विलय से बड़े चिन्तित हैं, जैसे सारा संसार उन्हीं के चलाने से गति कर रहा हो, उन्हीं के विचारों, नियमों एवं धारणाओं से चल रही है। यदि वे न होते तो इस संसार का प्रलय हो जाता। ऐसे व्यक्ति ही संसार को सदा भयभीत करते रहते हैं कि संसार की समाप्ति निकट है, बीसवीं शताब्दी के समाप्त होने तक प्रलय हो जाएगी, फिर नवीन युग का आरंभ होगा, सतयुग आएगा। अपराध बढ़ रहे हैं, अतः अवतार प्रकट होगा जो दुष्ट व्यक्तियों को सजा देगा। कुछ लोग हैं जो संसार की आज की स्थिति से बड़े चिन्तित हैं। वे कहते हैं कि आज का संसार सबसे अधिक अपराधी है, जितनी चोरी, डकैती, हत्याएं, बलात्कार, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, शोषण, अनैतिकता, झूठ, फरेब, बेईमानी आज है, इतनी पहले कभी नहीं थी। व्यक्ति पतन की चरम सीमा तक पहुंच गया है, उसकी स्थिति पशु से भी बदतर हो गई है।



अष्टावक्र कहते हैं कि इन दोनों ही प्रकार की विचाराधारा वाले व्यक्ति दुःखी एवं अशांत हैं। वह ज्ञानी व्यक्ति ही धन्य है, जिसमें न तो संसार के प्रलय होने की कामना है न इसकी स्थिति के प्रति घृणा है, क्योंकि वह तो देखने वाला हो गया है, राग-द्वेष, आसक्ति-विरक्ति से पार निकल गया है, इसलिए वह न तो ज्यादा प्राप्त करने की इच्छा करता है और न कम मिल जाने पर कष्ट होता है। स्वभाव से जो भी मिल जाता है या प्राप्त हुआ है उसी से अपना जीवन-यापन करता हुआ सुखपूर्वक रहता है।

### सूत्र-8

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती।

पश्यञ्छृण्वन्स्पृशन्निघ्नन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥

शब्दार्थ—कृतार्थः—कृतार्थ, अनेन—इससे, ज्ञानेन—ज्ञान से, इति—ऐसा, एवम्—इस प्रकार, गलितधीः—जिसकी बुद्धि का भी क्षय हो चुका हो, कृती—कृतकृत्यज्ञानी, पश्यन्—देखता हुआ, छृण्वन्—सुनता हुआ, स्पृशन्—स्पर्श करता हुआ, निघ्नन्—सूँघता हुआ, अश्नन्—खाता हुआ, आस्ते—होता है, यथासुखम्—सुखपूर्वक।

प्रसंग—इस ज्ञान से कृतार्थ अनुभव कर गलित हो गई है बुद्धि जिसकी, ऐसा कृत कार्य पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है।

व्याख्या—एक ही चेतन आत्मा इस समस्त संसार का आधार है, इस चेतना से सबसे पहले बुद्धि उत्पन्न हुई। इस बुद्धि से अभिमान उत्पन्न हुआ तथा अभिमान के कारण ही जीव ने स्वयं को उस चेतन आत्मा से अलग समझा। यही अज्ञान उसका पाप बन गया। बाइबल में भी इसी प्रकार की कथा है कि आदम ने बुद्धि का फल खाया जिसके फलस्वरूप उसे स्वर्ग के बगीचे से नीचे गिरा दिया गया। यही उसका मुख्य पाप था। यह बुद्धि उस विराट आत्मा की सक सूक्ष्म किरण है।

आत्मा महासागर है तो बुद्धि चम्मच के समान। बुद्धि छोटा पैमाना है, छोटा तराजू है, जो संसार के छोटे-छोटे कार्य के लिए प्रयोग की जाती है, लेकिन उससे उस विशाल चेतना (आत्मा) को नहीं नापा जा सकता है। व्यक्ति इस बुद्धि से परमात्मा को नापना चाहता है, इस कारण भटक जाता है। बुद्धि तर्क-वितर्क, सोच-विचार, प्रश्न-उत्तर, चिंतन-मनन का निर्णय कर सकती है। अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ का अन्तर कर सकती है, वह गणित के समान कार्य करती है, लेकिन इससे विशाल नहीं जाना जा सकता। इससे सम्पूर्ण को नहीं जाना जा सकता। अस्तित्व अखण्ड है, विभाजित होने वाला नहीं है। जिसका अन्त नहीं है उसे बुद्धि से जान लेना संभव नहीं है। आत्मा बुद्धि से पार है। जो कार्य बुद्धि से नहीं होते वह चेतना ही करती है, परम कोटि का समस्त ज्ञान बुद्धि से नहीं चेतना से सीधा उतरा है, अतः उसे अपौरुषेय कहा जाता है। उच्च स्थिति की वैज्ञानिक उपलब्धियां, गणित, आयुर्वेद, उच्च कोटि का साहित्य, अध्यात्म, वेद, पुराण आदि सीधी चेतना से ही आए हैं। यह बुद्धि का कार्य नहीं है, इसलिए सामान्य ज्ञान के लिए बुद्धि पर्याप्त है किन्तु आत्मज्ञान में इस सूक्ष्म बुद्धि का स्थान वह विशाल चेतना ले लेती है, अतः अष्टावक्र कहते हैं कि जो आत्म-ज्ञान से कृतार्थ अनुभव कर लेता है, उसकी बुद्धि गलित हो जाती है। वह सूक्ष्म से विशाल बन जाता है। उसे समस्त कार्यों का एवं विधि-विधान का ज्ञान हो जाता है। जिससे वह इस दुनिया में आकर्षित न होकर स्वाभाविक रूप से आवश्यक कार्यों को करता हुआ जगत् के प्रति साक्षी भाव से रहकर सुखपूर्वक रहता है, वह चिन्ता और कामना से मुक्त हो जाता है, जीवन संयुक्त है, लेकिन बुद्धि के कारण ही उसमें विविधता दिखाई देती है। बुद्धि गलित हो जाने पर सब संयुक्त दिखाई देता है। यही वास्तविक है। यही ज्ञान है। जहां बुद्धि की सीमा समाप्त होती है वहीं चेतना का अनुभव होता है।

## सूत्र-9

शून्यादृष्टिर्वृथा चेष्टा विफलानीन्द्रियाणि च ।  
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे ॥

शब्दार्थ—शून्या—शून्य, दृष्टि—दृष्टि (जिसकी), वृथा—  
व्यर्थ हो गई है, चेष्टा—चेष्टाएं जिसकी, विफलानि—निर्बल हो गई  
हैं, इन्द्रियाणि—इन्द्रियां, च—और, न—नहीं, स्पृहा—इच्छा, न—  
नहीं, विरक्ति—वैराग्य, वा—और, क्षीण संसार सागरे—जिसका  
संसाररूपी सागर नष्ट हो चुका है, ऐसे तत्त्वज्ञानी के ।

प्रसंग—जिसका संसार सागर क्षीण हो गया है, ऐसे पुरुष में न  
तृष्णा है, न विरक्ति है । उसकी दृष्टि शून्य हो गई है, चेष्टा व्यर्थ हो गई  
है और इन्द्रियां विफल हो गई हैं ।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि बुद्धि का अनुभव तो सूक्ष्म  
(तुच्छ) का अनुभव है, उसका ज्ञान (अनुभव) तो इस विश्व तक ही  
सीमित है, लेकिन चेतना (आत्मा) का अनुभव विशाल का अनुभव  
है । वह तुच्छ से विशाल को ही देखता है, समस्त को एक साथ देखता  
है, जिससे उसका तुच्छ दुनिया जो छोटे से सागर के समान है, क्षीण हो  
जाता है । जिसने महासागर को देख लिया वह छोटे-छोटे तालाबों से  
क्यों प्रभावित हो सकता है, जिसने सम्पूर्ण हाथी को देख लिया वह  
अंधे व्यक्ति की भांति उसके एक-एक अंग को हाथी कैसे कह सकता  
है । अंधा व्यक्ति ही ऐसा कहता है । ऐसे सम्पूर्णता को देखने वाले  
आत्म-ज्ञानी व्यक्ति को जगत् में प्यास और शांति नहीं होती । उसकी  
दृष्टि शून्य हो जाती है या पूर्ण हो जाती है । शून्य दृष्टि में ही पूरे का  
आभास छिपा है । ऐसे ज्ञानी कामना रहित हो जाते हैं, जिसे सब कुछ  
मिल गया फिर प्रयास कैसा । उसकी इन्द्रियां विफल (कामना-रहित)  
हो जाती हैं, क्योंकि उनका सांसारिक भोगों के प्रति आकर्षण समाप्त  
हो जाता है । परम सुख प्राप्त हो जाने से तुच्छ या क्षणमात्र सुख स्वयं ही  
छूट जाते हैं । कसमें या वचन देकर छोड़ना नहीं पड़ता है ।

## सूत्र-10

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति ।

अहो परंदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः ॥

शब्दार्थ—न—नहीं, जागर्ति—जागता है, न—नहीं, निद्राति—सोता है, नोन्मीलति—न अपनी पलकों को खोलता है, न मीलति—न ही पलकों को मूंदता है, अहो—आश्चर्य है, परंदशा—परम उत्कृष्ट दशा, क्वापि—कैसी, वर्तते—होती है, मुक्तचेतसः—मुक्तिचित्त की ।

प्रसंग—वह न जागता है, न मरता है, न पलक खोलता है, न पलक बन्द करता है । अहो ! मुक्त चेतस् की कैसी परम (उत्कृष्ट) दशा होती है ।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि मुक्त चेतना वाला व्यक्ति उस विशाल का अनुभव कर लेता है, जिससे उसके सारे सांसारिक कार्य जो वासना, तृष्णा (प्यास), इच्छा (आशा), राग-द्वेष, अभिमान तृप्ति आदि के लिए किए जाते हैं, छूट जाते हैं । वह सभी कार्यों को देखने वाला रह जाता है । ऐसा व्यक्ति न तो जागता है न सोता है, न पलक खोलता या बन्द करता है । ये क्रियाएं तो शारीरिक हैं जो स्वभाव से स्वयं ही हो जाती हैं । ज्ञानी व्यक्ति आत्म स्वरूप हो जाने से इन्हें नहीं करता । वह इन सबसे दूर खड़ा होकर देखता रहता है । ये कार्य तो शरीर के गुण धर्म के प्रभाव से हो रहे हैं । आत्मा इन सबको देखने वाली है । ज्ञान की यही परम स्थिति है, चेतना की चार अवस्थाएं हैं—जागना, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय । जागृति में अभिमान कर्ता भाव (करने वाले का अहं) होता है, स्वप्न में यह क्षीण हो जाता है, सुषुप्ति में इनका अभाव हो जाता है । चौथी तुरीय की स्थिति में व्यक्ति मिट जाता है, परमात्मा ही रह जाता है । यह सूत्र इसी परम स्थिति का है ।

## सूत्र-11

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः ।

समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते ॥



शब्दार्थ—सर्वत्र—सभी जगह, दृश्यते—दिखाई देता है, स्वस्थः—प्रसन्न, अपने में स्थित, सर्वत्र—सभी जगह, विमलाशयः—स्वच्छ व निर्मल अन्तःकरण वाला, समस्तवासनामुक्तः—सभी प्रकार की वासनाओं से मुक्त, मुक्तः—मुक्त, सर्वत्र—सभी जगह, राजते—विराजता है, शोभायमान होता है।

प्रसंग—मुक्त पुरुष सर्वत्र स्वस्थ (शांत), सर्वत्र विमल आशय वाला दिखाई देता है और सब वासनाओं से रहित सर्वत्र सुशोभित होता है।

व्याख्या—ज्ञान रहित व्यक्ति बहुत प्रकार के संघर्षों में जीता है, जिससे वह कभी स्वस्थ, शान्त नहीं हो पाया है। लेकिन ज्ञानी व्यक्ति हर्ष-दुःख, सुख-दुःख आदि संघर्षों से पार हो जाने से सदा स्वस्थ, शांत एवं कोमल भाव वाला हो जाता है। वह सभी कामनाओं से रहित हो जाता है। वासना या भोगों से लिस व्यक्ति अपनी परिधि में ही सोचता है, उसकी दृष्टि, आदत, कार्य आदि उसी परिधि में ही होते हैं, वह दूसरों के हितों की इच्छा न करता हुआ अपने ही सुखों के घेरे के आस-पास घूमता रहता है, जिसके कारण उसके विचार छोटे परिधि के अन्दर ही हो जाते हैं। ज्ञानी व्यक्ति कामना रहित हो जाने से कोमल विचारों वाला होता है। वही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना रखने वाला होता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति ही समस्त ब्रह्माण्ड में सुशोभित होता है।

## सूत्र-12

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्अश्नन् ग्रहणन्वदन्ब्रजन्।

ईहितानीहितैर्मुक्त मुक्तः एव महाशयः॥

शब्दार्थ—पश्यन्—देखता हुआ, शृण्वन्—सुनता हुआ, स्पृशन्—स्पर्श करता हुआ, जिघ्रन्—सूँघता हुआ, अश्नन्—खाता हुआ, ग्रहणन्—ग्रहण करता हुआ, वदन्—बोलता हुआ, ब्रजन्—

चलता हुआ, ईहितानीहितैः— इच्छित और अनिच्छित से, मुक्तः—  
मुक्त, एव—ही, महाशयः—महापुरुष।

**प्रसंग**—देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, चलता हुआ, हित और अहित से मुक्त महाशय निश्चय ही जीवन मुक्त है।

**व्याख्या**—इस सूत्र के माध्यम से महर्षि अष्टावक्र जीवन मुक्त के गुणों को बताते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति आत्मज्ञान को प्राप्त हो गया वह जीवन मुक्त है। ऐसा व्यक्ति वासनाओं, आकांक्षा से ऊपर निकल गया है, सभी संघर्षों को पार गया है, इसलिए वह हित और अहित से स्वतन्त्र (मुक्त) है। ऐसा व्यक्ति सभी स्वाभाविक कार्यों को करते हुए, उनमें ग्रस्त न रहते हुए, कर्ता भाव से मुक्त होकर परम शांति को प्राप्त हो चुका है।

### सूत्र-13

न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति।

न ददाति गृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः॥

**शब्दार्थ**—न—नहीं, निन्दति—निंदा करता है, न—नहीं, च—और, स्तौति—स्तुति करता है, न—नहीं, हृष्यति—हर्षित होता है, न—नहीं, कुप्यति—क्रोधित होता है, न—नहीं, ददाति—देता है, न गृह्णाति—ग्रहण करता है, मुक्तः—मुक्त, सर्वत्र—सभी जगह, नीरसः—उदासीन होता है।

**प्रसंग**—मुक्त पुरुष सर्वत्र रस रहित है। वह न निन्दा करता है, न स्तुति करता है, न हर्षित होता है, न क्रुद्ध होता है, न देता है, न लेता है।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि परमात्मा सभी सुखों का सुख है। जिसने उस सुख रूपी आनन्द को प्राप्त कर लिया, उसे दुनिया के सारे सुख व्यर्थ दिखाई देते हैं। अतः आत्मज्ञान को प्राप्त हो जाने वाला व्यक्ति सभी सुखों से रहित हो जाता है। परमात्मा से जो संतुष्ट हो गया,

उसे जगत् की संतुष्टि की इच्छा नहीं रहती। यदि इस जगत् में सुख होता और इसमें संतुष्टि मिल जाती, इसमें आनन्द होता तो व्यक्ति परमात्मा की खोज नहीं करता। फिर धर्म का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। परम संतुष्टि की खोज ही धर्म है। धर्म उस चेतना या आत्मा को प्राप्त होने वाला विज्ञान है, संन्यास और वैराग्य उसका प्रारंभ है, तथा जीवन से मुक्ति ही उसका लक्ष्य है, इस अवस्था में पहुंचने वाला व्यक्ति ज्ञानी दृष्टि वाला हो जाता है। भक्त डूब जाता है। दोनों एक ही स्थिति में पहुंच जाते हैं। अष्टावक्र का मार्गद्रष्टा (देखने वाला) हो जाता है। सूफियों ने भी साधना (भक्ति) को चार चरणों में विभाजित किया है, पहला है, 'शरीयत' जिसमें विधि-विधान, तौर-तरीका, नियम, संयम, उपाय हैं। दूसरा है 'तरीफत' जिसमें अभिमान समाप्त हो जाता है, साधना समाप्त हो जाती है, 'मैं' का अन्त हो जाता है। तीसरे चरण 'मारिफत' में परमात्मा के रूप की झलक मिलती है, लेकिन द्वैत बना रहता है, चौथे और अन्तिम चरण 'हकीकत' में अध्यात्म का अनुभव होता है। केवल परमात्मा सत्य ही रह जाता है। यही लक्ष्य है। यही जीवन की मुक्ति की स्थिति है। ऐसा व्यक्ति कण-कण में उसी एक का अनुभव करता है। जिसके कारण वह न तो निन्दा करता है न वन्दना करता है, न प्रसन्न होता है और न ही क्रोधित होता है, न ग्रहण करता है न त्याग करता है। स्वभाव से जो प्राप्त हो जाए उसी में संतोष कर लेता है, न मिलने पर इच्छा करता है। कामना और अभिमान के वशीभूत कोई कार्य नहीं करता। ऐसा व्यक्ति ही जीवन मुक्त है।

### सूत्र-14

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम्।

अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः ॥

शब्दार्थ—सानुरागाम्—प्रीतिपूर्वक, स्त्रियं—स्त्री को, दृष्ट्वा—देखकर, मृत्युम्—मृत्यु को, वा—अथवा, समुपस्थितम्—



सामने आ खड़े होने पर, **अविह्वलमनाः**—अव्याकुल मन वाला, **स्वस्थः**—शान्त होता हुआ, **मुक्त**—मुक्त, **एव**—ही, **महाशयः**—महापुरुष।

**प्रसंग**—प्रीतिमुक्त स्त्री और समीप में उपस्थित मृत्यु को देखकर जो महाशय अविचलमना और स्वस्थ रहता है वह निश्चय ही मुक्त है।

**व्याख्या**—यह चित्त ही बन्धन का कारण है। चित्त में दो ही वृत्तियाँ मुख्य हैं, जिनके कारण वह कभी शान्त नहीं होता। ये हैं राग और भय। जीवन में राग है, उसमें आकर्षण है। विषयों (भोगों) में राग है, जिनमें काम सबसे अधिक शक्तिशाली है। काम से ही जीवन प्राप्त हुआ है। कामना, वासना, भोग, सृजन की ऊर्जा के ही काम हैं, यह संसार काम का ही फैलाव है, इसी कारण व्यक्ति इसकी ओर अधिक शीघ्रता से प्रेरित होता है, दूसरा है व्यक्ति को मृत्यु का डर। व्यक्ति को जीने की इच्छा बहुत बलशाली है। वह सब कुछ बर्दाश्त करके भी जीवित रहना चाहता है। वह मृत्यु से सबसे अधिक डरा हुआ रहता है। मृत्यु का डर भी राग और इच्छा के कारण ही है। जिस व्यक्ति ने इस जगत् का पूर्ण आनन्द प्राप्त नहीं किया, वह असंतुष्ट है। उसी को मरने का भय सबसे अधिक होता है। यदि राग और इच्छा समाप्त हो गई तो वह व्यक्ति मृत्यु से नहीं डरता। अतः आसक्ति (आस्था) और भय एक सिक्के के दो पहलू हैं। शरीर में जीने वाले के लिए काम वासना ही मुख्य आकर्षण है, लेकिन यह काम-वासना शरीर की नहीं, अपितु मन की इच्छा (आदत) के कारण है। शरीर तो साधन मात्र है जो मन की आज्ञा के अनुसार कार्य करता या नहीं करता है। इसलिए केवल शरीर पर नियंत्रण कर लेने से व्यक्ति वासना मुक्त नहीं हो सकता। वासना (कामना) का त्याग मन से होने पर ही वह व्यक्ति इससे मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार डर (भय) से मुक्ति भी मन से ही होती है। अष्टावक्र बताते हैं कि प्रीतियुक्त या व्यक्ति की कामना वाली स्त्री और मृत्यु को समीप में उपस्थित देखकर जिस



महाशय ज्ञानी व्यक्ति का हृदय विचलित नहीं होता, उसमें किसी प्रकार के कोई विकार नहीं होते, उसी व्यक्ति को मुक्त कहना चाहिए। केवल शरीर से अविचल रहकर भी मन में जिसके दोषी विचार आ गए, जो मरने से भयभीत होने लगा, ऐसा व्यक्ति मुक्त नहीं है, बल्कि वासनाओं से लित है। अतः मन का सम्पूर्ण दोष रहित और इच्छा रहित स्थिति ही मुक्ति है।

### सूत्र-15

सुखे दुःखे नरे नार्या संपत्सु च विपत्सु च।

विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः ॥

शब्दार्थ—सुखे-दुखे—सुख-दुःख में, नरनार्याम्—स्त्रीपुरुष में, संपत्सु—संपत्ति में, च—और, विपत्सु—विपत्ति में, च—और, विशेषः—भेद, न—नहीं, एव—ही, धीरस्य—धैर्यवान् का, सर्वत्र—सभी जगह, समदर्शिनः—समदर्शी के।

प्रसंग—समदर्शी धीर के लिए सुख और दुःख में, नर और नारी में, सम्पत्ति और विपत्ति में कहीं भेद नहीं है।

व्याख्या—सुख-दुःख का अन्तर व्यक्ति की इच्छा के कारण है, कामना के कारण है। यदि वासना बदल गई तो सुख-दुःख में एवं दुःख सुख में परिवर्तित हो जाता है। संसार में सुख-दुःख का विभाजन नहीं है, यह चित्त की वासना (कामना) के कारण प्रतीत होता है, इसी प्रकार स्त्री-पुरुष की विविधता शारीरिक है, आत्मा के अंतर्गत नहीं है। आत्मा न तो स्त्री है और न ही पुरुष। मन में कामना के कारण ही स्त्री-पुरुष का अन्तर दिखाई देता है। जब कामना नहीं, इच्छा नहीं तो अन्तर भी समाप्त हो जाता है। दोनों बाहर से अलग प्रतीत होते हुए भीतर एक ही हैं। आत्मा दोनों में एक ही है। आत्मज्ञानी व्यक्ति शरीर को नहीं देखता, सब जगह आत्मा को ही देखता है। इसी प्रकार वह सम्पत्ति और विपत्ति को मन की इच्छा के द्वारा ही मानता है। आत्मज्ञानी समान दृष्टि वाला होता है, वह इनसे प्रभावित नहीं होता, वह बिना

अन्तर्दृष्टि से एक ही आत्मा का अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति ही मुक्त है।

### सूत्र-16

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता।  
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे॥

शब्दार्थ—न—नहीं, हिंसा—हिंसा, नैव—नहीं, कारुण्यम्—करुणा, न—नहीं, औद्धत्यम्—उद्धतपन का भाव, न—नहीं, दीनता—दीनता, न—नहीं, च—और, आश्चर्यम्—आश्चर्य, नैव—नहीं, च—और, क्षोभः—क्षोभ, क्षीण संसरणे—जिसका संसार क्षरित हो चुका है (ऐसे), नरे—मनुष्य में।

प्रसंग—“क्षीण हो गया है संसार जिसका ऐसे मनुष्य में न हिंसा है, न करुणा है, न उद्वंडता है, न दीनता, न आश्चर्य है, न क्षोभ।”

व्याख्या—जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान हो गया, जिसने उस परम तत्त्व को जान लिया, उसका यह संसार हो गया। उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं रहा। उसने अपने अन्दर वासना, मोह, ममता, स्वार्थ आदि के कारण जगत् के प्रति जो अच्छे-बुरे, उपयोगी-अनुपयोगी की विचारधारा बना रखी है, वह विचारधारा ही बदल गई। वह हिंसा, करुणा, उद्वंडता, विनम्रता, दीनता आदि तभी तक दिखाई देता है, जब तक दोनों की उपस्थिति है, व्यक्ति-व्यक्ति में विविधता दिखाई देती है। जब सारे संसार में उसे एक ही चेतना (आत्मा) दिखाई देती है तो कौन किसकी हत्या करे, कौन किसके प्रति दया दिखावे। स्वयं ही सब नष्ट हो जाते हैं। फिर कोई अणुव्रत नहीं लेना पड़ता। ऐसे ज्ञानी व्यक्ति को न आश्चर्य होता है, न दुःख होता है। वह हमेशा उपेक्षा भाव से अपने स्वभाव में, अपनी बुद्धि में स्वयं के अनुशासन में स्वच्छ जीवन-यापन करता है। वह न तो दूसरों के कहे अनुसार चलता है, न विपरीत ही चलता है, वह अपने स्वभाव (मन) की इच्छा के अनुकूल चलता है। ईश्वर भी ऐसा ही है, न तो दयावान है, न करुणावान है, न

हत्यारा और न अहिंसक न सजा देने वाला और न ही इनाम देने वाला है। न उसने संसार बनाया और न ही उसे चला रहा है। वह अपने विशेष नियमों से गतिमान है। अतः परमात्मा न तो करने वाला है और न भोगने वाला उपभोक्ता। ज्ञानी भी ऐसा ही ईश्वर के समान हो जाता है।

### सूत्र-17

न मुक्तो विषयद्वेषा न वा विषयलोलुपः।

असंसक्तमनाः नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्रुते ॥

शब्दार्थ—न—नहीं, मुक्तः—मुक्त, विषयद्वेषा—विषयों के प्रति द्वेष करने वाला, न वा—नहीं, विषय लोलुपः—विषयों को पाने का लोभ करने वाला, असंसक्तमना—अनासक्त मन वाला, नित्यम्—सदैव, प्राप्ताप्राप्तमु—प्राप्त और अप्राप्त वस्तु को, उपाश्रुते—भोगता है।

प्रसंग—मुक्त पुरुष न विषयों से द्वेष करने वाला है न विषय लोलुप है। वह सदा आसक्ति रहित मन वाला होकर प्राप्त और अप्राप्त वस्तु का उपभोग करता है।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि जीवन मुक्त व्यक्ति परम सुखी है, वह जगत् के क्षणमात्र के सुख का त्याग करके आत्मा के आनन्द का शाश्वत सुख भोग रहा है। वह न विषयों से घृणा करने वाला है न ही विषयों का पान करने वाला लालची। साधु-महात्मा विषयों से घृणा करने के कारण दुःखी रहते हैं और सांसारिक व्यक्ति उनका लोभी होने के कारण दुःखी है। जो उन्हें मिला है उससे भी दुःखी है और जो नहीं प्राप्त हुआ है उसको प्राप्त करने की चिन्ता में दुखी है। ज्ञान रहित व्यक्ति का ऐसा ही विचार है, इसलिए वह सदैव रोता ही रहता है। खुश होने, आनन्द लेने की विधि को तो वह जानता ही नहीं है। ज्ञानी व्यक्ति ही इसे जानता है। ज्ञानी व्यक्ति की किसी में भी प्रीति नहीं होती। प्रीति करने वाला व्यक्ति ही दुःखी, चिन्तित, तनाव ग्रस्त रहता है। इसलिए ज्ञानी को जो मिला है उसका ही उपभोग करता है और अप्राप्त की चिन्ता नहीं करता। उसमें भी प्रसन्न होता है। रामकृष्ण

ने कहा 'हमने संसार छोड़ा, परमात्मा पाया।' इसलिए हम क्षणमात्र के सुख को त्यागकर परम शाश्वत सुख का भोग कर रहे हैं, अतः हम श्रेष्ठ भोगी हैं और तुमने परमात्मा को छोड़कर विश्व रूपी संसार को पाया इसलिए तुम क्षणभंगुर में मरे जा रहे हो, भोग कहां रहे हो। तुमने तुच्छ के लिए अनमोल विशाल को त्याग दिया, तुम श्रेष्ठ त्यागी हो, हम महान (श्रेष्ठ) भोगने वाले हैं।

### सूत्र-18

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः ।

शून्य चित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः ॥

शब्दार्थ—समाधानासमाधान—समाधान और असमाधान, हिताहित विकल्पनाः—हित और अहित से जुड़े सभी प्रकार के विकल्पों को, शून्यचित्तः—जिसका अन्तःकरण शून्य हो जाता है, न—नहीं, जानाति—जानता है, कैवल्यमिव—मोक्ष की तरह, संस्थितः—स्थित।

प्रसंग—शून्य चित्त पुरुष समाधान और असमाधान के हित और अहित के विकल्प को नहीं जानता है। वह तो कैवल्य जैसा स्थित है।

व्याख्या—मन जब तक व्याकुल रहता है तभी तक संकल्प विकल्प उठते हैं, तभी तक समाधान और असमाधान के विचार पैदा होते हैं, तभी तक हित और अहित का ध्यान बना रहता है। ये सब अभिमान के कारण हैं। व्याकुल मन ही इन वासनाओं को जन्म देने वाला है। जब मन शांत हो गया, शून्य हो गया, उसमें कल्पना, कामना, वासना की लहरें उठनी बन्द हो गईं, तो वही एकत्व की स्थिति है। ऐसा व्यक्ति केवल आत्मा में ही स्थित है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य को वह नहीं जानता। ऐसा व्यक्ति ही जीवन मुक्त है।

### सूत्र-19

निर्ममो निरहंकारो न किञ्चिदिति निश्चितः ।

अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥



शब्दार्थ—निर्ममः—ममता रहित, निरहंकार—निरभिमानी, न—नहीं, किञ्चिदिति—कुछ भी नहीं, ऐसा, निश्चितः—निश्चयी, अन्तर्गलितसर्वाशः—जिसके अन्तःकरण की सभी आशाएं गल चुकी हैं, कुर्वन्—करता हुआ, अपि—भी, न—नहीं, लिप्यते—लिप्त नहीं होता।

प्रसंग—भीतर से गलित हो गई हैं सब आशाएं जिसकी और जो निश्चयपूर्वक जानता है कि कुछ भी नहीं है—ऐसा ममता रहित, अहंकार शून्य पुरुष कर्म करता हुआ भी उसमें लिप्त नहीं होता।

व्याख्या—जो इस प्रकार की चित्त (मन) की शून्यता को प्राप्त होकर आत्मा में स्थित हो जाता है उसकी सब इच्छाएं नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि वह आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानता, फिर किसकी कामना की जाए। ऐसा व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त होकर किसी में स्नेह नहीं करता, न उसमें स्वाभिमान ही रहता है, अपनेपन का भी भाव समाप्त हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप उसमें 'मैंने किया है' कर्त्ता का भाव नष्ट हो जाता है। वह करते हुए भी नहीं करता है, क्योंकि वह साधन मात्र हो जाता है। परमात्मा जैसा करवाता है वह कर लेता है। ऐसा व्यक्ति अलिप्त होता है। इसी व्यक्ति को आत्मज्ञान होता है।

## सूत्र-20

मनः प्रकाशसम्मोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः ।

दशा कामपि संप्राप्तो भवेद्गलितमानसः ॥

शब्दार्थ—मनप्रकाश—मन के प्रकाश में, सम्मोह—सम्मोहित, स्वप्न जाड्य—स्वप्न कालिक जड़ता से, विवर्जितः—रहित, दशाम कामपि—कैसी (जिसके लिए शब्द नहीं है ऐसी) भी दशा, संप्राप्तः—प्राप्त हुआ, भवेत्—हो जाता है, गलित मानसः—जिसका मन गल चुका है।

प्रसंग—जिसका मन गलित हो गया है और जिसके मन में कर्म, मोह, स्वप्न और जड़ता सब समाप्त हो गए हैं, वह पुरुष कैसी

अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त होता है।

व्याख्या—आत्मज्ञान की मुख्य बाधा मन (चित्त) ही है। कर्म (कार्य) मोह (स्नेह) स्वप्न एवं जड़ता का एहसास मन से ही होता है। अतः जिसका मन गल (नष्ट) हो गया है, उसके कार्य (कर्म) मोह (स्नेह) स्वप्न एवं जड़ता सब समाप्त हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति पूर्ण चेतन और जागते हुए स्थिति में सदैव स्थित रहता है। यह अनिर्वचनीय अवस्था है जिसको कैवल्य अवस्था कहते हैं। इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सभी ज्ञानी व्यक्तियों ने ऐसा ही कहा है कि यह अवस्था वर्णनातीत है। कबीर ने इसे अमनी दशा, वेदों में ऋत्, बुद्ध ने (धर्म) कहा है। यही परमात्मा भगवान, ईश्वर, ब्रह्म, सत्य। यही स्वभाव है, यही परम नियम है। यही बुद्धतत्त्व है, यही ज्ञान है।

□□

## अठारहवां अध्याय

### सूत्र-1

( अष्टावक्र-उवाच )

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद् भवति भ्रमः ।

तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

शब्दार्थ—यस्य—जिसके, बोधोदये—ज्ञान के उदय होने पर, तावत्—तब तक, स्वप्नवत्—स्वप्न की तरह, भवति—होता है, भ्रमः—भ्रम, तस्मै सुखैकरूपाय—उस सुख रूप के लिए, नमः—नमस्कार है, शान्ताय—शांत, तेजसे—तेजोभवरूप के लिए।

प्रसंग—जिसके बोध के उदय होने पर समस्त भ्रान्ति स्वप्न के समान तिरोहित हो जाती है। उस एकमात्र आनन्द स्वरूप, शान्त और तेजोमय को नमस्कार है।

व्याख्या—यह प्रकरण आत्म-ज्ञान शतक के नाम से प्रसिद्ध है। इसके आरंभ में अष्टावक्र सबसे पहले उस आत्मा (ब्रह्म) को नमस्कार करते हैं, जो मात्र एक है, संसार (जगत्) में उससे अलग और कुछ भी नहीं है, वह आनन्द-स्वरूप है, शान्त है और तेजोमय है। व्यक्ति अपने को आत्मा से सन्देह और अज्ञान के कारण अलग समझता है लेकिन जब उसके ज्ञान का उदय होता है, जब उसे आत्म-ज्ञान हो जाता है, जब वह आत्मा को स्पष्ट अनुभव कर लेता है, तब उसका यह सन्देह मिट जाता है कि मैं उस आत्मा से अलग प्राणी मात्र हूँ। यह अज्ञान ही उसका बन्धन है, यही उसका जगत् है जो ज्ञान-प्राप्ति के बाद नष्ट हो जाता है। वह मायारूपी, स्वप्नरूपी, झूठा, क्षणमात्र,

असत्य और अनित्य ज्ञात होने लगता है। यह सब केवल देखने (सोचने) की दृष्टि परिवर्तन से होता है। ज्ञान रहित व्यक्ति का देखने का ढंग अलग होता है। उसे आत्मा का ज्ञान न होने से वह विश्व को ही वास्तविक, नित्य और सदैव रहने वाला मानता है और विषय भोगों को भोगना ही परम सुख मानता है। उसे आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, ईश्वर आदि सन्देहपूर्ण ज्ञात होते हैं, माया दिखाई देते हैं। वह कहता है, जो दिखाई नहीं देता वह कैसे हो सकता है। यह केवल दुकानदारी है, पण्डे, पुजारियों, मुल्ला, मौलवियों, धर्मगुरुओं की (व्यवसाय) दुकानदारी मात्र है। ये दिखाई देने वाले को असत्य (झूठा) माया बताकर दिखाई न देने वाले को स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं, जिससे अन्धविश्वास, अज्ञान में वृद्धि हुई है। दोनों का अपना-अपना सोचने का ढंग है, अपने-अपने तर्क हैं। दोनों ही अपनी दृष्टि से सही हैं। ज्ञानी और ज्ञान रहित व्यक्ति दोनों के विचारों में भेद तो होना निश्चित ही है। यह भेद तर्क से समाप्त नहीं होगा। ज्ञान से, बोध से ही समाप्त हो सकेगा। ज्ञान होने पर ही अज्ञान का अंधकार समाप्त हो जाएगा। जिस प्रकार सूर्य के उदय से सारा अन्धकार समाप्त हो जाता है। अंधेरे को समाप्त करने का सीधा प्रयास मूर्खतापन ही होगा। जो ये कहता है कि अंधेरे को हटा देंगे तो सूर्य उदय हो जाएगा तो ऐसी धारणा गलत है। अतः मुमुक्षु (जिज्ञासु) हमेशा आत्मज्ञान का ही प्रयास करते हैं। आत्म-ज्ञान से ही सारे सन्देह समाप्त होकर व्यक्ति को शांति का एहसास होगा। अष्टावक्र उसी आत्मा को नमस्कार करके इस प्रकरण का आरम्भ करते हैं। ज्ञान रहित व्यक्ति यदि संसार को झूठा समझता है तो भी वह पाखण्ड है, बेईमानी ही है। अज्ञान को ग्रहण कर लेना अधिक समझदारी है न कि इसके ऊपर ज्ञान का झूठा मुखौटा चढ़ा लेने से। इससे व्यक्ति बहुरूपिया (वेश बदलने वाला) बन जाता है।



## सूत्र-2

अर्जयित्वाऽखिलानर्थान् भोगोनाप्नोति पुष्कलान् ।

न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत् ॥

शब्दार्थ—अर्जयित्वा—जोड़कर, अखिलान्—अखिल, अर्थान्—धन संपत्ति को, भोगान्—भोगों को, आप्नोति—प्राप्त होता है, पुष्कलान्—सभी प्रकार के, न हि—नहीं, सर्वपरित्यागम्—सबके संपूर्ण रूप से त्याग के, अन्तरण—बिना, सुखी—सुखी, भवेत्—होता है ।

प्रसंग—सारे धन कमाकर मनुष्य अतिशय भोगों को पाता है । लेकिन सबके त्याग के बिना सुखी नहीं होता ।

व्याख्या—अष्टावक्र बताते हैं कि केवल रुपया-पैसा ही धन नहीं है । धन अनेक प्रकार के हैं । मकान, जमीन, जायदाद, हाथी, घोड़े, वाहन, पशु, जेवरात, हीरे-जवाहरात, बाग-बगीचे आदि सभी धन के ही रूप हैं । यहां तक कि ज्ञान, विद्या, विद्वत्ता, पांडित्य, कलाएं आदि भी धन ही हैं । व्यक्ति इन धनों का उपयोग विषय भोग के लिए करता है । इन्हें देकर और सुख-सुविधाएं पूर्ण करता है । धनवान व्यक्तियों का ऐसा मानना है कि धन से सब कुछ क्रय (खरीदा) जा सकता है, आज की परिस्थिति में देश की राजनीति, अर्थव्यवस्था, उद्योग, संचार-साधन, वैज्ञानिक उपलब्धियां सब धन के ही कारण हैं । धन रहित समाज की कल्पना (विचार करना) ही असंभव है, धन के साथ इच्छाएं जुड़ी हुई हैं कि कष्ट के समय इसका उपयोग किया जाएगा । कुछ व्यक्ति इन्हीं आकांक्षाओं के कारण पत्नी, बाल-बच्चे एवं परिवार को भी धन ही मानते हैं कि वे भी विपत्ति के समय में काम आएंगे, लेकिन अष्टावक्र कहते हैं कि धन से व्यक्ति अधिक भोगों को तो प्राप्त कर सकता है, लेकिन वह सुखी नहीं हो सकता, सुख और आनन्द कभी धन से खरीदे नहीं जा सकते हैं, क्योंकि ये बाजार से नहीं मिलते । आन्तरिक अनुभव से प्राप्त होते हैं । धनवान

व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता। धनवान व्यक्ति अधिकांश रूप में रोगी ही मिलते हैं, किसी की पाचन क्रिया खराब है तो किसी को मधुमेह है। किसी को अनिद्रा (नींद न आना) का रोग है तो कोई चिन्ता से ग्रस्त है, कोई सन्तानहीन है। उसके पास धन का भण्डार होते हुए भी वह बीमार रहता है। तो उसके इलाज के भी तरीके खोजने पड़ते हैं। यह संपत्ति ही चोरी, हत्या, गुण्डागर्दी फैलाता है, अनेक अनाचार व दुराचार करवाता है। अतः धन से सुख, शांति, आनन्द कभी नहीं मिल सकता। धन उपार्जन करना बुरा नहीं है, लेकिन इसके पीछे पागल हो जाना बुरा है। यही अशांति का कारण है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि धन (संपत्ति) से सुख नहीं मिल सकता। सुख तो उसका त्याग करने से ही मिल सकता है। त्याग का अर्थ धन कमाना बन्द करके आलस्य, निकम्मा (कार्य न करना) और भिखारी हो जाना नहीं है, उसे छोड़कर वन में चले जाना या उसको नष्ट कर देना भी नहीं है बल्कि उसके प्रति लिसता (लीन) का त्याग है। धन की गुलामी छोड़ने से है, धन के पीछे जो पागलपन है, उसे छोड़ने से है। ऐसा धन निश्चित ही सुखकारी हो सकता है। लेकिन ऐसा सुख कुछ समय के लिए ही है। धन का कोई भरोसा नहीं कि कब आ जाए और कब चला जाए, यह विश्वसनीय है। इसलिए ज्ञानी व्यक्तियों ने सन्तोष को ही परम सुख बताया है। कहा भी है—

**गौ धन, गज धन बाजि धन और रतन धन खान।**

**जब आवे सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥**

धन को झूठा, बेकार जान लेना ही उसका त्याग है। इसी से सन्तोष, शान्ति एवं सुख प्राप्त होता है। सुख संग्रह (एकत्र) करने में नहीं है, त्याग में है। देने में जो आनन्द है, वह लेने में नहीं है। जो समाज से कम से कम लेता है और अधिक से अधिक देता है वह परम सुखी जीता है। जो लेता ही लेता है, देता कुछ नहीं, वह दुखी, अशान्त रहता है।

### सूत्र-3

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः ।

कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम् ॥

शब्दार्थ—कर्तव्यदुःख—कर्मों के दुःखरूपी, मार्तण्ड—सूर्य की, ज्वाला—ज्वाला से, दग्ध—जला हुआ है, अन्तः—अन्तःकरण, आत्मनः—मन जिसका, कुतः—कहो, प्रशमपीयूष धारासारम—शांतिरूपी अमृत की अजस्रधारा की वृष्टि, ऋते—विना, सुखम्—सुख ।

प्रसंग—कर्तव्य से पैदा हुए दुःख स्वरूप सूर्य के ताप से जला है अन्तर्मन जिसका, ऐसे पुरुष को शांति रूपी अमृतधारा की वर्षा बिना सुख कहां ?

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति की बात को ज्ञान रहित व्यक्ति नहीं समझ सकता क्योंकि ज्ञान रहित व्यक्ति का मन सदा, अपेक्षाओं, आकांक्षाओं, इच्छाओं, स्वार्थों आदि से पूर्ण रहता है। विष (जहर) में अमृत मिला देने से अमृत भी जहर ही बन जाता है। अतः ज्ञानरहित व्यक्ति जब तक सीमाओं के घेरे से ऊपर नहीं उठता, वह ज्ञान को नहीं जान पाता, इसलिए एक ही वाक्य में विविध अर्थ मिलते हैं। इस सूत्र में अष्टावक्र कहते हैं कि कर्तव्य से कष्ट पैदा होता है एवं उसी कष्टरूपी सूर्य के ताप से अन्तर्मन जलता है, दुःखी होता है। इस कष्ट निवृत्ति का उपाय शांति रूपी अमृत धारा की वर्षा है, जिसके बिना व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता। यहां पर कर्तव्य का अर्थ कर्त्तापन से है। जो कार्य कर्त्तापन भाव से, अभिमान के कारण किए जाते हैं वे ही कष्ट देने वाले होते हैं, वे ही बन्धन के कारण होते हैं। अभिमान रहित किए गए, अपने को निमित्त मानकर किए गए कार्य (कर्म) स्वभावपूर्ण कार्य दुःखों का कारण नहीं बनते बल्कि उनसे सुख की प्राप्ति होती है। सुख मिलता है, शांति का अनुभव होता है। जो कर्मों (कार्यों) का अभिमान रहित होकर करता है, शांति उसी को प्राप्त

होती है। न करने वाला (अकर्ता) भाव हो जाने से ही शांति मिलती है।

#### सूत्र-4

भवोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित्परमार्थतः।

नास्त्य भावः स्वभावानां भावाभावविभाविनाम् ॥

शब्दार्थ — भव — संसार, अयं — यह, भावनामात्रः — भावनामात्र, न किञ्चित् — कुछ भी नहीं है, परमार्थतः — पारमार्थिक रूप से सत्य है, नास्ति — नहीं है, अभावः — अभाव, स्वभावानाम् — स्वभावों का, भावाभाव विभाविनाम् — भाव-अभाव रूपी पदार्थों में स्थित हुए का।

प्रसंग — यह संसार भावना मात्र है, परमार्थतः कुछ भी नहीं है। भाव रूप और अभाव रूप पदार्थों में स्थित स्वभाव का अभाव नहीं है।

व्याख्या — अष्टावक्र कहते हैं कि यह जगत् भावनामात्र है, संसार वास्तव में कैसा है, यह कोई नहीं जान पाया। प्रत्येक व्यक्ति अपनी भावना के अनुसार ही इस जगत् को देखता है, इसी कारण सबको संसार अलग-अलग प्रकार का दिखाई देता है। व्यक्ति को संसार वैसा ही दिखाई देता है, जैसा वह देखना चाहता है। व्यक्ति वासना, कामना, मोह (स्नेह) आस्था, भय राग-द्वेष आदि अनेक भावनाओं से भरा है, इसलिए उसे जगत् वैसा ही दिखाई देता है। जगत् इन्हीं भावनाओं का प्रयोग करने वाला स्थान मात्र है। जिस प्रकार स्वप्न भी मन का प्रक्षेपण है, लेकिन सत्य (वास्तविक) प्रतीत होता है। स्वप्न के टूट जाने पर ही पता चलता था कि वह स्वप्न था, सन्देह था। इसी प्रकार यह जगत् भी स्वप्न के ही समान भावनाओं का प्रक्षेपण मात्र है लेकिन ज्ञान रहित व्यक्ति इसे सत्य जान लेता है। आत्मज्ञान से ही यह सन्देह मिटता है कि उसी को माया, झूठा प्रतीत होता है। वही इसके वास्तविक स्वरूप को पहचान सकता है। इसीलिए ज्ञानी व्यक्ति कहता है कि यह संसार (विश्व) भावना मात्र है, परमार्थतः यह कुछ भी नहीं है।



परमार्थ (परम + अर्थ) में आत्मा ही सत्य है, जगत् सन्देह मात्र है। ज्ञानी अभिमान एवं इच्छा शून्य होने से इस जगत् का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं, अर्थहीन है। यही इसका वास्तविक स्वरूप है, जिसे ज्ञानी देखता है। व्यक्ति को डर (भय) के कारण ही रस्सी भी सांप दिखाई पड़ती है, बच्चे में भय न होने से वह सांप को भी रस्सी समझकर पकड़ लेता है। अपना पुत्र, पत्नी आदि अच्छे इस कारण दिखाई देते हैं क्योंकि उनके साथ स्वार्थ एवं इच्छाएं जुड़ी हैं, वरना न तो वे पहले जन्म में साथी रहे थे न मृत्यु के बाद ही रहेंगे। अगर व्यक्ति के स्वार्थ में कमी आ जाए, इच्छाएं पूरी न हों तो इसी जन्म में छोड़कर भाग जाएंगे। केवल ज्योतिषी के कुण्डली मिला देने से पति-पत्नी नहीं बन जाते। यह झूठी पत्नी और झूठे पति दोनों ज्ञान रहित, दोनों अंधे मिल गए, इसलिए कुछ समय तक तो विचार मिलते हैं, पर बाद में सारा जीवन क्लेश में ही निकल जाता है। ज्योतिषी से जाकर पूछने पर कि अट्टाईस गुण मिले थे तो झगड़ा क्यों? इसका कोई जवाब नहीं। तुम्हारे सखा, दुश्मन ही मन एवं स्वार्थों का प्रक्षेपण है। यदि स्वार्थ न हो तो कौन मित्र है, कौन शत्रु है बताना कठिन हो जाएगा। अतः संसार (जगत्) विश्वास करने योग्य नहीं है जो स्वभाव रूप में सबमें विराजमान है। आत्मा भावरूप है, वही सत्य है एवं जगत् अभाव रूप हैं, लेकिन दोनों में जो स्वभाव रूप आत्मा है, वही सत्य है। उसका कहीं भी अभाव नहीं है।

### सूत्र-5

न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम्।  
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम्॥

शब्दार्थ—न—नहीं, दूरम्—दूर, न—नहीं, च—और, संकोचात्—सिकुड़ने से, लब्धम्—प्राप्त, आत्मनः—आत्मा का, पदम्—स्वरूप, (वहतो), निर्विकल्पम्—सभी संकल्प-विकल्पों से परे, निरायासम्—सभी प्रकार के प्रयत्नों से रहित, निर्विकारम्—

सभी विकारों से परे, निरञ्जनम्—दुःख रहित ।

**प्रसंग**—यह आत्म पद न तो दूर है न संकोच से ही प्राप्त होता है । यह निर्विकल्प निरायास, निर्विकार और निरंजन है ।

इस सूत्र में अष्टावक्र आत्मा की स्थिति एवं उसके गुणों को बताते हुए कहते हैं कि आत्मा कहीं सातवें आसमान पर नहीं है, न वह किसी दिखाई न देने वाले लोक में है न कहीं हिमालय के पर्वतों पर, और न ही मठ-मन्दिरों में है जहां पर उसे खोजना पड़े । वह स्वयं में ही है तथा संकोच से, कठिनाई से प्राप्त हो ऐसा भी नहीं है । वह तो सदैव उपलब्ध है, केवल नेत्र खोलकर देखना मात्र है, अपने आपकी जाग्रत अवस्था ही उसे प्राप्त करना है, दोषों की धूल को पोंछना मात्र है, गंदे शीशे को साफ करना मात्र है, जिससे उसका एहसास हो सके । कल्पनाओं के घने बादलों के आवरण से वह सूर्य दिखाई नहीं दे रहा है । विचार शून्य होने पर ही उसका ज्ञान होता है । सभी उपाय कल्पनाओं को बन्द करने के ही हैं । यह आत्मा निर्विकल्प है । निर्विकल्प होकर ही इसे जान सकते हो । वह निरायास है, उसे जानने के लिए किसी प्रकार का कोई प्रयास नहीं करना पड़ता । वह दोष रहित है, उसमें कोई विकार नहीं है । शुद्ध है, वैज्ञानिकों के तत्त्व के समान । वह यौगिक भी नहीं है, उसमें पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा, हित-अहित जैसा कुछ भी तत्त्व नहीं है । वह निर्दोष है, दोष रहित है । वह अलिप्त है, उसे विकृत नहीं किया जा सकता, न उसे छीना जा सकता है न चोर उसको चुरा सकता है, न प्रकट है, न किसी स्थान विशेष में बन्द है कि तुम्हें उसका दरवाजा (द्वार) खटखटाना पड़े । वह सदा उपलब्ध है । वह विस्मृत (स्मरण नहीं) है, उसे स्मरण करना मात्र है ।

### सूत्र-6

व्यामोहमात्रविरतौ

स्वरूपादानमात्रतः ।

वीतशोका

विराजन्ते

निरावरणदृष्टयः ॥

शब्दार्थ—व्यामोहमात्र विरतौ—विशेष प्रकार के मोह से मुक्त,

**स्वरूपादानमात्रतः**—अपने स्वरूप को ग्रहण (अनुभव) करने मात्र से, **वीतशोका**—शोक से परे, **विराजन्ते**—शोभायमान होते हैं, **निरावरण दृष्टयः**—जिनकी दृष्टि से आवरण (पर्दा) समाप्त हो चुका है, ऐसे तत्त्वज्ञानी के।

**प्रसंग**—मोह मात्र से निवृत्त होने पर और अपने स्वरूप के ग्रहण मात्र से वीतशोक और निवारण दृष्टि वाले पुरुष शोभायमान होते हैं।

**व्याख्या**—आत्म-स्वरूप को उपलब्ध व्यक्ति के विषय में अष्टावक्र कहते हैं कि सांसारिक विषयों के प्रति मोह (स्नेह) का त्याग होने से ही आत्मज्ञान ग्रहण हो सकता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करना नहीं है, केवल उसकी रुकावटों को हटाना मात्र है। दृष्टि एक ही है। उसे प्रेम के कारण जगत् में लगाओ तो केवल जगत् ही दिखाई देगा। स्नेह रूपी मोह हट जाने पर जगत् गायब हो जाएगा और फिर जो दिखाई देगा, वह आत्मा ही होगा, फिर प्राणी, पशु, पक्षी यहां तक कि पत्थरों में भी वही परमात्मा दिखाई पड़ेगा। ऐसे आत्म स्वरूप को ग्रहण कर लेने से व्यक्ति संघर्षों से गुजर बिना शोक वाला एवं बिना आवरण वाला दृष्टि वाला हो जाता है। फिर सभी को सीधा एक समान ही देखता है, मोह, ममता, राग, द्वेष, प्रेम, घृणा की निगाह से नहीं देखता। उसकी सत्य दृष्टि हो जाती है वह स्वयं भी सत्य हो जाता है उसे चारों ओर ही यथार्थ (वास्तविकता) दिखाई देती है।

### सूत्र-7

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।

इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत्॥

**शब्दार्थ**—समस्तम्—संपूर्ण संसार, कल्पनामात्रम्—कल्पनामात्र है, (और), आत्मा—आत्मा, मुक्तः—मुक्त है, सनातन—अनादि है, इति—ऐसा, विज्ञाय—जानकर, धीरः—धैर्यवान, हि—ही, किम्—क्या, अभ्यस्यति—अभ्यास करता है, बालवत्—बच्चे की तरह।



**प्रसंग**—समस्त जगत् कल्पना मात्र है और आत्मा मुक्त और सनातन है। ऐसा जानकर धीर पुरुष बालक के समान क्या चेष्टा करता है।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि यह सारी सृष्टि कल्पना मात्र है। तुमने जैसी अच्छी-बुरी, कल्पना की वैसा ही तुम्हें यह संसार दिखाई पड़ता है। तुम्हारी कल्पना का नाम मन है, जिससे तुम इस सृष्टि को अलग दृष्टि से देख रहे हो। उसका वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं दे रहा है। यदि मन का आवरण रूपी पर्दा हट जाए तो यह जगत् अलग प्रकार का दिखाई देने लगेगा। अतः यह अज्ञान दृष्टि ही तुम्हारा बन्धन है, उसे त्याग कर जिस दिन चेतना द्वारा सीधा ही देखोगे उसी दिन, उसी पल तुम मुक्त हो, उसी क्षण तुम आत्मज्ञानी हो। यह आत्मा मुक्त और सनातन है, यह स्वयं बन्धन ग्रस्त नहीं है, न ऐसी है कि आज है कल नहीं रहेगी। मृत्यु के बाद ही मिलेगी, स्वर्ग में मिलेगी, ज्ञानी के पास नहीं है। ज्ञान रहित व्यक्ति में आत्मा होती ही नहीं, पशु-पक्षी में आत्मा होती ही नहीं, ऐसा भी नहीं है वह सब जगह है, सनातन है, सत्य एक ही है। यह मात्र दृष्टि है, जगत् को सत्य मानना आत्मा में बन्धन है। यह वास्तविक नहीं है। झूठी मान्यता में ही झूठे बन्धनों का निर्माण किया है। ज्ञानी का यह सन्देह नष्ट हो जाता है जिससे वह मुक्त है, इसके लिए बालक या अज्ञानी के समान चेष्टा नहीं करनी पड़ती। ज्ञान रहित व्यक्ति ही प्रयास करता है, अभ्यास करता है, साधन करता है। आत्मज्ञान प्रयास, ज्ञान से प्राप्त नहीं है, वह प्राप्त है, केवल विकार रहित दृष्टि से देखने मात्र से। साक्षी मात्र हो जाना ही पर्याप्त है। प्रयास ही संसार है, साक्षी तत्त्व परमात्मा है। तुम्हारी चेष्टा से ही कार्यों का संचय हुआ है, तुमने हजारों जन्मों में प्रयास करके ही कार्यों का संचय किया है, नर्क जाने के लिए तुमने बहुत मेहनत की है लेकिन जो मुक्ति एक पल में प्राप्त हो सकती है बिना प्रयास के, उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। एकत्र करने में प्रयास करना पड़ता है, त्याग एक पल में बैठे-बैठे हो जाता है, बिना परिश्रम



के यह प्रीति त्याग ही मुक्ति है। घटना उसी पल ही घट जाएगी जैसे कोई स्वप्न से जागा हो। सभी संचित कार्य (कर्म) जागते ही लुप्त हो जाएंगे। जैसे स्वप्न में किए गए पाप पुण्य का दण्ड जागने पर नहीं मिलता, तुम मुक्त ही थे। सन्देह ही बन्धन था जो समाप्त हो गया। बैठे-बैठे ही मुक्त हो गए, सुनने मात्र से ही मुक्त हो गए, मैं न कहीं गया न कहीं आया। न वृत्त में मुक्ति है, न शीर्ष आसन करने में, न कुण्डली को जगाना पड़ता है न बन्ध व मुद्राएं आवश्यक हैं, न ग्रन्थ आवश्यक है, न गुरु अज्ञान की स्वीकृति ही ज्ञान का दास है। अभिमान गिराकर सरल हो जाना ही मार्ग है।

### सूत्र-8

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।

निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम् ॥

शब्दार्थ—आत्मा—आत्मा, ब्रह्म—ब्रह्मा, इति—ऐसा, निश्चित्य—निश्चय करके, भावाभावौ—भाव और अभाव, च—और, कल्पितौ—कल्पित हैं, निष्कामः—कामनाओं से परे स्थित ज्ञानी, किम्—क्या, विजानाति—जानता है, किम्—क्या, ब्रूते—बोलता है, च—और, करोति—करता है, किम्—क्या।

प्रसंग—“आत्मा ब्रह्मा है और भाव और अभाव कल्पित हैं। यह निश्चयपूर्वक जानकर निष्काम पुरुष क्या जानता है, क्या कहता है और क्या करता है।”

व्याख्या—अष्टावक्र इस सूत्र में आत्मा एवं ब्रह्मा का अन्तर बताते हुए कहते हैं कि यह आत्मा ही ब्रह्म है। व्यक्ति में उपस्थित चेतना का नाम आत्मा है तथा समष्टिगत चेतना ही ब्रह्म है, वह ब्रह्म एक ही है जो अलग-अलग पदार्थों के कारण अलग-अलग प्रतीत होता है। ये भाव और अभाव दोनों चित्त की कल्पना मात्र हैं, वही एक ब्रह्म है जो न भाव स्वरूप है न अभाव स्वरूप है। यह धारणा ही मिथ्या है कि परमात्मा है या नहीं है, क्योंकि वही सब कुछ है। वह

संसार से अलग नहीं है, संसार में परमात्मा है या नहीं है, ऐसी धारणा ही सन्देह मात्र है। सृष्टि ही परमात्मा है। ऐसा दृढ़पूर्वक वही जानता है, जिसे इसका अनुभव हो गया। ग्रन्थों से, पंडितों से यह नहीं जाना जा सकता। यह जाना जाता है स्वयं के अन्दर प्रवेश करने से, निःशब्द, शान्ति, मौन में। यह विज्ञान की प्रयोगशाला में नहीं बल्कि स्वयं के अन्दर की प्रयोगशाला में ही जाना जा सकता है, यह तर्क से नहीं शून्य होने से ही जाना जा सकता है। जब तुम मिटोगे तब ही परमात्मा है। स्वयं का मिटाना ही मार्ग है, अभिमान, करतापन ही बाधा है। स्व का ज्ञान ही धर्म है, पर का ज्ञान है विज्ञान। जब मन कामना, प्रीति, स्वाभिमान से मुक्त होता है, तो जो शेष रहता है, वह ब्रह्म ही है। ऐसी स्थिति को उपलब्ध हुआ ज्ञानी ही निष्काम है। निष्काम साधना भी है और सिद्धि भी इस परम ज्ञान की स्थिति में कर्ता हो जाता है, इसलिए कार्य भी खो जाता है। फिर वह जो भी करता है, वह कर्म नहीं है, जो कहता है, जो जानता है, उसमें अभिमान नहीं, वही सत्य है, सब कुछ अस्तित्व से होता है, स्वभाव से होता है।

### सूत्र-9

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः।

सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णीभूतस्य योगिनः॥

शब्दार्थ—अयम्—यह, सः—वह, अहम्—मैं, अयम्—यह, नाहम्—मैं नहीं हूँ, इति—ऐसा, क्षीणाविकल्पनाः—क्षीण हो गए विकल्प, जिनके ऐसा, सर्वम्—सब कुछ, आत्मा—आत्मा, इति—ऐसा, निश्चित्य—निश्चय करके, तूष्णीभूतस्य—चुप्पी साधे हुए के, योगिनः—योगी के।

प्रसंग—“सब आत्मा है। ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर शांत हुए योगी की ऐसी कल्पनाएं कि ‘वह मैं हूँ’ और ‘वह मैं नहीं हूँ’ क्षीण हो जाती हैं।”

व्याख्या—बन्धन और मुक्ति न शरीर में है, न मन में, न कर्म में

न कोई परमात्मा बन्धन में डालता है न मुक्त करता है। व्यक्ति की अज्ञान जनित भेद बुद्धि ही उसका कारण है, जीवन आत्मा और परमात्मा में अन्तर मानने के कारण ही अज्ञानवश व्यक्ति ने संसार को संघर्षों में विभाजित कर दिया। संसार में एक ही अस्तित्व था, अविभाजित था। विभाजन के कारण अन्तर प्रतीत होने लगा और यही अन्तर संघर्षों का कारण बन गया। यह अन्तर अज्ञानता के कारण है, आत्मज्ञान के अभाव से प्रतीत हुआ यह द्वित भाव उस योगी का समाप्त हो जाता है, जिसने यह जान लिया कि सब आत्मा ही है। आत्मा से अलग कुछ भी नहीं है। यह विविधता, अभिमान और मन, वासना, असंतोष, कामना आदि अज्ञान के कारण ज्ञात हो रही थी। इस संदेह के समाप्त हो जाने पर उसे अविविधता का दृढ़पूर्वक बोध हो जाता है, जिससे वह शान्त हो जाता है एवं उसकी 'यह मैं हूँ' और 'यह मैं नहीं हूँ'। यह समस्त कल्पनाएं क्षीण हो जाती हैं जो अज्ञान के कारण थीं, जैसे दीपक जलने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है।

### सूत्र-10

न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता।

न सुखं न च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः ॥

शब्दार्थ—न—नहीं, विक्षेपः—विक्षेप, न—नहीं, च—और, एकाग्र्यम्—एकाग्रता, न—नहीं, अतिबोधः—परम ज्ञानरूप, न—नहीं, मूढता—विवेकहीनता, अज्ञानता, न—नहीं, सुखम्—सुख, न—नहीं, च—और, वा—अथवा, दुःख—दुःख, उपशान्तस्य—परम शान्ति में स्थित, योगिनः—योगी के।

प्रसंग—“उपशान्त हुए योगी के लिए न विक्षेप है और न एकाग्रता है, न अतिबोध है और न मूढता है, न सुख है, न दुःख है।”

व्याख्या—मन में संकल्प, विकल्प लगातार उठते रहते हैं, इन्हीं संकल्प-विकल्पों के कारण सृष्टि है लेकिन आत्मज्ञानी योगी का मन इन संकल्प विकल्पों से रहित होकर पूर्णतया शान्त हो जाता है, जिससे



चित्त के समस्त विक्षेप समाप्त हो जाते हैं। व्याकुलता होने पर ही एकाग्रता की धारणा, ध्यान, समाधि को साधने की आवश्यकता पड़ती है, अति बोध और मूर्खता, सुख और दुःख का अनुभव भी मन के विक्षेपों के कारण ही प्रतीत होता है, अतः आत्मज्ञानी योगी के समस्त विक्षेप ही शान्त हो जाते हैं एवं वह सदा एक ही आत्मा का सर्वत्र अनुभव करता हुआ नित्य आत्मा आनन्द में ही मग्न रहता है, इसलिए इनका उसे कोई अनुभव नहीं होता है।

### सूत्र-11

स्वराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने।

निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः ॥

शब्दार्थ—स्वराज्ये—अपने राज्य में, भैक्ष्यवृत्तौ—भिक्षावृत्ति करने पर, च—और, लाभालाभे—लाभ-हानि में, जने—लोगों के बीच, वने—जंगल में, निर्विकल्प—विकल्प रहित, स्वभावस्य—स्वभाव के, न—नहीं, विशेष—विशेष, अस्ति—है, योगिनः—योगी का।

प्रसंग—“निर्विकल्प मानव वाले योगी के लिए राज्य और भिक्षावृत्ति में लाभ और हानि में, समाज और वन में फर्क नहीं है।”

व्याख्या—आत्मज्ञानी के चित्त के सभी संकल्प-विकल्प समाप्त हो जाते हैं। वह सदा बिना किसी विकल्प की अवस्था में एक ही आत्मा आनन्द में रमण करता है, जिससे उसके लिए चाहे साम्राज्य सुख हो चाहे भिक्षा वृत्ति, लाभ हो या हानि, वह समाज में रहे चाहे जंगल में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसका सारा आग्रह ही समाप्त हो जाता है, राज्य चाहने वाले एवं उसे छोड़कर भागने वाले दोनों आग्रह पूर्ण हैं, दोनों में संकल्प है। इसी प्रकार संकल्प लेकर भिक्षा मांगने वाले, लाभ हानि को चाहने वाले, समाज एवं जंगल में रहने का आग्रहपूर्वक दृढ़ करने वाले कि मैं ‘ऐसा ही करूंगा’ यह अभिमान जनित अज्ञान का परिणाम है। अहंकार एवं संकल्प विकल्प से रहित



होने पर वह प्रत्येक स्थिति में बिना आग्रहपूर्वक बहकर स्वाभाविक जीवन जीता है। उसका कोई चुनाव नहीं होता है, उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, कोई शिकायत नहीं है। जो है, सब स्वीकार है।

## सूत्र-12

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता ।

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, धर्मः—धर्म, क्व—कहां, च—और, वा—अथवा, कामः—काम, क्व—कहां, च—और, अर्थः—अर्थ, क्व—कहां, विवेकता—सही-गलत को अलग-अलग करने की क्षमता, इदम्—यह, कृतम्—किया, इदम्—यह, न—नहीं, इति—ऐसे, द्वन्द्वैर्मुक्तस्य—द्वन्द्वों से मुक्त, योगिनः—योगी के।

प्रसंग—“यह किया है और यह अनकिया है, इस प्रकार के द्वन्द्व से मुक्त योगी के लिए कहां धर्म है, कहां काम है, कहां अर्थ है, कहां विवेक?”

व्याख्या—अष्टावक्र इन सूत्रों में जीवन मुक्त योगी की विशेषताओं को बताते हुए कह रहे हैं कि जो इन लक्षणों वाला है, वही परम योगी है एवं वही जीवन मुक्त है, ये लक्षण ही जीवन मुक्त कसौटी के हैं। जिनमें ये गुण नहीं दिखाई दे, जान लो उसे आत्मज्ञान हुआ नहीं, उसे अध्यात्म का ज्ञान हुआ ही नहीं, फिर यदि आत्मज्ञानी होने का दावा करता है तो या तो उसे सन्देह हो जाने से या पागल हो जाने से वह ऐसा पाखंड कर रहा है। इसी क्रम में अष्टावक्र बताते हैं, कि आत्म-ज्ञानी व्यक्ति मन की संकल्प-विकल्प अवस्था से पूर्णतः निर्विकल्प हो जाने से उसकी सारी इच्छाएं शांत हो जाती हैं, जिससे वह किए और अनकिए सभी संघर्षों से मुक्त हो जाता है। ऐसे मुक्त योगी के लिए धर्म, अर्थ, काम तथा बुद्धि का बन्धन समाप्त हो जाता है, जिसका ज्ञान रहित व्यक्ति पर आरोपण किया जाता है। ज्ञानी व्यक्ति अपनी आत्मा के स्वभाव के अनुसार, इनका पालन करता है जबकि ज्ञानरहित

व्यक्ति बाध्य होकर, विवशता में, अस्वाभाविक रूप से इनका पालन करता है। ज्ञानरहित व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि का झूठा मुखौटा लगाता है जो उसका स्वभाव नहीं है। ज्ञानी व्यक्ति का यह स्वभाव हो जाता है। यही उसका सही स्वरूप है। आत्मज्ञान में दृष्टि बदल जाती है।

### सूत्र-13

कृत्यं किमपि न एव न कापि हृदि रञ्जना।

यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः ॥

शब्दार्थ—कृत्यम्—कर्तव्यधर्म, किमपि न—कुछ भी नहीं, एव—ही, न—नहीं, कापि—कोई भी, हृदि—हृदय में, रंजना—अनुराग, यथा—जैसा, जीवनम्—जीवन, एव—ही, इह—यहां, जीवन्मुक्तस्य—जीवन्मुक्त, योगिनः—योगी के।

प्रसंग—जीवन मुक्त योगी के लिए कर्तव्य कर्म कुछ भी नहीं है और न हृदय में कोई अनुराग है। वह संसार में यथा प्राप्त जीवन जीता है।

व्याख्या—इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि जीवन मुक्त योगी के लिए कर्तव्य कर्म कुछ भी नहीं है। कर्मों का सांसारिक लक्ष्य होता है, धन, सुख, मान-सम्मान, शांति, ऐश्वर्य, पद-प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति। वह कर्म (कार्य) करके कुछ प्राप्त करना चाहता है, जिससे वह जगत् में सुखपूर्वक एवं सम्मान के साथ जीवन-यापन कर सके। इसलिए फल की इच्छा उसमें निहित रहती है। धार्मिक व्यक्ति कार्यों द्वारा स्वर्ग, मोक्ष, सद्गति को प्राप्त करता है। जिससे वह बुरे कार्यों को त्यागकर अच्छे कार्यों को करता है, दूसरों के हित के कार्य करता है, सेवा करता है, गरीबों की सहायता करता है, दान देता है, धर्मशाला बनवाता है, मंदिर, गिरजा बनाता है। ये सब कार्य वह धार्मिक दृष्टि से करता है, ताकि उसका आगे अच्छा फल मिले। इसमें भी फल की इच्छा रहती है। लेकिन जो व्यक्ति जीवन-मुक्त हो गया है, जिसने वह

सब पा लिया है जिसे पाने के लिए ये सब कार्य किए जाते हैं, इसलिए अब उसके लिए कर्तव्य कार्य कुछ भी नहीं हैं। अब कुछ करना शेष नहीं है। कार्य का लक्ष्य ही फल-प्राप्ति है। अतः फल प्राप्ति हेतु किए जाने वाले सभी कार्य फल-प्राप्ति पर छूट जाते हैं, ऐसे कार्य कर्तव्य नहीं होते, क्रीड़ा-रूप से, स्वाभाविक रूप से लीलावत् नाटक के समान होते हैं। ऐसे कार्यों के प्रति हृदय में कोई अनुराग भी नहीं होता। ऐसा व्यक्ति स्वभाव से प्राप्त में अपना जीवन-यापन करता है, उसमें न विशेष पाने को, न छोड़ने का आग्रह होता है। यहां कर्तव्य कार्य कुछ भी नहीं है, इसका अर्थ यह नहीं है कि अब सब कुछ प्राप्त हो गया तो कर्म क्यों करे। इसका अर्थ कार्य सभी होंगे लेकिन वे स्वाभाविक रूप से, फल की इच्छा रहित होंगे। दूसरा अर्थ यह कदापि नहीं है कि सब कार्यों का त्याग कर, आलसी होकर जीवन जीने वाला व्यक्ति जीवन से मुक्त हो जाएगा। ऐसा करने वाला व्यक्ति भी अभिमान से ग्रसित है, जिससे वह पाखंडी ही है ज्ञानी नहीं। इस रहस्य को जान लेना भी आवश्यक है। इसलिए अष्टावक्र पन्द्रहवें प्रकरण के तीसरे सूत्र में आग्रह करते हैं कि भोग की आशा करने वालों के लिए यह तत्त्व-बोध व्यक्त हैं, जिनमें फलाकांक्षा रहती है। वे सब व्यक्ति भोग वासना के अभिलाषी हैं। उनको दिया गया यह तत्त्व बोध अमृत के बजाय विष का कार्य करेगा। वह कर्तव्यभ्रष्ट हो सकता है। यह तत्त्व-बोध अधिकारी, जिज्ञासु को ही देने का है। यह ज्ञान कोई बाजारू वस्तु नहीं है कि हर जगह दुकान पर आसानी से प्राप्त हो जाए। ऐसा ज्ञान मंदिरों में, मठों में, आश्रम में। गिरजा, मस्जिद आदि में भी प्राप्त नहीं होता कि वहां सिर झुकाया, फूल और नारियल चढ़ा देने से हम समझते हैं कि हम धार्मिक हो गए, स्वर्ग जाने का रास्ता हमें प्राप्त हो गया, मुक्त हो गए, सिद्ध पत्थर पर बैठ गए, अब करने के लिए कुछ नहीं बचा। जीसस ने सूली के समय कहा, 'तेरी इच्छा पूर्ण हो गई' यहां भी उनका 'मैं' और 'तू' का द्वैत भाव बना ही रहा। अध्यात्म का अनुभव उन्हें न हो सका। इसलिए उन्होंने ईश्वर और आत्मा का पिता-पुत्र का सम्बन्ध

माना। ब्रह्मकुमारी वालों की भी ऐसी ही धारणा है, महावीर को तो आत्मा-आत्मा में अंतर जान पड़ा, इसी कारण से वो बहुत-सी आत्माएं मानते रहे। यह सब ज्ञानी की अपूर्ण अवस्था है, मुस्लिम भी पूर्णतः द्वैतवादी है। अध्यात्मवादियों में अष्टावक्र शिरोमणि हैं, जिनकी कोई तुलना ही नहीं है, इसलिए यही ज्ञान अध्यात्म जगत् का परम ज्ञान है। कई मूर्ख व्यक्ति जो यह समझते हैं कि चाय छोड़ दो, धूम्रपान छोड़ दो, कांटों पर लेट जाओ, नग्न हो जाओ, राख लपेट लो तो मोक्ष प्राप्त हो जाएगा। लेकिन पीने और त्यागने से मोक्ष का कोई नाता नहीं है। मोक्ष का सम्बन्ध पदार्थों के त्याग से नहीं आदतों के शांत हो जाने से है, छोड़ने की बात करने वाले विकृत दिमाग वाले ही हैं। मन की अच्छी-बुरी सभी आदतों का शांत हो जाना ही मोक्ष है। सभी भेद समाप्त होकर उस एक परम-तत्त्व में स्थित हो जाना ही मुक्ति है।

### सूत्र-14

क्व मोहः क्व च वा विश्व क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता ।

सर्वसंकल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, मोहः—मोह, क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, विश्वम्—संसार, क्वः—कहां, तद्ध्यानम्—उसका ध्यान, क्वः—कहां, मुक्तता—मुक्ति का भाव, सर्वसंकल्प सीमायाम्—सभी संकल्पों की सीमा में अर्थात् आत्मज्ञान में, विश्रान्तस्य—विश्राम प्राप्त करने वाले के, महात्मनः—महात्मा के।

प्रसंग—सम्पूर्ण विकल्पों संकल्पों के अन्त होने पर विश्रान्त हुए महात्मा के लिए कहां मोह है और कहां संसार है, कहां वह ध्यान है, कहां है मुक्ति।

व्याख्या—भारतीय धर्म में महात्मा, संत, ज्ञानी, गुरु आदि शब्द उच्च बोध के सूचक हैं। महात्मा वह है जिसके मन की सारी इच्छाएं शांत हो गई हैं और सभी प्रकार के संकल्पों का जिसके मन से अंत हो चुका है तथा केवल उस चैतन्य आत्मा में विश्राम कर स्थित है।



जिसके संकल्प शेष हैं, कुछ करने की इच्छा नहीं है। जिसमें अभिमान है, जिसका मन सदैव व्याकुल और चिंतित रहता है। जिसके अन्दर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करने की वासना है। जो अच्छे-बुरे में भेद करता है, जिसे प्राणी ब्रह्म और संसार में विविधता दिखाई देती है। ऐसा व्यक्ति न तो ज्ञानी है और न ही महात्मा। राख लगा लेने से, नग्न हो जाने से, रंगे हुए कपड़े पहन लेने से, चिमटा लेकर बम-बम उच्चारण करने से, कोई व्यक्ति महात्मा नहीं हो जाता। जो संकल्पों से रहित होकर आत्मज्ञान को उपलब्ध हो गया है, वही महात्मा है। उसके लिए मोह, संसार, ध्यान एवं मुक्ति का भी कोई स्थान नहीं है। ये सब बेकार हो गए हैं। ये सब मन की आदतें हैं। जब मन नहीं रहा तो इनका क्या औचित्य।

### सूत्र-15

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोति वै।

निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नापि न पश्यति॥

शब्दार्थ—येन—जिससे, विश्वम्—विश्व, इदम्—यह, दृष्टम्—देखा गया है, सः—वह, नास्तिः—नहीं है, इति—ऐसा, करोतु—करे, वै—निश्चय करके, निर्वासनः—वासना रहित, किम्—क्या, कुरुते—करता है, पश्यन्—देखता हुआ, अपि—भी, न—नहीं, पश्यति—देखता है।

प्रसंग—जिसने जगत् को देखा है वह भला उसे इनकार भी करे, लेकिन वासना रहित पुरुष को क्या करना है। वह देखता हुआ भी नहीं देखता है।

व्याख्या—संसार को स्वीकार करने वाला, उसी को सत्य मानने वाला तो वासना से ग्रस्त है, क्योंकि जिस प्रकार की प्रीति उसकी जगत् में है, जिस दृष्टि से वह जगत् को देखता है, वह सब वासना ही के कारण देखता है। कभी-कभी शास्त्रों के वचनों को सुनकर उसकी मोक्ष प्राप्ति की इच्छा जाग्रत हो सकती है, जिससे वह भी कहने लगता

है कि संसार माया है, सन्देह है, झूठा है, संसार है ही नहीं, यह रस्सी सांप के समान सन्देह है। लेकिन उसने ऐसा नहीं जाना जैसा ज्ञानी ने जाना है, इसलिए उसका जगत् को इनकार करना भी झूठ है, पाखंड है, वासना मात्र है, क्योंकि मोक्ष की कामना पूर्ति हेतु वह इससे इनकार कर रहा है, जगत् से भाग रहा है, हिमालय जा रहा है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी इससे अलग स्थिति वाला है, क्योंकि वह कामना रहित हो चुका है, वह इस जगत् को देखता हुआ भी नहीं देखता है। क्योंकि वह उसे मूल्यहीन प्रतीत होने लगा है। वह नित्य आत्मा को ही सर्वत्र देखता है। संसार को नहीं।

### सूत्र-16

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्।

किं चिन्तयेत् निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति॥

शब्दार्थ—येन—जिससे, दृष्टम्—देखा गया है, परम्—श्रेष्ठ, ब्रह्म—ब्रह्म, सः—वह, अहम्—मैं, ब्रह्मेति चिन्तयेत्—विचार करें, किम्—क्या, चिन्तयेत्—चिन्ता करता है, निश्चिन्तः—सभी चिन्ताओं से परे, द्वितीयम्—दूसरा, यः—जो, न—नहीं, पश्यति—देखता है।

प्रसंग—जिसने परब्रह्म को देखा है वह भला 'मैं ब्रह्म हूँ' का चिन्तन भी करे, लेकिन जो निश्चिन्त होकर, दूसरा कोई नहीं देखता, वह क्या चिन्तन करे।

व्याख्या—चिन्तन दो के बिना नहीं होता, एक चिन्तन करने वाला तथा दूसरा जिसका चिन्तन किया जाता है, अर्थात् उसमें जीवन और ब्रह्म दोनों अलग-अलग होने पर ही चिन्तन संभव है, ज्ञान रहित व्यक्ति ही स्वयं को उस परब्रह्म से अलग प्राणिमात्र समझता है। इसलिए वह उस ब्रह्म का चिन्तन करता है, क्योंकि उसने ब्रह्म को देखा है तो देखने वाला उस ब्रह्म से अलग है तभी वह देखता है, यह स्थिति पूर्ण ज्ञान से पहले की है। जिसमें मन को उसका एहसास मात्र

होता है। इसमें द्वैत बना रहता है। इस स्थिति में वह मैं ब्रह्म हूँ का चिन्तन भी करता है, लेकिन उसमें 'मैं' और 'ब्रह्म' दोनों की उपस्थिति रहती है। पूर्ण ज्ञान की स्थिति में यह 'मैं' जो अभिमान के कारण मात्र मिट जाता है, तब केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है। अष्टावक्र कहते हैं कि पूर्ण ज्ञान की अवस्था में जीव और ब्रह्म का अन्तर समाप्त हो जाता है। दोनों एक हो जाते हैं, अभिमान के कारण, 'मैं' का 'ब्रह्म' से अलग अस्तित्व ज्ञात हो रहा था, वह समाप्त हो जाता है तो सर्वत्र एक ही ब्रह्म की अनुभूति होती है। फिर कौन किसका चिन्तन करे। ज्ञान की यही परम स्थिति ही अध्यात्म की है, जिसका अनुभव कुछ ही उच्च कोटि के ज्ञानियों को हुआ है। जिन्होंने अभिमान बचा लिया उन्हें 'मैं' से अलग 'ब्रह्म' का अनुभव हुआ।

### सूत्र-17

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ।

उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम्॥

शब्दार्थ—दृष्टः—देखा गया है, येन—जिससे, आत्मविक्षेपः—आत्मा में विक्षेप, निरोधम्—रोकना, कुरुते—करता है, तु—तो, असौ—वह (पुरुष), उदारः—उदार, तु—तो, न—नहीं, विक्षिप्तः—विक्षेप, साध्य—साध्य, अभावात्—अभाव से, करोति—करता है, किम्—क्या।

प्रसंग—जो आत्मा में विक्षेप देखता है, वह भला चित्त का निरोध करे, लेकिन विक्षेपयुक्त उदार पुरुष साध्य के अभाव में क्या करे।

व्याख्या—प्रत्येक प्राणी के अन्दर जो चेतना है वही उसकी आत्मा है। इस चेतना-शक्ति के कारण ही मन, शरीर, इन्द्रियां आदि सक्रिय होती हैं। अपने-अपने गुण धर्म के अनुसार कार्य करती हैं। यही चेतना शक्ति ही आत्मा है, यही ब्रह्म है, यही ईश्वर व परमात्मा है। लेकिन यह सूक्ष्म आत्मा ही शक्तिस्वरूपा है, इसलिए इसका



प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। मन में वासनाएं हैं, जिनसे विविध प्रकार के विचारों की लहरें उठती हैं। इन लहरों के कारण आत्मा का अनुभव स्पष्ट रूप से सभी को नहीं होता। मन में विविध प्रकार की आदतें हैं, जिनसे आत्मा का चित्र स्पष्ट दिखाई नहीं देता। योग का नियम है कि यदि इन मन की आदतों का निरोध कर दिया जाए तो आत्म-ज्ञान का अनुभव हो सकता है, इसलिए योगी व्यक्ति आत्मज्ञान के लिए इनका निरोध करते हैं। यह निरोध साधना की अवस्था है। अष्टावक्र कहते हैं कि मन (चित्त) का निरोध भी किया जाता है, जबकि आत्मा में विक्षेप दिखाई दे, लेकिन जिस पुरुष को आत्मज्ञान हो चुका है, जिसका मन शान्त एवं वासना रहित हो गया है, जिसमें साध्य या चित्त का ही अभाव हो गया है, भला वह क्या करे। तात्पर्य है कि आत्मज्ञान की स्थिति में केवल आत्मा ही शेष रहती है, चित्त (मन) शरीर, सृष्टि आदि की वासना ही समाप्त हो जाती है। फिर किसका निरोध किया जाए। मन आत्मा का विक्षेप ही है। जब तक (मन) है, तब तक उसका निरोध करने को कहा जाता है। उसमें साधन, साध्य और साधक तीन रहते हैं। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर चित्त न रहने पर साधना व्यर्थ हो जाती है।

### सूत्र-18

धीरो लोकविपर्यस्मो वर्तमानोऽपि लोकवत्।

न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति॥

शब्दार्थ—धीरः—धैर्यवान् (महापुरुष), लोक विपर्यस्मः—संसार में विपर्यय रहित, वर्तमानः—रहता हुआ, अपि—भी, लोकवत्—सामान्य संसारी व्यक्तियों की तरह, न—नहीं, समाधिम्—समाधि को, न—नहीं, विक्षेपम्—विक्षेप को, न—नहीं, विक्षेपम्—विक्षेप को, लेपम्—बन्धन को, स्वस्य—अपना, पश्यति—देखता है।

प्रसंग—जो संसार की तरह बरतता हुआ भी संसार से भिन्न है।



वह धीर पुरुष न अपनी समाधि को, न विक्षेप को और न बन्धन को ही देखता है।

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी व्यक्ति और ज्ञान रहित व्यक्ति में बाहर से कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, लेकिन अन्दर के तल पर बड़ा अन्तर हो जाता है। ज्ञान रहित व्यक्ति के कार्य, मन, बुद्धि (मति) अभिमान एवं वासना-पूर्ति के लिए ही होते हैं। वह शरीर के पोषण में ही ध्यान देता है। वह केवल आत्मा का ही भोग करता है। ज्ञानी व्यक्ति भी खाता-पीता है तथा ज्ञान रहित व्यक्ति के समान सभी बाहरी कार्य करता है, लेकिन अन्दर से जगा हुआ रहता है, ज्ञान रहित व्यक्ति भी कार्य करता है, लेकिन अन्दर से सोया रहता है। आत्मज्ञान को प्राप्त होकर कबीर कपड़ा बुनता रहा, रैदास जूते सीता रहा, सेन नाई बाल काटता रहा, बाहरी कार्यों में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आया। अष्टावक्र बताते हैं कि आत्म-ज्ञानी जगत् की तरह बरतता हुआ भी जगत् से अलग है। यह विविधता अन्दर की है, बोध की है। ऐसा ज्ञानी धीर पुरुष मुक्त है। वह समाधि विक्षेप और बन्धनों को भी नहीं देखता है, क्योंकि वह इन सबसे मुक्त है।

### सूत्र-19

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।

नैव किञ्चित् कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता ॥

**शब्दार्थ**—भावाभावविहीनः—भाव अभाव से विहीन, यः—जो, तृप्तः—तृप्त, निर्वासनः—समस्त वासनाओं से मुक्त, बुधः—ज्ञानी, तत्त्ववेत्ता, नैव—नहीं ही, किञ्चित्—कुछ भी, कृतम्—किया, तेन—उसने, लोकदृष्ट्या—लोकदृष्टि से, विकुर्वता—भलीभांति किए जाने पर भी।

**प्रसंग**—जो ज्ञानी पुरुष तृप्त है, भाव-अभाव से रहित है, वासना-रहित है, वह लोक-दृष्टि से कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

**व्याख्या**—अभिमान के कारण कर्म (कार्य) करने वाला ही

कर्ता है। जिसका कोई अभिमान नहीं, जिसकी कोई कामना नहीं, जिसकी कोई फल की इच्छा नहीं, कार्य करके भी कोई अपेक्षा नहीं रखता। जो भाव और अभाव की चिन्ता से रहित है, ऐसा व्यक्ति करने वाला कर्ता नहीं है। वह सृष्टि में कार्य (कर्म) करता हुआ भी उनसे ग्रस्त नहीं होता। क्योंकि उन कार्यों के मिलने वाले परिणाम को वह क्षणमात्र का सुख जानता है। उसे जब सच्चे और शाश्वत सुख का आनन्द प्राप्त हो गया है। वह अपनी आत्मा के आनन्द में मग्न है, इस कारण वह इन सांसारिक भोगों के प्रति उदासीन हो जाता है, लेकिन विश्व की भांति वह कार्य करता रहता है, लेकिन अन्दर से अलित रहता है, इसलिए वह कार्य (कर्म) करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

### सूत्र-20

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः ।

यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम् ॥

शब्दार्थ—प्रवृत्तौ—प्रवृत्ति में, वा—अथवा, निवृत्तौ—निवृत्ति में, वा—अथवा, नैव—नहीं, धीरस्य—तत्त्वज्ञानी पुरुष का, दुर्ग्रहः—दुराग्रह, यदा—जब, यत्—जो, कर्तुम्—करने को, आयाति—आता है, तत्—वह, कृत्वा—करके, तिष्ठतः—स्थित होकर, सुखम्—सुखपूर्वक।

प्रसंग—धीर पुरुष प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में दुराग्रह नहीं रखता। वह जब कभी भी कुछ करने को आ पड़ता है, उसको करके सुखपूर्वक रहता है।

व्याख्या—ज्ञानी व्यक्ति कर्तव्य आदि स्वाभिमान से रहित हो जाता है, इसलिए उसका न प्रवृत्ति में आग्रह होता है कि यह कार्य मैं अवश्य करूंगा, न निवृत्ति में कि यह नहीं करूंगा। कसमें खा-खाकर किसी को छोड़ता भी नहीं है। उसके सभी आग्रह एवं संकल्प समाप्त हो जाते हैं। वह बिना आग्रह पूर्वक जो कि स्वभाव के कारण है, उन्हें

कर लेता है। अगर कोई कार्य उस पर आ पड़ता है तो वह उसे करके सुख के साथ रहता है। आग्रह और संकल्प, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति, स्वीकार और त्याग भी यदि अभिमान के कारण किए जाते हैं तो बन्धन हैं। स्वभावपूर्वक करना ज्ञान के लिए भी अपेक्षित है। ज्ञानी और ज्ञान रहित व्यक्ति के कार्यों (कर्मों) में यही भीतरी अन्तर है। बाहरी अन्तर नहीं होता। कोई व्यक्ति पानी में डूब रहा है तो ज्ञानी भी उसे बचाएगा और अज्ञानी भी। दोनों के कार्य में कोई विविधता नहीं होगी, लेकिन ज्ञान रहित दौड़ पड़ेगा, इनाम लेने के लिए कि कहीं राष्ट्रपति पदक प्राप्त हो जाए कि अपनी जान को संकट में डालकर उसने किसी के प्राण बचाए, अखबारों में उसकी फोटो छप जाए, लेकिन ज्ञानी व्यक्ति अपने कर्तव्य को निभाकर चुपचाप चला जाता है, धन्यवाद लेने की भी इच्छा नहीं करता। वह कभी भी ये नहीं कहता है कि मैंने तुम पर इतना बड़ा उपकार किया है, तुमने धन्यवाद भी नहीं दिया। तुम बड़े दुष्ट व्यक्ति हो, मैं नहीं बचाता तो तुम प्राणहीन हो जाते। यही अन्दर का भेद है दोनों में। एक ओर ऐसे मूर्ख व्यक्ति भी जो कि एक ओर चुपचाप खड़े यह सब कुछ देख रहे होते हैं, वे कहते हैं कौन किसे बचाता है, वह अपने कार्यों का परिणाम भुगत रहा है, भोग लेने दो। तुमने उसे बचाने का प्रयास किया तो वह अपने कार्यों (कर्मों) का फल नहीं भोग पाएगा, जिसका दोष तुम्हें लगेगा। यदि बच जाने पर उसने किसी को मार डाला तो इसका दोष भी तुम्हें ही लगेगा। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति दान करने का भी ऐसा हिसाब लगाते हैं कि क्या पता वह इससे जुआ खेलेगा या शराब आदि पिएगा तो इसका दोष हमें ही लगेगा। ऐसी मूढ़ विचारधाराएं ज्ञान रहित व्यक्ति बढ़ा लेते हैं। अभिमान रहित एवं स्वाभाविक रूप से फल की इच्छा किए बिना होकर किया जाने वाला कार्य ही मुक्त करता है जो स्वभाव से होता है।



## सूत्र-21

निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः ।

क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत् ॥

शब्दार्थ—निर्वासनः—वासनारहित, निरालम्बः—सभी प्रकार के आलम्बनों ( सहारों ) से रहित, स्वच्छन्दः—अपनी इच्छा से आचरण करने वाला, मुक्तबन्धनः—सभी बन्धनों से मुक्त, क्षिप्तः—प्रेरित किया गया, संसारवातेन—संसार रूपी वायु से, चेष्टते—चेष्टा करता है, शुष्कपर्णवत्—सूखे पत्ते की तरह ।

प्रसंग—ज्ञानी पुरुष वासना रहित, आलम्बन-रहित, स्वच्छन्द और बन्धन-रहित संसार रूपी वायु से प्रेरित होकर शुष्क पत्ते की भांति व्यवहार करता है ।

व्याख्या—जो व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध हो गया, जिसने वास्तविक स्वरूप को पहचान लिया, जिसे सारा संसार आत्मस्वरूप दिखाई देने लगा, वह कामना रहित हो जाता है, जगत् एवं मोक्ष-प्राप्ति की भी कामना नहीं रहती, वह आलम्बन-रहित हो जाता है । सहारा असहाय प्राणी को चाहिए । ज्ञानी व्यक्ति असहाय नहीं होता । वह तो स्वच्छन्द होता है, किसी के दबाव में आकर कोई कार्य नहीं करता, बल्कि अपनी बुद्धि से करता है । कामना रहित व्यक्ति ही स्वच्छन्द हो सकता है । जिसकी जिससे इच्छा है, वह उसी से बंध जाता है । घर, गृहस्थी, धन, पद-प्रतिष्ठा से उम्मीदें हैं, जिससे व्यक्ति स्वयं ही उलझ जाता है । ये बांधते नहीं । यदि सभी इच्छाएं छोड़ दी जाएं तो वह व्यक्ति स्वच्छन्द हो सकता है, बन्धन-रहित हो सकता है । अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी व्यक्ति विश्व रूपी वायु से प्रेरित होकर सूखे पत्ते के समान आचरण करता है जैसे सूखे पत्ते की कोई इच्छा, कामना, मर्जी नहीं होती, जिधर वायु ले जाए, उधर ही चला जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी भी अपने आग्रह का त्याग करके प्रकृति रूपी वायु से प्रेरित होकर कार्य करता है ।



## सूत्र-22

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता ।  
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते ॥

शब्दार्थ—असंसारस्य—असंसारी का, तु—ते, क्वापि—कभी, न—नहीं, हर्षः—प्रसन्नता, न—नहीं, विषादता—मोहजनित दुःख, स—वह (तो), शीतलमना—शांत मन वाला, नित्यम्—हमेशा, विदेह—देह से ऊपर रहता हुआ, इव—की तरह, सजते—शोभित होता है ।

प्रसंग—संसार मुक्त पुरुष को न तो कभी हर्ष होता है न विषाद । वह शांत मना सदा विदेह (मुक्त) की भांति शोभता है ।

व्याख्या—व्यक्ति का संसार (सृष्टि) बाहर नहीं है । उसकी भीतरी इच्छाएं, कामनाएं, आकांक्षाएं ही उसका संसार है । इन्हीं से वह बाहरी संसार को देखता है तथा इन्हीं के कारण उसे सुख-दुःख का अनुभव होता है, यदि यह अन्दर का संसार खो जाए तो वह शांत मना होकर विदेह की शोभायमान होता है । ऐसा ज्ञानी व्यक्ति ही संसार मुक्त कहलाता है ।

## सूत्र-23

कुत्रापि न जिहासाऽस्ति आशा वाऽपि न कुत्रचित् ।  
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः ॥

शब्दार्थ—कुत्र—कहां, अपि—भी, न—नहीं, जिहासा—त्याग की इच्छा, अस्ति—है, आशा—आशा, वा—अथवा, अपि—भी, न—नहीं, कुत्रचित्—कहीं भी, आत्मारामस्य—आत्मा में रमण करने वाले, धीरस्य—धीर महापुरुष का, शीतलाच्छतः आत्मनः—शीतल और निर्मल चित्तवाले ।

प्रसंग—आत्मा में रमण करने वाले और शीतल तथा निर्मल चित्त वाले धीर पुरुष की न कहीं त्याग की इच्छा है, न कहीं ग्रहण की आशा है ।

**व्याख्या**—ज्ञान रहित व्यक्ति धन, पद, पत्नी, पुत्रादि, यश, मान-सम्मान, पद-प्रतिष्ठा आदि में रमण करता है। इन्हीं में वह सुख, आनन्द का अनुभव करता है, लेकिन इस प्रकार का सुख दूसरों से मिलने वाला सुख है, जिसे दूसरे व्यक्ति जब चाहें वो ले सकते हैं। क्योंकि दूसरों का विश्वास नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार व्यक्ति दूसरों से सुख पाना चाहते हैं, वैसे ही दूसरे भी उससे सुख पाना चाहते हैं, लेकिन देना कोई नहीं चाहता, इसलिए संघर्ष आरम्भ हो जाता है, छीना-झपटी आरंभ होती है, जिससे कष्ट व क्लेश ही होता है। दूसरों के द्वारा दिए गए सुख पर निर्भर होना ही गुलाम बन जाना है। इसलिए ज्ञानी ऐसे सुख को झूठा और बन्धन बताते हैं जो छीना जा सकता है। थोड़े से सुखों के कारण मनुष्य अपने को दूसरों के हाथों बेच दे, इससे ज्यादा मानवता का क्या अपमान हो सकता है। अतः ज्ञानी पुरुष इच्छा मात्र का त्याग कर देता है, न त्याग की इच्छा करता है, न ग्रहण की। वह केवल अपनी आत्मा में रमण करता हुआ कोमल हृदय वाला होकर शाश्वत सुख का आनन्द लेता है।

### सूत्र-24

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।

प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता॥

**शब्दार्थ**—प्रकृत्या—प्रकृति से, शून्यचित्तस्य—शून्य चित्तवाले का, कुर्वतः—करता हुआ, अस्य—इसका, यदृच्छया—प्रारब्ध वशात्, प्राकृतस्य—अज्ञानी की, इव—की तरह, धीरस्य—धीर पुरुष का, न—नहीं, मानः—सम्मान, न—नहीं, अवमानना—असम्मान, अपमान।

**प्रसंग**—स्वाभाविक रूप से जो शून्य चित्त है और सहज रूप से जो कर्म करता है, उस धीर पुरुष को सामान्य जन की तरह न मान है और न अपमान है।

**व्याख्या**—मान और अपमान की भावना अभिमान के कारण

होती है। जिसका अभिमान जितना अधिक होगा, मान-सम्मान की भावना उसमें उतनी ही अधिक तीव्र होगी। छोटे व्यक्तियों में अभिमान की भावना तीव्र होती है, इसलिए उनके सामने हर समय मान-सम्मान का प्रश्न बना रहता है, लेकिन ज्ञानी शून्य विचार वाला होता है, इस कारण वह सभी कार्य सरल स्वभाव से करता है। उसमें कोई भी कार्य-मान-सम्मान की दृष्टि से नहीं होते, क्योंकि वह न तो प्रशंसा व इनाम की इच्छा रखता है और न अपमान से प्रभावित होता है। उसके कार्य बच्चे के समान दोष रहित होते हैं।

### सूत्र-25

कृतं देहेन कर्मदं न मया शुद्धरूपिणा।

इति चिन्तानुरोधी सः कुर्वन्नपि करोति न॥

शब्दार्थ—कृतम्—किया गया, देहेन—देह से, कर्मः—कर्म, इदम्—यह, न—नहीं, मया—मुझसे, शुद्धरूपिणा—शुद्ध स्वरूप से, इति—ऐसा, चिन्तानुरोधी—चिन्ता करने वाला, सः—वह, कुर्वन्—करता हुआ, अपि—भी, करोति—करता है, न—नहीं।

प्रसंग—यह कर्म शरीर से किया गया है, मुझ शुद्ध स्वरूप द्वारा नहीं। ऐसी चिन्तना का जो अनुगमन करता है, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता है।

व्याख्या—अष्टावक्र बताते हैं कि आत्मज्ञानी भी सभी प्रकार के कार्य करता है जो ज्ञान रहित व्यक्ति करता है, लेकिन ज्ञान रहित व्यक्ति अभिमानी होने के कारण सभी अच्छे-बुरे कार्यों का भार अपने ऊपर ले लेता है, कि यह मैंने किया है, वह स्वयं को उस कार्य का करने वाला (कर्त्ता) मान लेता है, जिससे कार्य के फल का भोगी भी बन जाता है। वह फल की इच्छा किए बिना कोई कार्य करना जानता ही नहीं। लेकिन ज्ञानी अपने को शरीर एवं मन से पार होकर (आत्मा) मान लेता है। आत्मा न करने वाली है न भोगने वाली। सारे कार्य शरीर व मन से किए जाते हैं लेकिन वह आत्म स्वरूप होने से सभी कार्यों

का साक्षी (गवाह) रूप रह जाता है कि ये कार्य शरीर के द्वारा किए गए हैं, मुझ आत्मा द्वारा नहीं। ऐसा व्यक्ति कार्य करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता। उनका परिणाम उसे नहीं भोगना पड़ता। यदि ज्ञान रहित व्यक्ति बुरे कार्य करके यह कहे कि ये शरीर के द्वारा हुए हैं, मुझ आत्मा ने नहीं किए हैं तो भी वह फल का भोगी होगा ही क्योंकि उसमें, कामना, अभिमान विद्यमान है, इसके विपरीत स्थिति ज्ञानी से अभिमान एवं कामना के कारण कोई कार्य नहीं होता है, इसलिए वह फल का भोगी नहीं होता। उसके सारे कार्य स्वभाव के कारण ही होते हैं।

### सूत्र-26

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि वालिशः।

जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते॥

शब्दार्थ—अतद्वादी—उलटा कहने वाला, इव—की तरह, कुरुते—करता है, न—नहीं, भवेद्—होता, अपि—भी, वालिशः—मूर्ख, जीवन्मुक्तः—जीवनमुक्त, सुखी—सुखी, श्रीमान्—सर्व प्रकार से संतुष्ट, संसरन्—व्यवहार करता हुआ, अपि—भी, शोभते—शोभायमान होता है।

प्रसंग—जीवन्मुक्त, उस सामान्य जन की तरह कर्म करता है, जो कहता कुछ और है और करता कुछ और है तो वह मूढ नहीं होता है और वह सुखी श्रीमान् संसार में रहकर भी शोभायमान होता है।

व्याख्या—ज्ञानी व्यक्ति की पहचान ज्ञान से होती है, कार्य से नहीं, मुक्ति भी ज्ञान से ही होती है, कार्य करके कोई मुक्त नहीं हो सकता। सभी कार्यों का आधार शरीर, मन एवं अभिमान है, जिनके रहते सारे कार्य बन्धन ही हैं। लेकिन ज्ञानी व्यक्ति आत्मा में जीवित रहता है। उसके सारे कार्य लीला एवं स्वभाव से होते हैं। वह उनमें मग्न नहीं रहता। इसीलिए ज्ञानी की पहचान उसके वचनों से होती है कि वह क्या कह रहा है। उसके वचन ही सत्य हैं लेकिन उसके कार्य



उनसे अलग भी हो सकते हैं। ज्ञानी व्यक्ति साधारण व्यक्ति की भांति खाता-पीता है, व्यवहार करता है, लेकिन वह असाधारण है। इसके विपरीत ज्ञान रहित व्यक्ति असाधारण कार्य करता हुआ भी साधारण ही है। गिद्ध बहुत ऊंचा उड़ता है, लेकिन उसकी नजर मृतक शरीर पर ही होती है, बगुला भी एक पैर पर खड़े होकर बड़ी तपस्या करता है, लेकिन उसकी नजर मछली पर ही होती है। इसी प्रकार ज्ञान रहित व्यक्ति के कार्य बड़े होते हुए भी उसकी नजर तुच्छ वासनाओं पर ही रहती है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी और ज्ञान रहित व्यक्ति के कहने और करने में भेद होता है। ज्ञानी विवेक (बुद्धि) में जीता है, वास्तविक में जीता है, संसार के एक तत्त्व भाव में जीता है एवं सामान्य व्यक्ति अभिमान और कामना में, तुच्छ स्वार्थी में जीवन यापन करता है। यह अन्दर का अन्तर होता है। ज्ञान रहित व्यक्ति के कार्य मूर्खतापूर्ण होते हैं, ज्ञानी मूढ़ नहीं होता, इस कारण वह जगत् में रहकर भी आनन्दपूर्वक जीवन-यापन करता है, शोभित होता है। ज्ञान रहित व्यक्ति भी जगत् में रहता है, लेकिन दुःखी रहता है। ज्ञानी की पहचान उसके ज्ञान से होती है, कार्य से नहीं। ज्ञान रहित व्यक्ति को उसके कार्य से पहचाना जाता है, क्योंकि वह कार्य (कर्म) में ही विश्वास करता है, ज्ञान में नहीं। ज्ञानी ज्ञान में विश्वास करता है, कर्म में नहीं।

### सूत्र-27

नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः ।

न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति ॥

शब्दार्थ—नानाविचार सुश्रान्तः—जिसमें नाना प्रकार के विचार श्रान्त हो गए हैं, धीरः—धीर पुरुष, विश्रान्तिम्—शान्ति को, आगतः—प्राप्त हुआ, न—नहीं, कल्पने—कल्पना करता है, न—नहीं, जानाति—जानता है, न—नहीं, शृणोति—सुनता है, न—नहीं, पश्यति—देखता है।

**प्रसंग**— जो धीर पुरुष अनेक प्रकार के विचारों से थककर शांति को उपलब्ध होता है वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है, न देखता है।

**व्याख्या**— ज्ञान रहित व्यक्ति इस सृष्टि के सभी भोगों को भोगता है। जब वह शरीर और उसकी इन्द्रियों के भोगों से सन्तुष्ट हो जाता है, जब उसे उसमें कुछ अच्छा नहीं लगता, जब उसे उनमें सुख नहीं मिलता, उस अवस्था में व्यक्ति संन्यास की ओर प्रेरित होता है। संन्यास इस सृष्टि के सारे अनुभवों का सार, रस है। ऐसा संन्यास ही यथार्थ है। सृष्टि के अनुभवों को प्राप्त किए बिना जो संन्यास लेता है वह आरोपिक है, कच्चा है, कभी डगमगा सकता है, संन्यास लिया नहीं जाता, होता है। यह कार्य नहीं है, बल्कि अनुभव है, उत्कृष्ट जीवन की ओर बढ़ा हुआ एक कदम है। ऐसा संन्यासी व्यक्ति ही आत्मज्ञान का पात्र है एवं वही शक्ति को प्राप्त होता है। इसी प्रकार बुद्धिजीवी अनेक प्रकार के विचारों में उलझा रहता है, वह सृष्टि, कर्म, भोग, अध्यात्म, ईश्वर, परमात्मा, आत्मा आदि अनेक विषयों का अध्ययन चिन्तन और मनन करता है, बहुत से शास्त्र पढ़ता है, सत्संग करता है, ज्ञान की गोष्ठियां आयोजित करता है, सिद्ध महात्माओं के पास जाकर तर्क-वितर्क करता है, लेकिन इनसे भी उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती। वह इन कल्पनाओं में अधिक से अधिक उलझता जाता है। उनसे उसे वास्तविकता का पता नहीं चलता, क्योंकि सत्य तो एक ही है, असत्य अनेक हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने असत्य हैं, असत्य सब निजी है, व्यक्तिगत है, सत्य सबका एक ही है। यह किसी की सम्पत्ति नहीं है न इसका कोई दावेदार है। इसीलिए सत्य के सम्प्रदाय नहीं बनते, सभी सम्प्रदाय असत्य 'झूठ' के ही हैं, सम्प्रदायों का आधार असत्य, दावेदारी, अभिमान संकीर्णता स्वार्थ है, जहां सम्प्रदाय है वहां सत्य नहीं है, सम्प्रदायों में सत्य नहीं होता है। जहां सत्य है वहां सम्प्रदाय नहीं होते। इसलिए अष्टावक्र का सम्प्रदाय नहीं बन सका, सत्य चौबीस कैरेट का सोना है, सम्प्रदायों में यह स्वर्ण अठारह

कैरेट का ही रह जाता है। वर्तमान सम्प्रदाय तो चौदह कैरेट वाले ही हैं। इतनी मिलावट हो गई है, सत्य में हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, स्त्री, पुरुष, वेद, पुराण, धर्म पद, गीता का भेद होता ही नहीं, भेद मात्र झूठ है अभेद ही वास्तविक है। सभी विचारक, चिन्तक इस सम्पूर्ण रहस्य को विचारों से समझना चाहते हैं, लेकिन इससे उन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं होता एवं आत्मज्ञान के बिना शान्ति नहीं मिलती, अतः अष्टावक्र कहते हैं। जो इन विचारों से थककर शान्ति को प्राप्त होता है, वही विचारों से मुक्त हो सकता है। एवं उसी को आत्मज्ञान का फल प्राप्त होता है। यह मूर्ख को भी उपलब्ध नहीं होता, जिसने कभी कोई विचार किया ही नहीं, इसलिए जिसने संसार को भोगा है तथा जो चिन्तन की उच्च सीमा पर पहुंचा है, उसी को आत्मज्ञान का फल मिलता है। जिसने इस जगत् को नहीं जाना वह परमात्मा को क्या जान सकेगा। जो संसार को दुःख जानकर सदैव रोता रहा है वह परमात्मा को पाकर आनन्दित हो सकेगा, उसकी आदत तो रोने की ही है, इसलिए वहां भी रोएगा ही। ज्ञानी पुरुष पूर्ण शान्ति का अनुभव करते हैं। वे एक आत्मा में स्थित हो जाने से दूसरे की न कल्पना करते हैं, न जानते हैं, न सुनते हैं न देखते हैं, सभी जगत् उसी आत्मा को ही जानते हैं।

### सूत्र-28

असमाधेरविक्षेपान् मुमुक्षुर्न चेतः ।

निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः ॥

शब्दार्थ—असमाधेः—समाधि की स्थिति में न रहने के कारण, अविक्षेपान—सभी विक्षेपों से रहित होने के कारण, न—नहीं, मुमुक्षु—मोक्ष की इच्छा वाला, न—नहीं, च—और, इतरः—अन्य, निश्चित्य—निश्चय करके, कल्पितम्—कल्पना मात्र, पश्यन्—देखता हुआ, ब्रह्म—ब्रह्मा, एव—ही, आस्ते—स्थित रहता है, महाशयः—तत्त्वदर्शी।



**प्रसंग**—“महाशय पुरुष विक्षेप-रहित और समाधि रहित होने के कारण न मुमुक्षु है, न गैर-मुमुक्षु होता है। वह निश्चपूर्वक संसार को कल्पित देख ब्रह्मवत रहता है।”

**व्याख्या**—चित्त की आदतों से ही विक्षेप उत्पन्न होते हैं, ये ही विक्षेप व्याकुलता का कारण हैं, चित्त की इन वासनाओं को शान्त करने के लिए समाधि का आयोजन किया जाता है, ज्ञान प्राप्ति का जिज्ञासु ही चित्त की वासनाओं के रोकने हेतु समाधि का आश्रय लेता है। लेकिन ज्ञानी व्यक्ति की सारी मनोकामनाएं शान्त हो जाने से वह विक्षेप रहित है। अतः उसे समाधि की आवश्यकता नहीं होती, ऐसा ज्ञानी जिज्ञासु भी नहीं है न गैर जिज्ञासु ही है। क्योंकि उसने वह सब प्राप्त कर लिया है जिसे पाने के लिए ये साधन प्रयोग किए जाते हैं। वह संसार को सन्देह मानता हुआ सदैव ब्रह्मवत रहता है।

### सूत्र-29

यस्यान्तः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।

निरहंकारधीरेण न किञ्चिदकृतं कृतम्॥

**शब्दार्थ**—यस्य—जिसका, अन्तः—अन्तःकरण, स्यात्—हो, अहंकारः—अहंकार, न—नहीं, करोति—करता है, सः—वह, निरहंकार—अहंकार रहित, धीरेण—ज्ञानी से, न—नहीं, किञ्चित्—कुछ भी, अकृतम्—जो न किया गया हो, कृतम्—जो किया गया हो।

**प्रसंग**—“जिसके अन्तःकरण में अहंकार है, वह कर्म नहीं करते हुए भी कर्म करता है और अहंकार-रहित धीर पुरुष कर्म करते हुए भी नहीं करता है।”

**व्याख्या**—अभिमान ही मूल पाप है। इसी से व्यक्ति स्वयं को परमात्मा से अलग मानता है। इसी के कारण उसमें कर्त्तापन (किसी कार्य को करने वाला) की भावना होती है। इसी कर्त्तापन होने से वह उन कार्य-फलों का भोगी भी होता है। यदि अभिमान नष्ट हो जाए तो



वह कर्तापन की भावना से स्वतन्त्र हो जाता है, फिर वह सभी कार्यों को ईश्वरीय मानकर करेगा, स्वयं को वह साधन मात्र ही समझेगा। आत्म ही ऐसा मानता है कि ये सारे कार्य शरीर द्वारा किए जा रहे हैं। मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं हूँ इसलिए ये कार्य मेरे (आत्मा) के द्वारा नहीं हो रहे हैं। ऐसा ज्ञानी अभिमान रहित होने से कार्य करता हुआ भी नहीं करता है। वह उन कार्यों के परिणाम का भोगने वाला भी नहीं होता। इसके उल्टे ज्ञान रहित व्यक्ति कार्य नहीं करता हुआ भी कार्य करता है, क्योंकि शरीर से किए जाने वाले कार्यों को रोकने पर भी उसके विचार (कल्पना) तो चल रहे होते हैं। योजना मन में बनती रहती है, अच्छी-बुरी आदतें तो पहले से ही स्थित हैं ही और अभिमान भी उपस्थित है, जिससे उसकी ये कल्पनाएं भी बन्धन का रूप ले लेती हैं। कार्य नहीं करने से भी उनका रेचन नहीं होता। इसलिए यह चौबीस घंटे कार्य (कर्म) नहीं करता हुआ भी कार्य करता है। मुक्ति के लिए कार्य छोड़ना नहीं है, बल्कि अभिमान को त्यागना है, कर्तापन का त्याग करना है।

### सूत्र-30

नोद्विग्नं न च संतुष्टकर्तृस्पन्दवर्जितम्।

निराशं गतसंदेहं चित्तं मुक्तस्य राजते ॥

शब्दार्थ—नः—नहीं, उद्विग्नम्—उद्विग्न, न—नहीं, च—और, संतुष्टम्—संतुष्ट, अकर्तृस्पन्द वर्जितम्—अकर्ता और सभी प्रकार की प्रतिक्रियाओं से रहित, निराशम्—जिसे किसी प्रकार की कोई आशा न हो, गतसंदेहम्—जिसके सभी संदेह समाप्त हो चुके हैं, चित्तम्, मुक्तस्य—मुक्त महान पुरुष के, राजते—विराजते हैं।

प्रसंग—मुक्त पुरुष का उद्वेग-रहित, संतोष-रहित कर्तव्य-रहित, स्पन्द रहित, आशा-रहित, सन्देह-रहित चित्त ही शोभायमान है।

व्याख्या—मुक्त व्यक्ति का चित्त (मन) पूर्ण रूप से शांत हो जाता है, सभी प्रकार के संघर्षों से रहित हो जाता है, जिससे वह

क्रोधरहित, संतोष रहित, कर्तव्य-रहित, आशा-रहित और सन्देह रहित हो जाता है। अब उसके समस्त कार्य निश्चित बुद्धिपूर्वक और स्वभाव के अनुरूप होते हैं। अभिमान और (चित्त) की वृत्तियों के आवेश में आकर कोई कार्य नहीं करता। वह सभी कार्य करता हुआ भी अलिस, अस्पर्श किए बिना रहता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति ही सुशोभित होता है।

### सूत्र-31

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते।

निर्निमित्तमिदं किन्तु निर्ध्यायति विचेष्टते॥

शब्दार्थ—निर्ध्यातुम्—निश्चेष्ट, चेष्टितुम्—चेष्टा करने वाले, क्रियाशील, वापि—अथवा, यत्—जो, चित्तम्—चित्त (है), न—नहीं, प्रवर्तते—नहीं प्रवृत्त होता है, निर्निमित्तम्—बिना किसी निमित्त के, इदम्—यह, किन्तु—किन्तु, निर्ध्यायति—अपनी जगह दृढ़ अर्थात् स्थित हुआ, विचेष्टते—चेष्टा करता है।

प्रसंग—मुक्त पुरुष का चित्त ध्यान या चेहरा में प्रवृत्त नहीं होता है। लेकिन वह निमित्त या हेतु के बिना ध्यान करता है और कर्म करता है।

व्याख्या—कर्म करने का भाव मात्र अभिमान है। अभिमान ही पहले लक्ष्य निश्चित करता है, फिर कार्य (कर्म) में प्रवृत्त होता है। अभिमान, बिना लक्ष्य के कार्य कर ही नहीं सकता। उसे परिणाम चाहिए, उसकी कामना की संतुष्टि हो सके। बिना फल की इच्छा किए बिना किए गए कार्य को वह महत्त्वहीन मानता है, उसका उसके लिए कोई औचित्य नहीं है। वह कहता है, जिस कार्य में धन की प्राप्ति न हो, सुख न प्राप्त हो, आनन्ददायक न हो, ऐसे कार्य को करने से क्या फायदा। समय नष्ट करना है। वह जीवन का मूल्य ही धन-संपत्ति, मान-सम्मान से तोलता है। यह मिल जाए तो मुझे बड़े सुख की प्राप्ति होगी। मर जाने पर शवयात्रा में बहुत से व्यक्ति शामिल हो गए तो जीवन सिद्ध हो गया। अगर अकेले ही मर गया तो कहता है कि कुत्ते

के समान मर गया। यदि अधिक से अधिक मृत्यु के बाद होने वाले भोज-आयोजन में व्यक्तियों ने भोजन कर लिया तो कहते हैं कि वह स्वर्ग में चला गया है, नहीं तो बताते हैं कि श्मशान में ही लौट रहा है। ज्ञान रहित व्यक्ति ने अपने मूल्य बना लिए हैं, वह सबको इन्हीं मूल्यों से आंकता है। इसी प्रकार ज्ञान रहित व्यक्ति सब कुछ प्रयास से ही प्राप्त करना चाहता है। चेष्टा अभिमान के कारण होती है, जिसके पीछे लक्ष्य होता है। वह किसी निमित्त को ध्यान में रखकर ही प्रयास करता है, बिना हेतु या निमित्त में ध्यान भी नहीं करता, किन्तु ज्ञानी पुरुष का चित्त किसी ध्यान या चेष्टा में प्रवृत्त नहीं होता। क्योंकि उसे फल-प्राप्ति की कोई इच्छा नहीं है। वह ध्यान भी करता है या कर्म भी करता है तो चेष्टा रहित, श्रम-रहित, बिना किसी निमित्त या हेतु के स्वभाव से करता है।

### सूत्र-32

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढताम्।

अथवाऽयाति सङ्कोचममूढः कोऽपि मूढवत्॥

शब्दार्थ—तत्त्वम्—तत्त्व को, यथार्थम्—यथार्थ को, आकर्ण्य—सुनकर, मन्दः—मन्द बुद्धि, प्राप्नोति—प्राप्त करता है, मूढताम्—सम्मोह की, अथवा—अथवा, आयाति—प्राप्त होता है, संकोचम्—सिकुड़ने को, अमूढः—विवेकी, तत्त्वज्ञानी, को—कौन, अपि—भी, अमूढवत्—अविवेकी की तरह।

प्रसंग—मन्द बुद्धि यथार्थ को सुनकर मूढ़ता को ही प्राप्त होता है। लेकिन कोई ज्ञानी मूढ़वत होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि मंद बुद्धि वह व्यक्ति है जो केवल तुच्छ कामनाओं से ही लिस है, जिसको अपने व्यक्तिगत हितों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं पड़ता है, जो केवल अपने शारीरिक स्वास्थ्य में ही मग्न रहता है, जो इन्द्रिय भोगों के अतिरिक्त अन्य



किसी से प्रीति नहीं करता, ऐसी सीमित मनोकामना वाले को यदि वास्तविक का ज्ञान कराया जाए तो वह उसे सुनकर मूढ़ता (मूर्खता) को ही प्राप्त होता है। यह तत्त्व-ज्ञान बहुत छोटे से का वर्णन है, जिसे मंद बुद्धि वाला व्यक्ति कैसे समझ सकता है। जिसका चित्त (मन) कामनाओं में मग्न है, अभिमान युक्त और असंतोष रूपी वासना वाला है वह इस तत्त्व ज्ञान को पाकर भी इसे व्यर्थ ही कर देगा, जिस प्रकार जहर में अमृत को मिला देने पर अमृत भी जहर ही बन जाता है। लेकिन इसके विपरीत ज्ञानी व्यक्ति मूढ़ दिखाई देने पर भी स्वचेतना को पहचानकर समाधि को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी व्यक्ति बाहर मूर्खतापूर्वक व्यवहार इस कारण करता है कि उसके कार्य में रुकावट न हो। तथा अपने अनुभव को सही (स्पष्ट) रूप से वह प्रकट नहीं कर सकता, न उसे करना ही चाहिए क्योंकि इस ज्ञान प्रदर्शन से भी अभिमान की वृद्धि होती है।

### सूत्र-33

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्ते भृशम्।

धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः॥

शब्दार्थ—एकाग्रता—एक लक्ष्य पर ध्यान को टिकाना, निरोधः—चित्त का निरोध, वा—अथवा, मूढैः—अविवेकी लोगों द्वारा, अभ्यस्यते—अभ्यास किए जाते हैं, भृशम्—बार-बार, धीराः—ज्ञानी, कृत्यम्—कृत्य को, न—नहीं, पश्यन्ति—देखते हैं, सुप्तवत्—सोए हुए की तरह, स्वपदे—अपने पद में, स्थिताः—स्थित।

प्रसंग—अज्ञानी चित्त की एकाग्रता अथवा निरोध का बहुत अभ्यास करता है, लेकिन धीर पुरुष सोए हुए व्यक्ति की तरह अपने स्वभाव में स्थित रहकर कुछ करने योग्य नहीं देखता है।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि आत्मज्ञान करने के लिए कुछ नहीं करना पड़ता। तप करके आज तक कोई आत्म-ज्ञान को उपलब्ध



नहीं हुआ। महात्मा बुद्ध ने छः वर्ष तक बहुत तप किया लेकिन उन्हें कुछ न मिल सका। जब सब कुछ करना छोड़ दिया तो उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हुई, प्राप्त होने में समय भी नहीं लगता। एक पल में मिल जाता है, जैसे कि राजा जनक को मिल गया, महात्मा बुद्ध को मिला, अन्य सभी को इसी के समान मिला। यह करने से मिलता है, वह करने से मिलता है, यही सबसे बड़ा सन्देह है। ज्ञान-प्राप्त करने के लिए कुछ नहीं करना पड़ता, केवल जागकर देखना मात्र है, सजगता एवं बोध-मात्र ही पर्याप्त है। जिसको खोया नहीं है, उसे खोजना कैसा, जो अन्दर स्थित है उसकी तलाश कैसी, जो हमारा स्वभाव है उसके लिए प्रयास क्या करना। लेकिन सारा प्रयास होता है अन्तःकरण (चित्त) की शुद्धि के लिए। जब तक चित्त स्वच्छ नहीं होगा, आत्मा का एहसास नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान रहित व्यक्ति चित्त की एकाग्रता के लिए या चित्त की आदतों को रोकने के लिए विविध साधनाएं करते हैं, उनका बार-बार अभ्यास करते हैं, क्योंकि मन बहुत चंचल है, बार-बार पकड़कर एकाग्र करने का प्रयास करते हैं लेकिन वासनाओं में लिप्त होने के कारण बार-बार विषयों की ओर भाग जाता है। विषयों की ओर भागने से उस पर नियंत्रण करने में ही समय लगता है। इसके बाद कुछ समय नहीं लगता। अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञान रहित व्यक्ति चित्त (मन) को एकाग्र या रोकने के लिए बार-बार अभ्यास करता है, लेकिन जिसके मन के समस्त विकार, वासनाएं शांत हो चुकी हैं उसे कुछ भी अभ्यास नहीं करना पड़ता। वह सोए हुए व्यक्ति की भांति केवल अपने स्वभाव में स्थित रहता है, क्योंकि आत्मा में स्थित हो जाने पर फिर उसके लिए करने योग्य कुछ नहीं रहता।

### सूत्र-34

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम्।

तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः॥

शब्दार्थ—अप्रयत्नात्—निष्क्रियता को प्राप्त करके, प्रयत्नात्—

सक्रिय होकर, वा—अथवा, मूढः—अविवेकी, नाप्नोति—नहीं प्राप्त करता है, निर्वृतिम्—परम सुख की (जबकि), तत्त्वनिश्चयमात्रेण—तत्त्व के निश्चय से।

**प्रसंग**—अज्ञानी पुरुष प्रयत्न अथवा अप्रयत्न से निर्वृत्ति को प्राप्त नहीं होता है जबकि ज्ञानी पुरुष केवल तत्त्व को निश्चयपूर्वक जानकर ही निर्वृत्ति को प्राप्त हो जाता है।

**व्याख्या**—इस सूत्र में अष्टावक्र आत्म-ज्ञान प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट करते हैं, कि मन की बहुत-सी कामनाएं हैं। एक-एक को त्यागने से कोई सफलता नहीं मिलेगी। फिर ये सभी कामनाएं सूखे पत्ते के समान हैं, इनका आधार तो अभिमान और वासना के रहते वृत्तियों (कामनाओं) को काट देने से वे नए-नए रूपों में फिर उत्पन्न होती रही हैं। मूल को पालते रहो और पत्तों को काटते रहो, इससे कभी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञान रहित पुरुष चाहे जितनी भी साधना, उपासना क्यों न कर ले, कितना ही प्रयास करे, कभी भी निर्वृत्ति को प्राप्त नहीं होता है, उसकी मनोकामनाएं शांत नहीं होतीं, क्योंकि अन्दर अभिमान और वासना उपस्थित है। इसके विपरीत ज्ञानी व्यक्ति आत्म-तत्त्व को दृढ़पूर्वक जानकर ही निर्वृत्त हो जाता है। उसकी सभी कामनाएं शांत हो जाती हैं। प्रयास नहीं करना पड़ता। कोई साधना नहीं करनी पड़ती।

### सूत्र-35

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।

आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः॥

**शब्दार्थ**—शुद्धम्—शुद्ध स्वरूप को, बुद्धम्—बोधरूप को, प्रियम्—प्रिय रूप को, पूर्णम्—परिपूर्ण को, निष्प्रपञ्चम्—सभी प्रपञ्चों से परे को, निरामयम्—दुःख-रहित को, आत्मानम्—आत्मा को, तम्—उसको, न—नहीं, जानन्ति—जानते हैं, तत्—वहां, संसार में, अभ्यासपरा—अभ्यास में लगे हुए, जनाः—लोग।

**प्रसंग**—इस संसार में अभ्यास परायण पुरुष उस आत्मा को नहीं जान पाते जो शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, प्रपंच-रहित और दुःख रहित है।

**व्याख्या**—आत्मा पवित्र है, उसमें बिलकुल भी मिलावट नहीं है, उसमें किसी प्रकार का कोई दोष नहीं है, वह बोध स्वरूप है, स्वयं ज्ञान है, उसको जानने के लिए बाहरी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, वह प्रिय है, पूर्ण है, प्रपंच रहित है, और दुःख-रहित है। ऐसी आत्मा हमारा स्वभाव है। हमने भूल के कारणवश शरीर, चित्त, अभिमान आदि को अपना स्वभाव समझ लिया जो कि सन्देह मात्र है, आत्मा को जानने के लिए इस सन्देह को नष्ट करना होगा। और कोई उपाय काम नहीं आएगा। इस सृष्टि में जो व्यक्ति अभ्यास करके आत्मा को जानना चाहते हैं वे उसे कभी नहीं जान सकते। अभ्यास से अभिमान की वृद्धि होती है। मन की कामनाएं शांत होने के बजाय और अधिक बढ़ने लगती हैं। इस संसार का आकर्षण ही ऐसा है कि वह मन को बाहर की ओर ले ही जाता है। अभ्यास से वृत्तियां (कामनाएं) और प्रबल हो जाती हैं, जिससे यह अभ्यास भी बन्धन का रूप बन जाते हैं। आत्म-ज्ञान तो सन्देह के समाप्त होने से ही होगा। सभी अभ्यास छोड़ने से चित्त की शांत अवस्था में ही उसकी अनुभूति होती है।

### सूत्र-36

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा।

धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः ॥

**शब्दार्थ**—न—नहीं, आप्नोति—प्राप्त करता है, कर्मणा—कर्म से, मोक्षम्—मोक्ष को, विमूढः—अविवेकी, अभ्यासरूपिणा—अभ्यास रूप से, धन्यः—धन्य है, (वे), विज्ञानमात्रेण—विज्ञानमात्र से, मुक्तः—मुक्त हुए, तिष्ठति—स्थित होते हैं, अविक्रिय—क्रिया रहित।

**प्रसंग**—अज्ञानी पुरुष अभ्यास रूपी कर्म से मोक्ष को नहीं प्राप्त होता है। जबकि क्रिया रहित ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान के द्वारा मुक्त हुआ स्थित रहता है।

**व्याख्या**—आत्मा हमारा स्वभाव है, उससे जानना मात्र है, जिस व्यक्ति ने आत्मा को जान लिया उसने परमात्मा को जान लिया। वह शुद्ध-बुद्ध हो गया, फिर करना कुछ नहीं बचा। सभी सन्देह नष्ट हो जाते हैं, सारे बन्धन टूट जाते हैं। यही मुक्ति की स्थिति है। लेकिन ज्ञान रहित व्यक्ति अभ्यास के द्वारा इन बन्धनों को नष्ट करना चाहता है, क्योंकि ये बन्धन यथार्थ नहीं हैं। सन्देह मात्र हैं, अज्ञान के कारण हैं। इसलिए अभ्यास उपयोगी नहीं है, ये ज्ञान-प्राप्त होने पर स्वयं ही छूट जाएंगे। सन्देह था जो कि नष्ट हो गया। मोक्ष का अर्थ है, स्वयं के सागररूपी आत्मा में डूब जाना। तैरने के लिए सीखना आवश्यक है, डूबने के लिए सीखने (अभ्यास) की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल कूद जाने की हिम्मत की आवश्यकता है। आगे का कार्य सब स्वयं ही हो जाएगा। आत्म-ज्ञान एवं मोक्ष के लिए स्वयं को समर्पण की भावना से छोड़ देना मात्र है, बिना आधार के हो जाना मात्र है, अभ्यास को त्यागकर निश्चेष्ट भाव से स्वयं को अर्पित कर देना है। आगे अस्तित्व स्वयं अपने आप संभाल लेगा। यही आत्म-ज्ञान है। यही मुक्ति है। क्रिया से बाहरी ज्ञान प्राप्त होता है। आत्मज्ञान का मार्ग अक्रिया है।

### सूत्र-37

मूढो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।

अनिच्छन्नापि धीरो हि परब्रह्म स्वरूपभाक् ॥

**शब्दार्थ**—मूढः—अविवेकी, न—नहीं, आप्नोति—प्राप्त करता है, तद्—उस, ब्रह्म—ब्रह्म को, यतः—जो, भवितुम्—होने की, इच्छति—इच्छा करता है, अनिच्छन्नापि—न चाहता हुआ भी, धीरः—ज्ञानी पुरुष, हि—ही, परब्रह्मस्वरूपभाक्—परब्रह्मस्वरूप को भजने वाला होता है।

**प्रसंग**—अज्ञानी जैसे ब्रह्म होने की इच्छा करता है वैसे ही ब्रह्म नहीं हो पाता है और धीर पुरुष नहीं चाहता हुआ भी निश्चिन्त ही परब्रह्म स्वरूप को भजने वाला होता है।



**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि जिस प्रकार एक शेर का बच्चा भेड़ के समूह में पलकर स्वयं को भेड़ समझने लगता है। उसे यह सन्देह हो जाता है कि मैं तो भेड़ हूँ। लेकिन जब वह अपना चेहरा देख लेता है, जब उसे रक्त का स्वाद ज्ञात हो जाता है तो उसका भेड़ होने का सन्देह समाप्त हो जाता है। उसका सिंहत्व जाग्रत हो जाता है। इसके लिए उसे किसी प्रकार का कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, कोई अभ्यास या साधना नहीं करनी पड़ती। केवल अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाने से उसके सन्देह समाप्त हो जाते हैं और वह स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है। इसलिए प्राणी ब्रह्म बनता नहीं है, वह ब्रह्म ही है उसे जान लेता है। अगर सिंह भेड़ ही होता, वह कितना ही अभ्यास क्यों न कर लेता, फिर भी वह शेर नहीं बन सकता था, इसी प्रकार भेड़ भी जीवन भर अभ्यास करे तो वह शेर (सिंह) नहीं बन सकती। अष्टावक्र यही बताते हैं कि ज्ञान-रहित व्यक्ति ब्रह्म होने की इच्छा तो करता है तो भी वह ब्रह्म नहीं हो सकता। यदि वह ब्रह्म नहीं है तो कामना करने से वह ब्रह्म कभी नहीं हो सकता, लेकिन वह ब्रह्म तो पहले से ही है, अतः अपने स्वरूप को जान लेने मात्र से ब्रह्म हो जाता है। साधना, अभ्यास नहीं करना पड़ता। केवल निश्चपूर्वक जान लेने से ही सारे सन्देह समाप्त हो जाते हैं। इच्छा नहीं निश्चय आवश्यक है।

### सूत्र-38

निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः ।

एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः ॥

**शब्दार्थ**—निराधारा—बिना आधार के, ग्रहव्यग्रः—अपने पूर्वाग्रहों से व्यग्र, दुराग्रही, मूढाः—अविवेकी, संसारपोषकः—संसार का पोषण करने वाले, एतस्य—इसका, अनर्थमूलस्य—अनर्थ मूल का, मूलच्छेदः—जड़ से नाश, कृतः—किया गया है, बुधैः—बुद्धिमान ज्ञानियों द्वारा।

**प्रसंग**—इस आधार रहित, बुरा ग्रह-युक्त संसार का पोषक

अज्ञानी पुरुष ही है। इस अनर्थ के मूल संसार का मूलोच्छेद ज्ञानियों द्वारा किया गया है।

**व्याख्या**—संसार का अर्थ इस भौतिक (नाशवान) जगत् से नहीं बल्कि हमने अपने विचारों (कल्पनाओं), वासनाओं, कामनाओं के कारण जो राग द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, निंदा, हिंसा, अहिंसा, तृष्णा, मोह आदि को जगत् बनाया है, वह बिना आधार वाला है। इसका कोई ठोस शाश्वत (सदैव रहने वाला) आधार नहीं है, यह सब सन्देहपूर्ण है, माया है, दुराग्रह युक्त है। हमारे झूठे आग्रहों से ही जगत् में सुख-दुःख, हर्ष-विषाद (शोक) की अनुभूति होती है। यदि समस्त दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह शांत हो जाए तो संसार में भी शांति का अनुभव हो सकता है। हमारे दुराग्रह के कारण ही जगत् अनर्थ का आधार बन जाता है, इसमें कुछ भी अर्थ ज्ञात नहीं होता, महत्त्वहीन हो जाता है। इसका मूलोच्छेद ज्ञानी व्यक्ति ही अपने ज्ञान से करते हैं, क्योंकि उन्हें ही इसकी यथार्थता ज्ञात होती है। इसलिए ज्ञानी व्यक्ति ही इसे अनर्थ का आधार जानकर इससे नाता तोड़ करके आत्मा से अपना नाता (सम्बन्ध) जोड़ लेते हैं और सुख आनन्दित होते हुए शांति को प्राप्त होते हैं। जबकि ज्ञान रहित व्यक्ति इस ज्ञान को न जानने के कारण से इस आधारहीन एवं अनर्थ मूलक संसार का ही पोषण करता है। आत्मा के आनन्द के अभाव में वह विषय भोगों के आनन्द को ही सुख समझता है। लेकिन आत्मा का आनन्द रूपी सुख प्राप्त हो जाने पर वह सांसारिक विषय भोगों को अनुपयोगी मानते हुए त्याग देता है। और आत्मा के आनन्द में मग्न होने लगता है।

### सूत्र-39

न शांतिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।

धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः ॥

शब्दार्थ—न—नहीं, शान्तिम्—शान्ति को, लभते—प्राप्त करता है, मूढः—अविवेकी, यतः—जिससे, शमितुम्—शान्त होना,

इच्छति—चाहता, धीरः—धीरपुरुष, तत्त्वम्—परमतत्त्व को, विनिश्चित्य—भली-भांति निश्चय करके, सर्वदा—सदा, शान्तमानसः—शान्त मन वाला होता है।

प्रसंग—अज्ञानी जैसे शांत होने की इच्छा करता है, वैसे ही वह शांति को नहीं प्राप्त होता है, किन्तु धीर पुरुष तत्त्व को जानकर सदैव शांत मन वाला है।

व्याख्या—शांति प्रयास से प्राप्त नहीं होती। ज्ञान रहित व्यक्ति शांत होने के लिए भी प्रयास करता है। शांत होने की आशा करने से भी मन में लहरें उठती हैं, जिससे दोबारा नई अशांति पैदा हो जाती है। मन का कामना रहित हो जाना ही शांत हो जाना है। जिसका मन समस्त वासनाओं से रहित हो गया है, उसी को आत्मतत्त्व-ज्ञान का अनुभव हो जाता है और वही इस आत्म-तत्त्व को निश्चयपूर्वक जानकर ही सदा शांत मन वाला होता है। संघर्ष से रहित होना, समभाव में स्थित हो जाना और सभी जगह उस आत्मा के अनुभव के बिना शांति नहीं मिल सकती। आशा करना ही अशांति का कारण है।

### सूत्र-40

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्ट्यवलम्बते।

धीरास्तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम्॥

शब्दार्थ—क्व—कहां, आत्मनः—आत्मा का, दर्शनम्—दर्शन, तस्य—उसका, यत्—जो, दृष्टम्—दृष्ट को, अवलम्बते—अवलंबन करता है, धीराः—ज्ञानी, तम्—उस-उसको, न पश्यन्ति—नहीं देखते हैं, पश्यन्ति—देखते हैं, आत्मानम्—आत्मा को, अव्यम्—अविनाशी को।

प्रसंग—उसको आत्मा का दर्शन कहां है जो दृष्ट्य का अवलम्बन करता है, धीर पुरुष दृष्ट्य को नहीं देखते हैं। वे अविनाशी आत्मा को देखते हैं।

व्याख्या—ज्ञान रहित व्यक्ति (अज्ञानी) पदार्थ को ही देखता है,



उसके अन्दर छिपी आत्मा को नहीं देख सकता। इंद्रियां भी बड़े रूप को ही देख पाती हैं, सूक्ष्म (छोटा) इनकी पकड़ में नहीं आता, इसी प्रकार साधारण व्यक्ति भी पदार्थों को ही देख पाते हैं, लेकिन वैज्ञानिक व्यक्ति उसके अन्दर की ऊर्जा को भी देख लेते हैं। ज्ञान रहित कहते हैं पदार्थ ही हैं। यह सत्य है, लेकिन वैज्ञानिक कहता है, पदार्थ सन्देह मात्र है, सब ऊर्जा ही है। ऊर्जा (विद्युत) का रूप ही पदार्थ दिखाई देता है। इसी प्रकार दिखाई देने वाले पदार्थों के आवरण से आत्मा का दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा स्वयं देखने वाली है, नेत्र उपकरण मात्र है, वह किसी को नहीं देखती, न मन देखता है, न दिमाग। सभी साधन है, देखने वाली आत्मा है। इसीलिए ज्ञानी व्यक्ति दिखाई देने वाले पदार्थों को नहीं देखते हुए बल्कि उनके अन्दर उसी आत्मा को देखते हैं जिससे सारा संसार दृष्यमान होता है। ज्ञान रहित व्यक्ति ही दिखाई देने वाले पदार्थों को देखते हैं। इस दृष्टि का ज्ञान ही धर्म है।

### सूत्र-41

क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धं करोति वै।

स्वरामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः ॥

शब्दार्थ—क्व—कहां, निरोधः—रोकना, विमूढस्य—अविवेकी का, यः—जो, निर्बन्धम्—चित्त को बांधने, निरोधित करने का प्रयास, करोति—करता है, वै—निश्चयपूर्वक, स्वात्मारामस्य—आत्मस्वरूप में लीन का, धीरस्य—ज्ञानी का, सर्वदा—सदैव, असौ—यह अर्थ चित्तवृत्ति का निरोध, अकृत्रिमः—बिना किसी प्रयास के, सहजरूप से ही।

प्रसंग—जो दृढ़पूर्वक चित्त का निरोध करता है, उस अज्ञानी को कहां चित्त का निरोध है? स्वयं में रमण करने वाले धीर पुरुष के लिए यह चित्त का निरोध स्वाभाविक है।

व्याख्या—करना मात्र मन से होता है। बुरा कार्य अगर मन से होता है तो अच्छा कार्य भी मन के द्वारा ही होता है। भोग यदि मन



(चित्त) से होता है तो त्याग भी मन से ही होता है। विश्व की इच्छा अगर मन (चित्त) की है तो मोक्ष (मुक्ति) की इच्छा भी मन की ही होगी, जब तक मन है तब तक शान्ति नहीं है। मन का भोजन ही कर्म (कार्य) है। बिना कार्य के वह रह ही नहीं सकता। अष्टावक्र कहते हैं कि जो दृढ़पूर्वक (जिद) चित्त (मन) पर नियंत्रण करते हैं, यह भी मन (चित्त) के कारण ही है। जिससे कभी मन (चित्त) पर नियंत्रण नहीं हो सकता बल्कि और दृढ़ होता है। अभिमान और बढ़ जाता है, इसलिए ज्ञान रहित व्यक्ति को कभी शांति प्राप्त नहीं हो सकती लेकिन वह ज्ञानी व्यक्ति जिसने आत्मा स्वरूप को जान लिया है जो सदा आत्मा में ही रमण (वास) करने वाला है, वही व्यक्ति शांति को प्राप्त करता है। उसके मन (चित्त) पर नियंत्रण स्वभाव से ही हो जाता है। दृढ़पूर्वक, जबरदस्ती करना नहीं पड़ता। आत्मज्ञान से ही सब आदतें शांत होती हैं। करने से नहीं।

### सूत्र-42

भावस्य भावकः कश्चिन्न किञ्चिदभावकोऽपरः ।

उभयाऽभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः ॥

शब्दार्थ—भावस्य—भाव रूप का, भावकः—मानने वाला, कश्चित्—कोई, न—नहीं, किञ्चित्—कुछ भी नहीं, भावकः—मानने वाला, ऊपरः—अन्य है, उभयाऽभावकः—दोनों को न मानने वाला, कश्चित्—कोई, एवमेव—वैसा ही, निराकुलः—बिना किसी व्याकुलता के स्वस्थ चित्त वाला।

प्रसंग—कोई भाव को मानने वाला है और कोई कुछ भी नहीं है, ऐसा मानने वाला है। वैसे ही कोई दोनों को मानने वाला है कोई दोनों को नहीं, मानने वाला है और वही स्वस्थ चित्त है।

व्याख्या—कुछ व्यक्ति ईश्वर को भाव रूप मानते हैं, कुछ उसे अभाव रूप केवल शून्य मानते हैं। ईश्वर को मानने वाला कहता है कि परमात्मा है तो नास्तिक (ईश्वर को न मानने वाला) कहता है कि

परमात्मा नहीं है। लेकिन अष्टावक्र बताते हैं कि ये दोनों ही अज्ञानी हैं। उनका यह विचार बौद्धिक है। वे दोनों ही नहीं जानते हैं। दोनों रूढ़िवादी, परम्परावादी हैं, परमात्मा इतना विशाल है कि वह छोटी-सी बुद्धि की सीमा में नहीं आ सकता, न बुद्धि को उसके बारे में ज्ञान है और न वाणी के द्वारा उसका वर्णन किया जा सकता है। ईश्वर 'है' 'नहीं है' ऐसा कहना मन (चित्त) का है। जिसने जाना तो है नहीं और वो कहते हैं वे ज्ञान रहित ही हैं। जो जान गया है, उसने मौन धारण कर रखा है। क्योंकि उसे बताना कठिन है। अतः ज्ञानी न तो यह कहता है कि 'परमात्मा' है, न कहता है 'वह नहीं है' वह दोनों में तटस्थ (समान) रहता है। बिना किसी का पक्ष लेते हुए आग्रहपूर्ण वक्तव्य नहीं करता कि वह है या नहीं है। ऐसा व्यक्ति ही स्वस्थ चित्त (मन) और परम शांति को प्राप्त होता है। कहने से संघर्ष ही होता है। तर्क के द्वारा परमात्मा को न सिद्ध किया जा सकता है और न असिद्ध।

### सूत्र-43

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः ।

न तु जानन्ति सम्मोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ॥

शब्दार्थ—शुद्धम्—शुद्ध, अद्वयम्—अद्वैतरूप, आत्मानम्—आत्मा को, भावयन्ति—मानते हैं, कुबुद्धयः—कुबुद्धि सम्पन्न, न—नहीं, तु—तो, जानन्ति—जानते हैं, सम्मोहात्—विषयों में आसक्ति के कारण, यावत्जीवम्—जब तक जीवन है, तब तक, अनिर्वृताः—असंतुष्ट रहते हैं।

प्रसंग—कुबुद्धि पुरुष शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करते हैं लेकिन मोहवश उसे नहीं जानते हैं, इसलिए जीवन भर सुख-रहित रहते हैं।

व्याख्या—सुख तो ज्ञान का ही फल है, ज्ञान रहित व्यक्ति को सुख कहां। ज्ञान रहित व्यक्ति चाहे कितनी भावना कर ले कि आत्मा है, परमात्मा है, जगत् झूठा है, माया है, ब्रह्म ही सत्य है, मैं ब्रह्म ही हूं,

जीव, जगत् व ब्रह्म एक ही है आदि तो भी शांति नहीं हो रही है। क्योंकि भावना करने से ही सुख प्राप्त नहीं हो जाता। सुख तो प्राप्त होता है जानने से, लेकिन बुद्धिहीन व्यक्ति का सृष्टि के प्रति स्नेह तो बना ही रहता है, जिससे वह कभी नहीं जान सकता और पाखण्ड के कारण शुद्ध आध्यात्म अध्यात्म की आत्मा की इच्छा करता है। संसार में ऐसे व्यक्ति हैं, जो हैं तो चोर, बेईमान, झूठे, क्रोधी, कामी, लालची, ज्ञान रहित, हठी, दुराग्रही लेकिन वे कसम खा लेते हैं कि चोरी नहीं करेंगे, बेईमानी नहीं करेंगे, झूठ नहीं बोलेंगे। वे ब्रह्मचर्य की बात करते हैं, लाखों का गबन करके हजार रुपये का दान करके दानवीर बनते हैं, भगवान की पूजा-अर्चना भी किराए के पैसे से कराते हैं। पूरे चार्वाक और अध्यात्म की बातें करते हैं, व्रत ले-लेकर अपनी चोरी और बेईमानी को गुप्त रखने का रास्ता खोजते हैं। ताकि उनकी शान में यह बेईमानी कहीं संसार के सामने न आ जाए, लेकिन स्वयं का रूपान्तरण ही धर्म है। इसी से होगा ज्ञान तथा इसी के द्वारा अध्यात्म की अनुभूति होगी, भावना करने से नहीं होगा। प्रत्यक्ष (स्पष्ट) बोध करना होगा, तभी सुख को प्राप्त होंगे।

### सूत्र-44

मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते।

निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥

शब्दार्थ—मुमुक्षोः—मुमुक्षु की, बुद्धिः—बुद्धि, आलम्बमन्तरेण—आलंबन के बिना, न—नहीं, विद्यते—रहती, निरालम्बैव—बिना किसी आलम्बन के ही, निष्कामाः—समस्त कामनाओं से परे, बुद्धिः—बुद्धि, मुक्तस्य—मुक्तपुरुष की, सर्वदा—हमेशा ही रहती है।

प्रसंग—मुमुक्षु पुरुष की बुद्धि आलम्बन के बिना नहीं रहती। मुक्त पुरुष की बुद्धि सदा निष्काम और निरालम्ब रहती है।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि मन सहारा चाहता है। बिना



सहारे के वह जीवित नहीं रह सकता। यदि उसे परमेश्वर का सहारा मिल जाए तो वह संतुष्ट हो जाता है, लेकिन वह न मिलने से ही संतुष्टि के लिए विषयों की ओर दौड़ता है। बुद्धि भी आलम्बन चाहती है, बिना आलम्बन के तर्क-वितर्क संभव नहीं है। इस कारण जिज्ञासु व्यक्ति भी पूजा, पाठ, यज्ञ, पंडित, शास्त्र, मंदिर, परमात्मा आदि का आश्रय लेता है लेकिन अष्टावक्र बताते हैं कि जब तक कोई सहारा है, चाहे वह ईश्वर का ही क्यों न हो, तब तक मोक्ष को प्राप्त होना संभव नहीं है। वह सहारा भी बन्धन ही है। लक्ष्य-प्राप्त हो जाने के बाद सभी सहारे, सभी आडम्बरों का त्याग करना पड़ता है। तभी व्यक्ति निःस्वार्थ और निराश्रय वाला होता है। बुद्धि और मन की ऐसी स्थिति ही मुक्ति है। वह सदा आत्मा में ही स्थिर रहता है।

### सूत्र-45

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चाकिताः शरणार्थिनः।

वशन्ति झटिति क्रोडनिरोधैकाग्रसिद्धये ॥

शब्दार्थ—विषयद्वीपिनः—विषयरूपी व्याघ्र को, वीक्ष्य—देखकर, चाकिताः—आश्चर्यचकित और भयभीत, शरणार्थिनः—अपने स्वरूप से भटके हुए, शरण ढूंढने वाले अविवेकी पुरुष, वशन्ति—घुस जाते हैं, झटिति—झट से, क्रोडन्—गुफा में, निरोध—रोकना, एकाग्रसिद्धये—एकाग्रता की सिद्धि के लिए।

प्रसंग—विषय रूपी बाधा को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शीघ्र ही चित्त निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है।

व्याख्या—विषयों में सांसारिक व्यक्ति भयभीत नहीं होता। वह तो इन्हें भोग लेता है। ये विषय भोग चाहे क्षणमात्र का सुख देने वाले हों लेकिन व्यक्ति इन्हें भोगकर संतुष्टि का अनुभव कर लेता है। वास्तविक और परम सुख का उसे ज्ञान ही नहीं कि ऐसा आनन्द भी है जो स्थायी है, इसलिए वह क्षणमात्र में ही तृप्त हो जाता है। सुख, दुःख,



खुशी, शोक, जो भी हो उसे भाग्यवश मानकर भोग लेता है, लेकिन जिसमें आत्मज्ञान की कामना तीव्र हो जाती है, वह इन विषयों से भयभीत होता है। वह इन विषयों के समूह उपस्थित बाघ (चीता) के समान मानकर इनसे बचने के लिए एकान्त कहीं पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है, अर्थात् वह जगत् से ही भाग खड़ा होता है। ऐसा ज्ञान रहित व्यक्ति यह समझता है कि जगत् से भाग जाने से तथा एकान्त में रहने से मन का निरोध हो जाएगा, उसको एकाग्रता की सिद्धि मिल जाएगी, जिससे उसे आत्मज्ञान हो जाएगा किन्तु यह उसका सन्देह है। विषयों के प्रति मोहित होने का कारण अन्दर मन में छिपी वासना है, जिससे व्यक्ति सांसारिक विषयों के पीछे दौड़ता है। जगत् इसका कारण नहीं है, इसलिए इसका त्याग करने पर वासना छूट जाए, यह आवश्यक नहीं है, यह नियन्त्रण भी नहीं है, इन्द्रियों को भोग से रोक देना नियन्त्रण नहीं है, जब अन्दर भी वासना शान्त होगी, तभी नियन्त्रण होगा, इसलिए भयभीत होकर भाग जाने की अपेक्षा उन्हें जागकर देखने से, साक्षी भाव से देखने से तथा बोधपूर्वक देखने से इन पर नियन्त्रण होगा और कोई उपाय नहीं है।

### सूत्र-46

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः ।

पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः ॥

शब्दार्थ—निर्वासनम्—वासना रहित, हरिमः—सिंह को, दृष्ट्वा—देखकर, तूष्णीम्—चुपचाप, विषयदन्तिनः—विषयरूपी हाथी, पलायन्ते—भाग जाते हैं, न—नहीं, शक्तः—समर्थ, ते—वे, सेवन्ते—सेवा करते हैं, कृतचाटवः—चाटुकार।

प्रसंग—“वासना-रहित मनुष्य-सिंह को देखकर विषय रूपी हाथी चुपचाप पलायन कर जाते हैं या वे असमर्थ होकर चाटुकार की तरह उसकी सेवा करने लगते हैं।”

व्याख्या—इसी क्रम में अष्टावक्र बताते हैं कि विषयों से भयभीत

होकर भाग जाने से भय अन्दर बना रहेगा। वह स्वप्न एवं ध्यान तथा समाधि में फिर उपद्रव मचाएगा, इसलिए विषयों से भागकर वन में जाने से समस्या का हल नहीं होगा। बल्कि वासना-रहित हो जाना ही इसका उपाय है। वासना ही आकर्षण उत्पन्न करती है। यदि वासना खो गई तो आकर्षण अपने आप समाप्त हो जाएगा। फिर मन पर नियन्त्रण कम ही करना पड़ेगा, पहाड़ी पर गुफाओं में नहीं जाना पड़ेगा, यह प्राप्ति घर बैठे ही जगत् में रहते हुए भी हो सकती है, अष्टावक्र बताते हैं कि यद्यपि यह विषय-वासना हाथी के समान बलशाली है। इन्हें आसानी से नियन्त्रण में करना कठिन है, लेकिन वासना-रहित व्यक्ति उस शेर (सिंह) के समान है, जिसे देखकर ये विषय वासनाएं चुपचाप भाग जाते हैं या इतने शक्तिहीन हो जाते हैं कि वे उसे प्रभावित न कर चाटुकार सेवक के समान उसकी सेवा करते हैं, जबकि ज्ञान-रहित व्यक्ति वासना में लिप्त होकर उन्हें भोगता है, ज्ञानी बुद्धि से उनका उपयोग करता है, ज्ञान रहित व्यक्ति पर विषय प्रभावित हो जाते हैं।

### सूत्र-47

न मुक्तिकारिकान्धत्ते निःशङ्को मुक्तमानसः।

पश्यञ्छण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्॥

शब्दार्थ—न—नहीं, मुक्तिकारिकाम्—मुक्ति की साधनारूप क्रियाओं के, धत्ते—धारण करते, निःशङ्को—बिना किसी शंका के, मुक्तमानसः—मुक्त मनन वाला, संतुलित मन वाला, पश्यन्—देखता हुआ, शृण्वन्—सुनता हुआ, स्पृन्—स्पर्श करता हुआ, जिघ्रन्—सूंघता हुआ।

प्रसंग—“शंकारहित और मुक्त मन वाला पुरुष मुक्तिकारी योग (यम नियमादि) को आग्रह के साथ नहीं ग्रहण करता है, लेकिन वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है।”

**व्याख्या**—अष्टावक्र कहते हैं कि जिस व्यक्ति की सभी वासनाएं मिट गई, जिसकी सभी बुराइयां शान्त हो गई, जिसे अब कुछ पाने की इच्छा नहीं रही, ऐसा आत्मज्ञान को प्राप्त शंकारहित एवं स्वतन्त्र मन वाला होता है। मन से स्वतन्त्र होने के कारण ही वह सब संघर्षों में पार होकर आत्मा में स्थित रहता है। उसके सभी निवेदन समाप्त हो जाते हैं, उसका आभिमान नष्ट हो जाता है, जिससे कर्तव्य का घमण्ड भी नहीं रहता, वह यम नियम आदि जितने भी मुक्तकारी योग हैं, उन्हें आग्रहपूर्वक धारण नहीं करता। बल्कि ये अब उससे स्वभाववत् होते रहते हैं, अहिंसा सत्त अष्टेय ब्रह्मचारिया एवं अपरिग्रह ये पांच नियम हैं जिसका योगी आग्रहपूर्वक पालन करता है। लेकिन ज्ञान प्राप्ति के बाद ज्ञानी का स्वभाव ही ऐसा हो जाता है जिससे इनके पालन करने में कोई जबरदस्ती नहीं करनी पड़ती। ऐसा ज्ञान बिना किसी आग्रह के देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूंघना, खाना आदि इन्द्रियों के समस्त कार्य यथावत करता हुआ भी आनन्दपूर्वक रहता है।

### सूत्र-48

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः ।  
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति ॥

**शब्दार्थ**—वस्तुश्रवणमात्रेण—यथार्थ तत्त्व के श्रवणमात्र से, शुद्ध बुद्धिः—शुद्ध बुद्धि वाला, निराकुलः—सारी व्याकुलताओं से परे, न—नहीं, एव—ही, आचार—आचरण को, अनाचारम्—अनाचार को, औदास्यम्—उदासीनता को, वा—अथवा, प्रपश्यति—देखता है।

**प्रसंग**—यथार्थ ज्ञान के सुनने मात्र से शुद्ध, बुद्धि और स्वस्थ चित्त हुआ पुरुष न आचार को, न अनाचार को न उदासीन को देखता है।

**व्याख्या**—आचार और अनाचार, उदासीनता और कर्मठता सब ज्ञान रहित व्यक्ति के लिए मन की उपस्थिति से ही यह भेद उत्पन्न



होता है, लेकिन आत्मज्ञानी व्यक्ति स्वस्थ मन एवं शुद्ध विवेक वाला हो जाता है, उससे जो भी कार्य होंगे पूर्ण सावधानी एवं विवेक से होंगे। उसमें स्वार्थ, वासना और अभिमान आदि न होने से वह जो भी कार्य करेगा वह उत्तम ही होगा, उसमें दोष हो ही नहीं सकते, अष्टावक्र बताते हैं कि ऐसा तत्त्व बोध यदि किसी व्यक्ति का अन्तःकरण स्वच्छ है तो सुनने मात्र से हो जाता है यदि सुनने की कला कोई जानता है तो आत्मज्ञान के लिए किसी जप, तप, योग, ध्यान, समाधि, कर्मकांड, हठयोग, भामी आदि की कोई आवश्यकता नहीं है, केवल सुनने मात्र से यह सब हो जाता है, क्योंकि यह संसार वासना, बन्धन आदि के कारण प्रतीत होते हैं। जो कि सन्देह मात्र है, अन्धकार के समान जो ज्ञान से स्वयं ही विलीन हो जाते हैं, प्रयास नहीं करना पड़ता, किसी विधि की आवश्यकता नहीं है।

### सूत्र-49

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।

शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्॥

शब्दार्थ—यदा—जब, यत्—जो, कर्तुम्—करने को, आयाति—आ जाता है, तदा—तब, तत्—उसको, कुरुते—करता है, ऋजुः—बिना किसी पूर्वाग्रह, अपेक्षाओं के, शुभम्—शुभ हो, वा अपि—अथवा, अशुभम्—अशुभ हो, तस्य—उसकी, चेष्टा—चेष्टाएं, हि—क्योंकि, बालवत्—बच्चों की तरह होता है।

प्रसंग—“धीर पुरुष जब कुछ शुभ या अशुभ करने को आ पड़ता है तो उसे सहजता के साथ करता है, क्योंकि उसका व्यवहार बालवत् है।”

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि बालक और ज्ञानी व्यक्ति में थोड़ी समानता है कि दोनों स्वभाव में जीते हैं लेकिन बालक मन के स्वभाव में जीता है वह अपनी सारी कामनाएं पूरी करना चाहता है। शुभ-अशुभ का उसमें अन्तर नहीं होता। क्योंकि उसकी बुद्धि का



विकास अभी हुआ नहीं है। विवेक ही अन्तर उत्पन्न करता है लेकिन ज्ञानी व्यक्ति मन के नहीं आत्मा के स्वभाव में जीता है। वह मन और बुद्धि के पार हो चुका है, वह बुद्धि का उपयोग विवेक से करता है। इसलिए वह ज्ञानी पुरुष भी अच्छे-बुरे का भेद नहीं करता है, बल्कि आत्मा स्वभाव के अनुकूल जो करना आवश्यक होता है, वह बाल स्वरूप कर लेता है, किसी प्रकार का आग्रह बुरा ग्रह आदि नहीं होता, ऐसा ज्ञानी ही सुखपूर्वक रहता है।

### सूत्र-50

स्वातन्त्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम्।

स्वातन्त्र्यान्निर्वृत्तिं गच्छेत् स्वातन्त्र्यात्परमं पदम्॥

शब्दार्थ—स्वातन्त्र्यात्—स्वतंत्रता से, सुखम्—सुख को, आप्नोति—प्राप्त करता है, स्वातन्त्र्यात्—स्वतंत्रता से, लभते—लाभ होता है, परम्—श्रेष्ठ को, स्वतन्त्र्यात्—स्वतंत्रता से, निर्वृत्तिम्—शाश्वत सुख को, गच्छेत्—प्राप्त होता है, स्वातन्त्र्यात्—स्वतंत्रता से, परमम्—परम्, पदम्—पद को प्राप्त करता है।

प्रसंग—“धीर पुरुष स्वतन्त्रता से सुख को प्राप्त होता है, स्वतन्त्रता से परम को प्राप्त होता है, स्वतन्त्रता से नित्य सुख को प्राप्त होता है और स्वतन्त्रता से परम पद ही प्राप्त होता है।”

व्याख्या—आत्मज्ञानी सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। वासना, कामना, असंतोष, अभिमान आदि से ही व्यक्ति बन्धनों का निर्माण कर लेता है, इन बन्धनों के कारण ही विषयों की गुलामी उसे बर्दाश्त करनी पड़ती है, इन्हीं से सुख-दुःख, शोक-खुशी का अनुभव होता है। इन्हीं से उसके कार्य बन्धन बनते हैं, जिसे वह अनेक जन्मों तक भोगता ही रहता है, आत्मज्ञान के बिना उनसे मुक्ति नहीं हो सकती, ज्ञानी ही इस तत्त्व को जानता है। सभी बन्धनों से मुक्त होकर परम आनन्द में स्थित हो जाता है, बन्धन रहित हो जाना ही परम स्वतन्त्रता है, यही मुक्ति है। सिद्ध शिला पर बैठना ही मुक्ति नहीं है,

क्योंकि वही बैठना है। अलग जाने का कोई मार्ग नहीं है, इसलिए वह भी बन्धन ही है, जहां रहने को विवश किया जाए, वह मात्र ग्रह ही है, मुक्ति कहां हुई, स्वतन्त्रता कहां है, परमपद तो स्वतन्त्रता ही है, और यही परम सुख है व्यक्ति की यही अन्तिम स्थिति है।

### सूत्र-51

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते तदा।

तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः ॥

शब्दार्थ—अकर्तृत्वम्—अकर्तापन, अभोक्तृत्वम्—अभोक्तापन, स्वात्मनः—अपनी आत्मा के, मन्यते—मानते हैं, यदा—जब, तदा—तब, क्षीणः—क्षीण, भवन्ति—होती है, एव—ही, समस्तः—समस्त, चित्तवृत्तयः—चित्त की वृत्तियां।

प्रसंग—“जब मनुष्य अपनी आत्मा के अकर्तापन और अभोक्तापन को मानता है, तब उसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का नाश हो जाता है।”

व्याख्या—व्यक्ति न तो करने वाला है न भोगने वाला, न वह कार्य करता है, न उसका फल ही भोगता है, व्यक्ति पापी है ही नहीं, उससे पाप हो ही नहीं सकता, यह वेदान्त की घोषणा है। लेकिन मनुष्य अभिमान के कारण स्वयं को आत्मा एवं ब्रह्म से अलग समझने लग गया, इसी अज्ञान और सन्देह के कारण वह स्वयं को कर्ता मानने लगा। कर्ता मानने से वह भोगने वाला भी बन गया, यही उसका पाप हो गया, जिस समय वह अपने को शरीर मन और अहंकार से अलग केवल आत्म रूप निश्चित कर लेता है, उसी पल वह न करने वाला रहता है और न भोगने वाला, न उससे कोई पाप होता है न पुण्य, आत्मज्ञान में उसकी समस्त मन की बुराइयां एकान्त हो जाती हैं। इसका अभिमान ही नष्ट हो जाता है। मैं भाव ही समाप्त हो जाता है। फिर कौन करने वाला है और कौन भोगने वाला ऐसा कहना कठिन हो जाता है। आत्मज्ञान की स्थिति में ऐसा होना सम्भव है अन्यथा उसका

कर्त्तापन एवं भोक्तापन रहेगा, जिसके कारण वह पाप पुण्य का अधिकारी भी होगा।

### सूत्र-52

उच्छृङ्खलाप्याकृतिका स्थितिधीरस्य राजते।

न तु संस्पृहचित्तस्य शान्तिर्मूढस्य कृत्रिमा ॥

शब्दार्थ—उच्छृङ्खला—चंचलता, अपि—भी, आकृतिका—स्वाभाविक, सहज रूप से, स्थिति—स्थिति, धीरस्य—धीर पुरुष की, राजते—शोभित होती है, न—नहीं, तु—परंतु, संस्पृहचित्तस्य—आसक्तिमुक्त वाले की, शान्तिः—शान्ति, मूढस्य—अविवेकी का, कृत्रिमा—बनावटी, असहज।

प्रसंग—धीर पुरुष की स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है, लेकिन स्पृहायुक्त चित्त वाले मूर्ख की बनावटी शांति भी नहीं शोभती।

व्याख्या—मनुष्य में स्पृहा है, वासना है, स्पृहा के कारण उसे यह शरीर मिला है, यदि जगत् में कुछ भोगने की कुछ करने की इच्छा ही नहीं होती तो यह शरीर उसे मिलता ही नहीं, घड़े का निर्माण तभी होता है जब उसमें कुछ भरना हो। यदि भरने को कुछ नहीं है तो घड़े को बनाने की क्या आवश्यकता है। स्पृहा, वासना आदि चित्त के गुण हैं, स्पृहा एवं वासना के कारण ही इस नाशवान संसार का अस्तित्व है, इसी से व्यक्ति सारे निर्माणात्मक एवं विध्वंसात्मक कार्य करता है, जगत् की जैसी भी स्थिति है वह स्पृहा के कारण हुई इसलिए स्पृहा ही संसार है इसकी अनुपस्थिति में कुछ भी नहीं मिलता है, स्पृहा के रहते व्यक्ति को शान्ति नहीं मिल सकती। जहां स्पृहा है वहीं दौड़-धूप है, संघर्ष है, एवं समस्त निर्माण भी स्पृहा ही है। लेकिन आध्यात्मिक उपलब्धि स्पृहा से स्वतन्त्र होने पर ही होती है। तभी व्यक्ति को आत्मज्ञान एवं शान्ति प्राप्त होती है, स्पृहा के रहते शान्ति की उम्मीद करना मृग मरीचिका के समान है जो कभी भी प्राप्त नहीं हो सकती।

यदि कोई स्पृहा युक्त मन वाला व्यक्ति कहता है कि मैं शान्त हूँ, मुझे शान्ति का अनुभव हो गया तो वह ढोंग मात्र है, वह शान्ति बनावटी है, वह शान्ति का नाटक कर रहा है, आधा घण्टा ध्यान कर लिया। गायत्री की दस माला का जाप कर लिया किसी आश्रम में एक घण्टा बैठ गए और घोषणा करने लगे, मुझे शान्ति प्राप्त हो गई है। यह शान्ति नहीं मात्र धोखा है, तो शान्त प्रतीत होते हुए भी व्याकुल है। उनकी शान्ति बाहरी है जो क्षणभर में नष्ट हो सकती है ऐसी शान्ति मूर्ख व्यक्ति की ही शान्ति है, जो क्षणमात्र की ही बनावटी है, इसके विपरीत ज्ञानी स्पृहामुक्त हो जाने से वास्तविक शान्ति को प्राप्त होता है, क्योंकि अशान्ति का कारण स्पृहा थी जो समाप्त हो गई है, इसलिए वह परम शान्त है, उसकी शान्ति स्वाभाविक है, यदि ऐसा ज्ञानी उच्छृंखलता ही दिखाता है तो भी वह शोभा पाता, क्योंकि उसमें कोई दोष नहीं होता, उसके पीछे स्पृहा, वासना नहीं होती। अन्दर की गन्दगी को छिपाने के लिए व्यक्ति बाहरी आडम्बर से उसे छिपाना चाहता है, जबकि भीतर से स्वच्छ होने पर उसे इसकी आवश्यकता नहीं होती।

### सूत्र-53

विलसन्ति महाभोगैर्विशन्ति गिरिगह्वरान्।

निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः ॥

शब्दार्थ—विलसन्ति—विलासपूर्वक भोग करते हैं, महाभोगैः—उत्तम और श्रेष्ठ भोगों को, विशन्ति—प्रवेश करते हैं, गिरिगह्वरान्—पर्वतगुफाओं में, निरस्त कल्पना—जिनकी समस्त कल्पनाएं समाप्त हो जाती हैं, धीरः—तत्त्वज्ञानी, अबद्धा—सभी बंधनों से मुक्त, मुक्तबुद्धयः—मुक्त बुद्धि वाले।

प्रसंग—कल्पना रहित बन्धन-रहित और मुक्त बुद्धि वाले धीर पुरुष कभी बड़े-बड़े भोगों के साथ क्रीड़ा करते हैं, और कभी पहाड़ की कन्दराओं में प्रवेश करते हैं।

व्याख्या—जिस ज्ञानी व्यक्ति की कामना शांत हो गई, कोई



वासना नहीं रही, जो कल्पना-रहित, बन्धन-रहित हो गया, जिसे संसार में एक तत्त्व का ज्ञान हो गया, वह स्वतन्त्र चित्त वाला धीर व्यक्ति बड़े-बड़े भोगों के साथ खेल करते हुए, खेल के समान, नाटक रूप तटस्थ होकर साक्षी भाव से भोगता है। वह चाहे तो पहाड़ की गुफाओं में भी रह सकता है। दोनों में ही अनाग्रह पूर्ण होता है। दोनों में वह समान भाव रखता है, जिस व्यक्ति को भोगों को भोगने या उन्हें छोड़कर वन में चले जाने का आग्रह होता है, जो सब कुछ नियम-संयम में बंधकर कार्य करता है, जो नियमों, मान्यताओं, परम्पराओं, रूढ़ियों के अनुरूप चलता है, ऐसा व्यक्ति मुक्त नहीं है, वह बन्धनों में बंधा हुआ है। ज्ञानी व्यक्ति सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर केवल आत्मा में निवास करने वाला स्वच्छ विचारों वाला होता है।

### सूत्र-54

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपति प्रियम्।

दृष्ट्वा संपूज्य धीरस्य न काऽपि हृदि वासना ॥

शब्दार्थ—श्रोत्रियम्—शास्त्र के ज्ञाता को, देवताम्—देवता को, तीर्थम्—तीर्थ को, अङ्गनाम्—स्त्री को, भूपतिम्—राजा को, प्रियम्—प्रिय को, दृष्ट्वा—देखकर, संपूज्य—पूजन करके, धीरस्य—धीर के, न—नहीं, कापि—कोई भी, हृदि—हृदय में, वासना—वासना होती है।

प्रसंग—धीर पुरुष के हृदय में पंडित, देवता और तीर्थ का पूजन करके तथा स्त्री, राजा और प्रियजनों को देखकर कोई भी वासना नहीं होती।

व्याख्या—ज्ञान रहित व्यक्ति की इच्छा होती है, वासना होती है, जिनको प्राप्त करने के लिए वह पंडितों या ज्योतिष आचार्यों के पास जाता है, धन-सम्मान और पुत्र प्राप्त करने के लिए देवताओं की पूजा, अर्चना करता है, अपने पापों के प्रायश्चित्त करने के लिए वह तीर्थों की यात्रा करता है, उन्हें पूजता है, मंदिरों में जाकर पूजा, स्तुति

करता है, वह स्त्री (नारी) को देख काम वासना के लिए प्रेरित होते हुए उसे प्राप्त करना चाहता है, वह राजा को मक्खन लगाकर मंत्रियों के पीछे-पीछे घूमता फिरता है कि कहीं कोई सीट उसे भी मिल जाए, चुनाव का टिकिट प्राप्त हो जाए, वह अपने प्रिय व्यक्तियों को देखकर भी उनसे कुछ प्राप्त करने की आशा करता है। अष्टावक्र बताते हैं कि धीर पुरुष ज्ञानी भी इनको देखता है लेकिन उसमें उसकी कामना न होने के कारण वह इनसे कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता है। वासनाओं वाला चित्त ही अनेक दोषों वाला होता है। लेकिन जिस आत्म-ज्ञानी ने वासनाओं को शांत करके ज्ञान प्राप्त कर लिया है वह सभी प्रकार के दोषों से मुक्त हो जाता है।

### सूत्र-55

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।

विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक् ॥

शब्दार्थ—भृत्यैः—नौकरों से, पुत्रैः—सन्तान से, कलत्रैः—स्त्रियों से, च—और, दौहित्रै—नातियों से, च—और, अपि—भी, गोत्रजै—स्वगोत्र में उत्पन्न व्यक्तियों से, विहस्य—हंसकर, धिक्कृतः—अपमानित किया गया, योगी—ज्ञानी, न—नहीं, याति—प्राप्त होता है, विकृतिम्—विकार को, मनाक्—किंचित् मात्र भी।

प्रसंग—योगी नौकरों से, पुत्रों से, पत्नियों से दौहित्रों से और बान्धवों द्वारा हंसकर धिक्कारे जाने पर भी विकारों को प्राप्त नहीं होता है।

व्याख्या—ज्ञान रहित व्यक्ति वासनाओं में मग्न और अभिमानी होता है। वासना के कारण ही उसमें लालच एवं मोह होता है, जिनकी प्राप्ति न होने पर वह क्रोधित होता है। मान-सम्मान की इच्छा अभिमान के कारण होती है। यदि उसको वह न मिल पाए या कोई उसका अपमान करे, निंदा करे तो उसका सीधा प्रभाव उसके अभिमान पर

होता है। जिसके प्रभाव से वह बेचैन होता है और बदला लेने का प्रयास करता है। जब द्रोपदी ने कौरवों से कहा कि, 'अंधे के अंधे ही पैदा होते हैं, तो कौरवों के अभिमान को ठेस पहुंची, जिसके परिणामस्वरूप महाभारत का युद्ध हुआ।' सृष्टि में इस अभिमान पर ठेस लगने के कारण ही बहुत से उत्पात हुए हैं, जो इस अभिमान को फुसलाने का उपाय जानते हैं, वे अपना कार्य बड़ी सरलता से निकाल लेते हैं। अभिमान से यदि पाप होता है तो पुण्य भी अभिमान के कारण ही होता है। इस अभिमान से रहित व्यक्ति यदि पाप नहीं करता तो पुण्य भी नहीं करता है। वह जैसा है, वैसा ही रहता है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि योगी, अभिमान रहित हो जाने से अपने सेवकों, पुत्रों, पत्नियों, दोहित्रों और मित्रों आदि के द्वारा धिक्कारने पर भी तथा हंसी उड़ाने पर भी दोष नहीं होता है। क्योंकि अभिमान ही समस्त दोषों का आधार है।

### सूत्र-56

संतुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।

तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानते॥

शब्दार्थ—संतुष्टोऽपि—संतुष्ट होता हुआ भी, न—नहीं, संतुष्टः—संतुष्ट होता, खिन्नोऽपि—खिन्न होता हुआ भी, न—नहीं, च—और, खिद्यते—खिन्न होता, तस्य—उसकी, आश्चर्यदशाम्—विलक्षण दशा को। तां ताम्—उस उसको, तादृशाएव—वैसे ही, जानते—जानते हैं।

प्रसंग—धीर पुरुष सन्तुष्ट होकर भी सन्तुष्ट नहीं होता है और दुःखी होकर भी दुःखी नहीं होता है। उसकी इस आश्चर्यमय दशा को वैसे ही ज्ञानी जानते हैं।

व्याख्या—ज्ञानी व्यक्ति और ज्ञान रहित व्यक्ति के अन्दर और बाहर में बड़ा अन्तर होता है। ज्ञान रहित व्यक्ति के अन्दर अभिमान, कामना, लालच, असंतोष, मोह, काम, क्रोध, हिंसा सब भरी होती हैं।

लेकिन बाहर से वो विनम्र, सहनशीलता, दयालु, दानवीर, अहिंसक, सेवा परायण, त्यागी होने का बनावटी चेहरा लगाकर घूमता है। वह बाहर से शांत प्रसन्न, सुखी, सन्तुष्ट दिखाई देता है, लेकिन अन्दर से उतना ही बेचैन और असन्तुष्ट होता है, लेकिन इसके विपरीत ज्ञानी अन्दर से पूर्ण सन्तुष्ट होता है। न उसकी कोई इच्छा है, न वासना। उसे परम शांति प्राप्त हो गई। अब प्राप्त करने के लिए कुछ भी शेष नहीं बचा है, इस कारण वह संतुष्ट है, लेकिन बाहर से देखने पर वह भी असन्तुष्ट के समान ही दिखाई पड़ता है। वह संसार में अपने कार्यों को करता हुआ ऐसा प्रतीत होता है, कि उसे भी कुछ प्राप्त करने की आशा है, वह भी सम्मान चाहता है, वह बाहर से दुःखी, चिन्तित दिखाई देने पर भी न दुःखी होता है न चिन्तित। ज्ञानी व्यक्ति की ऐसी अवस्था ही आश्चर्यजनक है। ज्ञान रहित व्यक्ति उसके बाहरी कार्यों को ही देख सकता है। उसकी अन्दर की अवस्था को तो उसके समान ज्ञानी ही जान सकता है।

### सूत्र-57

कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।

शून्यकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः॥

शब्दार्थ—कर्तव्यता—कर्तव्य बुद्धि, एव—ही, संसारः—संसार है, न—नहीं, ताम्—उस कर्तव्यबुद्धि, पश्यन्ति—देखते हैं, सूरयः—ज्ञानी, शून्याकारा—शून्य आकार वाले, निराकारः—बिना किसी प्रकार के आकार के, निर्विकारः—जिनमें किसी प्रकार का कोई विकार नहीं है, निरामयाः—समस्त दुःखों से परे।

प्रसंग—कर्तव्य ही संसार है, उसे शून्याकार, निराकार, निर्विकार (विकार रहित) और निरामय (दुःख रहित) ज्ञानी नहीं देखते हैं।

व्याख्या—अष्टावक्र कहते हैं कि यह कर्तव्य ही सृष्टि है। सृष्टि में रहकर कर्तव्य तो करना ही पड़ता है। बिना कार्य किए कोई व्यक्ति नहीं रह सकता, यह सृष्टि जैसी भी है, वह सब कर्तव्य (कार्यों) का



ही फल है। (कर्त्तव्य) जो करने योग्य हैं वह ज्ञानी व्यक्ति भी करता है, लेकिन उसमें कर्त्तव्य के प्रति मग्नता नहीं होती है, जैसे कि ज्ञान रहित व्यक्ति की होती है। सांसारिक प्राणी सही-गलत, शुभ-अशुभ, निन्दा-प्रशंसा आदि को सोचते हुए कर्त्तव्य (कार्य) करता है, उसमें संकल्प होता है, अभिमान होता है, इसलिए उसका उसे परिणाम भी भोगना पड़ता है। कर्त्तव्य की गति स्वर्ग तक की है। अच्छे कार्य करके वह व्यक्ति स्वर्ग-सुख को तो भोग कर सकता है, लेकिन यह मोक्ष को प्राप्त होने में बाधा है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को यही कहा कि तू क्षत्रिय है, युद्ध करना तेरा (कर्त्तव्य) धर्म है, अगर युद्धभूमि में तू मृत्यु को प्राप्त हो गया तो तुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी और अगर तेरी विजय हुई तो राज्य का भोग करेगा। ऐसा नहीं कहा कि तू मरने पर मोक्ष को प्राप्त होगा। मुक्ति का मार्ग इस कर्त्तव्य-मार्ग से अलग है। वह व्यक्ति जगत् से मुक्त नहीं होता, बल्कि स्वर्ग से भी स्वतन्त्र हो जाता है। स्वर्ग में योग चाहे हों लेकिन वहां पर भी कामना है, उम्मीदें हैं, सम्मान की आकांक्षा है, इस कारण ये देवता व इन्द्र आदि भी परेशान हैं। कभी सांसारिक व्यक्ति इन्द्रासन हिलाते हैं तो कभी राक्षसों का उपद्रव होता है। उन्हें भी शांति नहीं है। केवल आत्मज्ञानी ही कामना रहित हो जाने से स्वतन्त्र है। वह शून्याकार, बिना कोई आकार और दोष-रहित एवं कष्टरहित होता है, जिससे वह सृष्टि को कर्त्तव्य (कार्य) के समान देखते हुए बल्कि अभिनेता के समान देखता है। वह केवल परमात्मा (ईश्वर) को ही करने वाला कर्त्ता मानता है। जो व्यक्ति इस वास्तविकता को नहीं जानता, वह कर्त्तव्य के बारे में ही वर्णन करता है। कर्त्तव्य, संकल्प, मनोबल, महत्वाकांक्षा, संघर्ष, विजय, दौड़-धूप, ये सारे गुण सांसारिक व्यक्ति के हैं।

### सूत्र-58

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः ।  
 कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः ॥

**शब्दार्थ—अकुर्वन्नपि—**कुछ न करता हुआ भी, **संक्षोभात्—**संकल्प-विकल्प के परिणामस्वरूप, **व्यग्रः—**व्याकुल, **सर्वत्र—**प्रत्येक परिस्थिति में, **मूढधीः—**अविवेकी, अज्ञानी, **कुर्वन्नपि—**करता हुआ भी, **तु कृत्यानि—**कर्मों को करता हुआ भी, **कुशलः—**तत्त्वज्ञानी, **हि—**निश्चितरूप से, **निश्चयात्मिकावृत्ति के कारण, निराकुलः—**व्याकुलता विहीन (रहता है) ।

**प्रसंग—**अज्ञानी कर्मों को नहीं करता हुआ भी सर्वत्र विक्षोभ (संकल्प-विकल्प) के कारण व्याकुल रहता है और ज्ञानी सारे कार्यों को करता हुआ भी शान्त चित्त वाला ही होता है ।

**व्याख्या—**उपर्युक्त सूत्र का यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि ज्ञानी व्यक्ति कर्म (कार्य) नहीं करता । वह आलसी, कार्य न करने वाला, हो जाता है, मठों, मंदिरों और एकान्त (शान्त) स्थान पर जाकर बैठ जाता है, व्यक्तियों से दान, दक्षिणा, भेंट-पूजा लेता है, उनसे पैर दबवाता है, और कार्य से मुख को मोड़ लेता है । बल्कि वह सच्चा कर्तव्यनिष्ठ होकर फल की कामना किए बिना ही कार्य करता है । यही कार्य की सौन्दर्य (सुन्दरता) है । गीता में कहा है 'योग से ही कर्म में कुशलता आती है' धन के लिए कार्य करने वाले और स्वार्थ-सुख के लिए कार्य करने वाले कला, संगीत, साहित्य और अन्य कार्यों में कितने कुशल होते हैं, यह वर्तमान समय में समाज में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है । अष्टावक्र इनमें ज्ञानी और ज्ञान रहित व्यक्ति के कार्यों का अन्तर बताते हुए स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान रहित व्यक्ति इस तत्त्व बोध को सुनकर कार्य करना छोड़ दें तो उसे मुक्ति नहीं कहा जा सकता । उसे आलस्य ही कहा जाएगा, बाहर से कार्य छोड़ देने पर भी उसके अन्दर तो संकल्प-विकल्प उपस्थित रहते ही हैं, जब तक ये भाव शांत नहीं हो जाते, तब तक मुक्ति नहीं है । इसके विपरीत ज्ञानी व्यक्ति के सभी भाव शांत हो चुके हैं, इसलिए वह सभी सांसारिक कार्यों को करते हुए भी व्याकुल नहीं रहता है । यही कार्य (कर्म) की कुशलता है, जो योगी या ज्ञानी व्यक्ति को ही प्राप्त होती है । इसलिए

जगत् को त्यागना या कार्य न करना मुक्ति नहीं है। अज्ञान को समाप्त कर मन की शांत अवस्था को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है, जो आत्मबोध से ही संभव है।

### सूत्र-59

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।

सुखं वक्ति सुखं भुङ्क्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः ॥

शब्दार्थ—सुखम्—सुखपूर्वक, आस्ते—बैठता है, सुखम्—सुखपूर्वक, शेते—सोता है, सुखम्—सुखपूर्वक, आयातियाति च—आता-जाता है, और, सुखम्—सुखपूर्वक, वक्ति—बोलता है, सुखम्—सुखपूर्वक, भुङ्क्ते—खाता है, व्यवहारे—लोगों से व्यवहार करने में, अपि—भी, शान्तधीः—शान्त बुद्धि वाला रहता है।

प्रसंग—शांत बुद्धि वाला ज्ञानी व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है, सुखपूर्वक आता है और मर जाता है, सुखपूर्वक बोलता है और सुखपूर्वक भोजन करता है।

व्याख्या—व्यक्ति जो भी व्यवहार (आचरण) करता है वह उसके मन में हो रही व्याकुलता का ही प्रतिरूपण है। अशान्त मन वाला व्यक्ति बैठने, आने-जाने, बोलने तथा भोजन करने में भी बेचैनी का ही अनुभव करेगा। उसके चित्त में चल रही अशांत कल्पनाओं के कारण वह सुख-शांति के साथ न खा-पी सकता है, न सो सकता है, नींद उसे आती ही नहीं, वह शांति के साथ बैठ भी नहीं सकता। बैठे-बैठे ही हाथ-पैरों को हिलाना, खाना-खाते हुए और बातों में ध्यान का जाना, चलते हुए इधर-उधर देखना, पैर पटककर चलना, बोलते समय विचारों का तालमेल न होना, आदि अशान्ति के ही लक्षण हैं। व्यक्ति के बाहरी आचरण से, उसके नेत्र (आंखें) और चेहरे के भावों से ही उसके मन में चल रही हलचल को जाना जा सकता है। ऐसा व्यक्ति सुखी नहीं कहा जा सकता। अष्टावक्र बताते हैं कि व्यक्ति अंदर से शांत चित्त (मन) वाला है, वही आते-जाते, खाते-पीते,



उठते-बैठते हुए सुख की अनुभूति करता है। अशांत मन वाला व्यक्ति व्यवहार में भी सुख की अनुभूति नहीं करता।

### सूत्र-60

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिलोकवद्व्यवहारिणः ।

महाहृद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते ॥

शब्दार्थ—स्वभावात्—स्वभाव से, यस्य—जिसका, नैव—  
नहीं ही, आर्तिः—दुखी, लोकवत्—लोक की तरह, व्यवहारिणः—  
व्यवहार करने वाले, महाहृद—समुद्र, इव—की तरह, अक्षोभ्यः—  
बिना किसी क्षोभ के, गतक्लेशः—बिना क्लेश के, सुशोभते—  
शोभायमान होता है।

प्रसंग—जो ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी सामान्यजन की तरह व्यवहार नहीं करता और महासरोवर की तरह क्लेश रहित है, वही भोगता है।

व्याख्या—ज्ञानी और ज्ञान रहित व्यक्ति दोनों ही सृष्टि में रहते हुए सभी प्रकार के कार्य और व्यवहार करते हैं, लेकिन ज्ञान रहित व्यक्ति के सभी कार्य (कर्म) तथा व्यवहार अभिमान, कामनाएं और आशाओं के कारण होते हैं। जिनसे वह कष्ट को ही प्राप्त होता है, जबकि ज्ञानी व्यक्ति कार्य एवं व्यवहार करता हुआ भी उनसे अस्पर्शहीन ही रहता है, उन्हें खेल मानकर करता है, फल प्राप्त होने की कामनाएं उनके साथ न लगी होने से वह खेद को प्राप्त नहीं होता। कर्म में ही उसका आनन्द जुड़ा रहता है। जबकि ज्ञान रहित व्यक्ति का आनन्द फल की इच्छा से जुड़ा हुआ रहता है। अष्टावक्र बताते हैं कि ऐसा ज्ञानी महासागर के समान शांत रूप होते हुए शोभायमान होता है। एवं कष्ट रहित रहता है। ज्ञान रहित व्यक्ति में जितने भी आचरण (व्यवहार) हैं, उन सबका पालन करते हुए भी वह कष्ट में ही रहता है। लेकिन ज्ञानी व्यक्ति साधारण व्यक्ति की भांति आचरण नहीं करता हुआ भी क्षोभ एवं कष्टरहित होता है। अधिक व्यवहार कष्ट का ही कारण बनता है।



## सूत्र-61

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।  
 प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी ॥

शब्दार्थ—निवृत्तिः—निवृत्ति, अपि—भी, मूढस्यः—अज्ञानी की, प्रवृत्तिः—प्रवृत्ति, उपजायते—उत्पन्न करती है, प्रवृत्तिः—प्रवृत्ति, अपि—भी, धीरस्य—तत्त्वज्ञानी की, निवृत्ति फलदायिनी—निवृत्ति के फल को देने वाली है ।

प्रसंग—मूर्ख मनुष्य की निवृत्ति भी प्रवृत्ति रूप हो जाती है । किन्तु धीर पुरुष की प्रवृत्ति भी निवृत्ति के समान फल देती है ।

व्याख्या—इस सूत्र में अष्टावक्र प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि मूढ़ (मूर्ख) व्यक्ति चाहे सांसारिक पदार्थों को, घर-बार, पत्नी, बच्चों आदि का त्याग करके वन में चले जाने, वह चाहे हाथी, घोड़े, हीरे, जवाहरात, महल आदि का त्याग करके कोपीन धारण करके संन्यासी (योगी) बन जाए, चाहे वह अपने केश कटवाकर लोचन कर ले, लेकिन जब तक उसके अन्दर अज्ञान है, मूढ़ता है, अभिमान है, वासना है, प्रीति है, कुछ प्राप्त करने की इच्छा है, तब उसमें निवृत्ति नहीं, प्रवृत्ति ही है । उसने घर का त्याग करके आश्रम बना लिया, जगत् से त्याग करके मोक्ष को अपना लिया, जगत् की कामना छोड़कर स्वर्ग, मोक्ष, मुक्ति की नवीन कामना को ग्रहण कर लिया, इस कारण वह निवृत्त के समान दिखाई देता हुआ भी प्रवृत्त ही है । विश्व का उपद्रव छोड़कर आश्रम में नवीन उपद्रव शुरू कर दिया । विश्व में प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी तो आश्रम के द्वारा सम्मान प्राप्त का समाधान बना लिया । इसलिए ऐसा व्यक्ति निवृत्त नहीं है । इसके विपरीत जिस ज्ञानी व्यक्ति में बालक अभिमान, इन सबके प्रति आस्था नहीं है, वह विश्व में प्रवृत्त रहते हुए भी निवृत्ति का फल प्राप्त कर लेता है । प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की कसौटी विषय नहीं अन्दर की कामना है ।

## सूत्र-62

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते।

देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता॥

शब्दार्थ—परिग्रहेषु—घर आदि, वैराग्यम्—वैराग्य, प्रायः—  
अक्सर, मूढस्य—अविवेकी का, दृश्यते—दिखाई देता है, देहे—  
शरीर में, विगलिताशस्य—गल गई है, आशा जिसकी, क्व—कहां,  
रागः—राग (और), क्व—कहां, विरागता—वैराग्य की भावना।

प्रसंग—मूढ़ पुरुष का वैराग्य परिग्रह से देखा जाता है। लेकिन  
देह में गलित हो गई है जिसकी आशा, ऐसे ज्ञानी को कहां राग है ?  
कहां वैराग्य ?

व्याख्या—इसी क्रम में अष्टावक्र बताते हैं कि परिग्रह का त्याग  
वैराग्य नहीं है, लेकिन मूढ़ (मूर्ख) व्यक्ति धन, सम्पत्ति, घर-परिवार,  
राज्य, महल आदि परिग्रह के त्यागने को ही वैराग्य समझता है। वे  
किसी त्याग का मूल्यांकन परिग्रह से ही करते हैं, उसने कितना छोड़ा  
है। लेकिन यदि प्राप्त करने की इच्छा में कुछ छोड़ दिया जाता है तो न  
वह त्याग है न वैराग्य, हजार रुपये प्राप्त करने की आशा में यदि कोई  
व्यक्ति सौ रुपये रिश्वत में दे देता है या पांच रुपये मन्दिर में चढ़ा देता  
है या गरीबों को दान करता है। तो ऐसा कार्य न तो वह त्याग है न  
वैराग्य है, वह केवल स्वार्थ है, कामना एवं प्यास ही है। ज्यादा को  
प्राप्त करने के लिए थोड़े का त्याग तो (मूर्ख) व्यक्ति भी कर देता है  
तथा अधिकांश मूढ़ व्यक्ति ही ऐसा कार्य करते हैं। सोने (धातु) को  
दूना करने के लालच में बहुत से व्यक्ति स्वर्ण आभूषणों का त्याग कर  
देते हैं, यह मूर्खता ही है, त्याग और वैराग्य नहीं। राग और वैराग्य दोनों  
ही अज्ञान है। इसके विपरीत जो ज्ञानी व्यक्ति आत्मा में वास करने  
वाला है, उसकी समस्त सांसारिक इच्छाएं छूट जाती हैं, वह विश्व,  
उसकी सम्पत्ति, सुख आदि को तुच्छ नष्ट होने वाला और क्षणभंगुर  
मानता हुआ उनका त्याग कर देता है। वह न रागी है न विरागी, उसे

कुछ भी छोड़ना नहीं पड़ता, न वह परिग्रह को ही पाप समझता है। वह स्वाभाविक रूप में सुखपूर्वक रहता है। धन संपत्ति का होना सांसारिक होने का लक्षण नहीं है, न उसका त्याग कर देना ही वैराग्य होने का लक्षण है। यह मूढ़ों (मूर्खों) की दृष्टि है। ज्ञानी व्यक्ति की नहीं। राग और विराग दोनों वासना के कारण होते हैं व वासना के रहते न ज्ञान है न मुक्ति।

### सूत्र-63

भावनाभावनासक्त दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा।

भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी ॥

शब्दार्थ—भावनाभावनासक्त—भावना और अभावना में आसक्त रहती है, दृष्टि—दृष्टि, मूढस्य—अविवेकी की, सर्वदा—सदा ही, भाव्य भावनया—दृष्टि भावना से, सा—वह, तु—तो, स्वस्थस्य—तत्त्वज्ञानी की, अदृष्टिरूपिणी—दृश्य रहित होती है।

प्रसंग—मूर्ख पुरुष की दृष्टि सदा भावना और अभावना में लगी रहती है। जबकि स्वस्थ पुरुष की दृष्टि भावना-अभावना से युक्त रहकर भी उनके प्रति अदृष्टि रूप ही रहती है।

व्याख्या—इसी क्रम में अष्टावक्र आगे बताते हैं कि मूढ़ पुरुष की दृष्टि सदा भावना और अभावना में ही लगी रहती है। वह हर क्षण इसी चिन्ता में लगा रहता है कि कितना मेरे पास है, कितने की कमी है, जिसे प्राप्त करना है, किस प्रकार इस कमी को पूरा किया जा सकता है, किस छल-प्रपंच, झूठ से, चतुराई से, बेईमानी से इसकी पूर्ति की जा सकती है जो उसकी रक्षा, उसका प्रयोग किस प्रकार किया जा सकता है, उसका सारा विवेक, सारी चेतना इसी कर्म और पूर्ति के घेरे में ही केन्द्रित रहती है। इससे आगे के बारे में वह कुछ नहीं सोच पाता। वह चरखी का बैल बनकर वहीं चक्कर काटता रहता है जो कभी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाता व आनन्दपूर्वक इनका सेवन कर सकता है और न ही इनका त्याग कर सकता है। उसकी स्थिति

सांप और छछुन्दर के समान हो जाती है। लेकिन आत्मज्ञानी की दृष्टि (नजर) इन दोनों से ही स्वतंत्र रहती है। वह न.तो इसकी चिन्ता करता है कि उसके पास कितना है और कितने की आवश्यकता है। दोनों से नजर हटाकर जो है उसी में संतुष्ट रहता है, क्योंकि इस कमी (अभाव) और पूर्ति (भाव) का विचार ही इच्छा के कारण आता है। ज्ञानी कामनारहित हो जाने से इस सीमा से बाहर हो जाता है। वह भी भाव और अभावयुक्त तो रहता है, लेकिन उसकी नजर उन पर नहीं जाती है।

### सूत्र-64

सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः ।

न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि ॥

शब्दार्थ—सर्वारम्भेषु—सभी कार्यों के आरंभ करने में, निष्कामः—निष्काम भावना से, यः—जो, चरेत्—आचरण करता है, बालवत्—बच्चे की तरह, मुनि—मननशील, तत्त्वज्ञानी, न—नहीं, लेपः—लिसता, तस्य—उसकी, शुद्धस्य—शुद्ध की, क्रियमाणेऽपि—समस्त कार्यों को करते हुए की भी, कर्मणि—कर्म में।

प्रसंग—जो मुनि बालक के समान व्यवहार करता है एवं कामनारहित रूप से सभी कर्मों का आरम्भ करता है, उस शुद्ध स्वरूप को क्रिया मात्र कर्म (किए हुए कर्म) भी लिस नहीं करते हैं।

व्याख्या—कर्म (कार्य) बन्धन नहीं है, बन्धन है, कामना (इच्छा), प्रीति, अभिमान। ज्ञानी तथा ज्ञान रहित व्यक्ति दोनों ही कर्म (कार्य) तो करते ही हैं, करने पड़ते ही हैं, लेकिन दोनों की दृष्टि (नजर) में अन्तर होता है, ज्ञान रहित व्यक्ति के कर्म (कार्य) कर्त्तापन (करने वाले) के भाव से होते हैं। उनमें प्रीति कामना (इच्छा) होती है, फल मिलने की भी आशा होती है। जिससे वे बन्धन का कारण बनते हैं, जबकि ज्ञानी व्यक्ति के कार्य स्वभाव स्वरूप होते हैं, बिना



स्वार्थ वाले होते हैं, उनमें फल प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती, वे बच्चे के खेल रूप होते हैं। अतः वे बन्धन रहित हैं। ज्ञानी व्यक्ति के जुड़े (संचित) कार्य तो नष्ट हो जाते हैं, पहले कर्मों (कार्यों) को वह भोग लेता है तथा इच्छा रहित होकर इस जन्म में जो कार्य करता है वे बन्धन नहीं बनते, न उनका परिणाम ही भोगना पड़ता है। ज्ञानी को परम का सुख मिल जाता है इसलिए वह कार्यों द्वारा प्राप्त तुच्छ सुख की कामना से रहित होकर कार्य करता है। उसके सारे कार्य स्वभाव से और परमात्मा की इच्छा से होते हैं। वह स्वयं को साधन बना देता है। स्वयं को कर्त्ता (करने वाला) नहीं मानता।

### सूत्र-65

स एव धन्यः आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः ।

पश्यञ्छण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्अश्नन्निस्तर्षमानसः ॥

शब्दार्थ—स—वह, एव—ही, धन्यः—धन्य है, आत्मज्ञः—आत्मतत्त्व को जानने वाला, सर्वभावेषु—समस्त भावों में, यः—जो, समः—एकरस है, पश्यन्—देखता हुआ, शृण्वन्—सुनता हुआ, स्पर्शम्—स्पर्श करता हुआ, जिघ्रन्—सूँघता हुआ, अश्नन्—खाता हुआ, निस्तर्षमानसः—तृष्णा रहित मन वाला।

प्रसंग—वही आत्मज्ञानी धन्य है जो मन का निस्तरण कर गया है और जो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, सब भावों में एक रस है।

व्याख्या—आत्मज्ञान में दो ही मुख्य रुकावट हैं, शरीर और मन। ज्ञान रहित व्यक्ति की सारी क्रियाएं इन दोनों के द्वारा ही होती हैं। ज्ञानी इन दोनों से अलग तीसरी शक्ति को भी जान जाता है। जो इन सबको देखने वाला है, वही सारे कार्यों का आधार और ऊर्जा (विद्युत) है, वही सत्य एवं शाश्वत है। अष्टावक्र बताते हैं कि जिसने इस मन का निस्तरण (मन की कामनाओं) को शांत कर लिया है, इस सबसे बड़ी बाधा को काटकर गया है, जो इस मन रूपी नदी से पार हो गया

है, वही आत्मज्ञान रूपी सुख को प्राप्त कर सकता है। ऐसा आत्म-ज्ञानी धन्य है। मन के सभी विकारों से ऊपर उठकर जिसने उस एक आत्मतत्त्व की अनुभूति कर ली है, वह ज्ञानी इन्द्रियों के सभी कार्यों को करता हुआ भी (देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूंघना, खाना) आदि उनके सब कार्यों से एक रस रहता है। ये कार्य स्वभावतः एवं कामना रहित होते हैं।

### सूत्र-66

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम्।

आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा॥

शब्दार्थ—क्व—कहां, संसार—संसार, क्व—कहां, च—और, आभासः—उसकी प्रतीति, क्व—कहां, साध्यम्—साध्य, क्व—कहां, च—और, साधनम्—साधन, आकाशस्य—आकाश का, एव—ही, धीरस्य—तत्त्वज्ञानी का, निर्विकल्पस्य—संकल्प-विकल्पों से परे, सर्वदा—सदा।

प्रसंग—सदैव आकाश के समान निर्विकल्प ज्ञानी को कहां संसार? कहां आभास है? कहां साध्य है? कहां साधन है?

व्याख्या—यह संसार (विश्व) मन का ही प्रतिबिम्ब है। जैसा मन है वैसा ही जगत् दिखाई देता है। जगत् में राग-द्वेष, हानि-लाभ, शोक-खुश, सुख-दुःख जो भी दिखाई देता है, सब मन (चित्त) का ही खेल है। इसके उस पार हैं चेतना, अस्तित्व, आत्मा जो मन की वासनाएं शांत करने पर प्राप्त होती हैं। यह आत्मा आकाश के समान स्वच्छ, निर्मल, दोष रहित और निर्विकल्प है, लेकिन वह मनरूपी विचारों के बादलों से घिरा होने के कारण दिखाई नहीं देता, लेकिन वही संसार का आधार है। जिस ज्ञानी के मन से कामनारूपी जाल टूट गया, उसका जगत् विलीन हो गया, उसके सन्देह नष्ट हो गए, वह सत्य को प्राप्त हो गया, वह साक्षी एवं देखने वाला हो गया, उसे वह सब प्राप्त हो गया जो कि उसका परमसुख था। ऐसे ज्ञानी व्यक्ति के

लिए न कोई साधना रह जाती है, न साधन, न स्वर्ग, न मोक्ष, न आत्मा, परमात्मा। जहां पहुंचना था पहुंच गया, छोटे को छोड़कर विशाल हो गया, स्वतन्त्र हो गया, यही परम उपलब्धि थी, जिसे प्राप्त कर लिया, बिना विकल्प वाला रह गया। यही शान की अन्तिम स्थिति है।

### सूत्र-67

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।

अकृत्रिमौऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते ॥

शब्दार्थ—स—वह, जयति—विजयी होता है, अर्थसंन्यासी—प्रयोजन के प्रति वैरागी, पूर्णस्वरसविग्रहः—पूर्णरूप अपने आनन्द की साकारमूर्ति ज्ञानी, अकृत्रिमः—सहजरूप से, अनवच्छिन्ने—अपने पूर्ण स्वरूप में, समाधिः—समाधि, यस्य—जिसकी, वर्तते—वर्तमान है।

प्रसंग—वही संन्यासी जप को प्राप्त होता है जो पूर्णानन्द स्वरूप है तथा जिसकी सहज समाधि (अकृत्रिम) अनवच्छिन्न रूप से (निरंतर) विद्यमान रहती है।

व्याख्या—संन्यास है प्रारम्भ और समाधि है अन्त। जिस प्रकार विधि के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी विद्यालय में प्रवेश लेता है तो उसे विद्यालय में अनुशासन, समय की पाबन्दी, नियमित अध्ययन, अच्छा आचरण आदि का पालन करना पड़ता है तथा उसे एक विशेष प्रकार के वस्त्र पहनने को भी कहा जाता है। इसी प्रकार अध्यात्म जगत् में आत्म-ज्ञान प्राप्ति के जिज्ञासु व्यक्ति के विधि के अनुसार शिक्षा के लिए संन्यास शुरूआत है और इसकी समाप्ति होती है, समाधि में जहां संन्यासी है, आत्म-ज्ञान को प्राप्त कर स्वयं पूर्णानन्द स्वरूप हो जाता है। संन्यास-अवस्था में उसे विविध प्रकार के नियम, संयम एवं अनुशासन से गुजरना पड़ता है, लेकिन आत्म-ज्ञान हो जाने के बाद व्यक्ति को इनकी आवश्यकता नहीं होती। बाहरी नियम, संयम आदि शरीर और मन को नियंत्रण करने के लिए जरूरी हैं।

लेकिन ज्ञान-प्राप्ति के बाद ये स्वतः नियंत्रित हो जाते हैं। इन्हें दबाव पूर्वक रोकना नहीं पड़ता। समाधि की स्थिति में व्यक्ति निरंतर अपनी आत्मा में वास करता है जो परम आनन्द स्वरूप है। यही योगी की सहज (अकृत्रिम) समाधि है। कुछ हठयोगी श्वास रोकने का अभ्यास कई दिनों तक कर लेते हैं, जिससे वे जमीन के अन्दर या बाहर श्वास रोककर कई दिनों तक रह जाते हैं। लेकिन ऐसा करने से भी उनका आत्मा से सम्बन्ध नहीं होता, इसलिए यह समाधि भी बनावटी ही हो जाती है। ऐसी समाधि केवल दिखाने या प्रदर्शन करने के लिए ही है। आत्मज्ञान से इसका कोई नाता नहीं है, इसीलिए अष्टावक्र कहते हैं कि जो व्यक्ति सरल समाधि को प्राप्त कर लगातार परम आनंद (आत्मा) का सुख प्राप्त करते हुए उसमें वास करता है। वही ज्ञानी व्यक्ति जप को प्राप्त होता है। यही उसकी पराकाष्ठा है।

### सूत्र-68

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः।

भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी सदा सर्वत्र नीरसः॥

शब्दार्थ—बहुनात्रकिमुक्तेन—यहां, इस संदर्भ में ज्यादा क्या कहना, ज्ञाततत्त्वः—तत्त्व को जानने वाला, महाशयः—महापुरुष, भोगमोक्ष—भोग और मोक्ष, निराकाङ्क्षी—आकांक्षा न करने वाला, सदा—हमेशा, सर्वत्र—सभी जगह, नीरसः—राग-द्वेष आदि से निरत रहता है।

प्रसंग—यहां बहुत कहने से क्या प्रयोजन है? तत्त्व-ज्ञानी महाशय भोग और मोक्ष दोनों में निराकाङ्क्षी, सदा और सर्वत्र राग रहित रहता है।

व्याख्या—इसी क्रम में अष्टावक्र बताते हैं कि जो व्यक्ति इस तत्त्व ज्ञान को उपलब्ध हो गया उसे सब कुछ प्राप्त हो गया। जिसे प्राप्त करना था, इसलिए वह भोग और मोक्ष दोनों के प्रति बिना इच्छा वाला हो गया तथा हमेशा और सब जगह राग रहित हो गया। इस अवस्था के बाद उसकी इच्छाएं, वासनाएं, राग-विराग आदि सभी प्रकार के मन



के विकार पूर्ण समाप्त होकर एक ही आत्म तत्त्व में मिल जाते हैं। जिस आत्म तत्त्व से आरम्भ हुआ था, उसी आत्म तत्त्व में इनका अंत हो जाता है। जीवन-चक्र का यही आरम्भ एवं यही अन्त है। यही पूर्ण अवस्था है। जिस प्रकार इस मानसिक संसार का आरम्भ और अन्त इसी ब्रह्म तत्त्व से है। उसी प्रकार इस नाशवान संसार का आरम्भ और अन्त इसी ब्रह्म तत्त्व से है। दोनों ही प्रकार की क्रियाओं का यही मूल आधार है। अभिमान के कारण जिन विविधताओं का एहसास हो रहा है, उसका समापन होकर सर्वत्र एक तत्त्व की अनुभूति होना ही परम आनन्द की उपलब्धि है। यही अध्यात्म की स्थिति है।

### सूत्र-69

महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।

विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ॥

शब्दार्थ—महदादि—महत् आदि, जगत्—संसार, द्वैतम्—द्वैत रूप, नाममात्र—नाममात्र, विजृम्भितम्—फैला हुआ है, विहाय—छोड़कर, शुद्ध बोधस्य—शुद्ध, ज्ञानरूप के, किम्—क्या, कृत्यम्—करने योग्य, अवशिष्यते—शेष रहता है।

प्रसंग—महत्तत्त्व आदि जो द्वैत-जगत् है, वह नाम मात्र को ही भिन्न है। उसका त्याग कर देने के बाद शुद्ध बोध वाले का कौन-सा कार्य शेष रह जाता है।

व्याख्या—इस सारे संसार में जो विविधताएं दिखाई देती हैं वे सब रूप, रंग, गुण आदि के कारण हैं जो सन्देहवश अलग प्रतीत हो रही हैं, यह विविधता अज्ञान मात्र है जो द्वैत का आधार है। एक ही चेतन ब्रह्म विविध क्रिया रूपों में प्रकट होता है, जिसे महत् अभिमान, पंचतन्त्रमात्रा, पंच महाभूत कहते हैं। ये नाम मात्र को ही अलग हैं। अन्यथा ये ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। इनके अलग-अलग नाम होने से ही विविधता प्रतीत होती है, अन्यथा ये अलग नहीं हैं। बाहर से अलग दिखाई देने पर भी अन्दर से जुड़े हुए हैं, अभिन्न हैं, इस सन्देह या

अज्ञान के कारण ही विविध प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं एवं इसी अज्ञान को नष्ट करने के लिए विविध प्रकार की साधना योग, भक्ति, कर्म, ध्यान आदि करने पड़ते हैं लेकिन अष्टावक्र कहते हैं कि जिसे आत्मज्ञान हो गया, जिस व्यक्ति ने उस परम तत्त्व को जान लिया, उसका यह सम्पूर्ण द्वैत संसार छूट जाता है, और ऐसा ज्ञानी व्यक्ति ही उस अध्यात्म आत्मा में स्थित हो जाता है। अभिमान एवं वासना के कारण, जगत् में जितने सम्बन्ध बने हुए थे वे सब झूठे सिद्ध हो जाने से छूट जाते हैं, इसके बाद ज्ञानी का कोई कार्य शेष नहीं रह जाता। ज्ञानी व्यक्ति न तो कुछ छोड़ता है और न ही प्राप्त करता है। केवल अज्ञान या सन्देह छूट जाता है और सत्य एवं ज्ञान को प्राप्त हो जाता है। ज्ञान रहित व्यक्ति सन्देह में जीवन-यापन करता है और अज्ञान ही उसका जगत् है। ज्ञानी व्यक्ति और ज्ञान रहित व्यक्ति में यही अन्तर है।

### सूत्र-70

भ्रमभूतमिदं सर्वं किञ्चिन्नास्तीति निश्चयी।

अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति॥

शब्दार्थ—भ्रमभूतम्—भ्रम से उत्पन्न, भ्रमरूप, इदम्—यह, सर्वम्—सब कुछ, किञ्चित्—कुछ भी, नास्ति—नहीं है, निश्चयी—निश्चय करने वाला, अलक्ष्य स्फुरण—जिसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति हो चुकी है, ऐसा चैतन्य सत्ता का अनुभव करने वाला, शुद्धः—शुद्धस्वरूप, स्वभावेन—सहजरूप से, एव—ही, शाम्यति—शान्ति को प्राप्त होता है।

प्रसंग—यह समस्त भ्रम रूप जगत् प्रपंच और कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय पूर्वक जानकर अलक्ष्य (आत्मा) की स्फुरण वाला शुद्ध पुरुष स्वभाव से ही शान्त होता है।

व्याख्या—आत्म-ज्ञान को प्राप्त हो जाने के पश्चात् व्यक्ति का स्वभाव ही शान्त हो जाता है। उसे शांति के लिए कोई प्रयास नहीं

करना पड़ता, कोई जप, तपस्या, नियम, हठयोग, शीर्षासन, ध्यान कुछ भी करने की उपयोगिता नहीं रह जाती, क्योंकि ज्ञान की अवस्था में उसे यह सारा संसार प्रपंच सन्देह रूप ज्ञात होने लगता है, जैसे यह कुछ भी नहीं है। जगत् का यह समस्त खेल इन्द्रियों, अभिमान और वासना के कारण अलग प्रकार का दिखाई देता है। आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने की स्थिति में ही इसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। वरना नहीं। इसलिए व्यक्ति के द्वारा किए जाने वाले कार्य अज्ञानता के कारण उन्हें और बढ़ा देते हैं, मन में हजारों प्रकार की वासनाएं हैं, जिनके कारण यह संसार वैसा ही दिखाई देता है, आंख पर जैसा चश्मा लगा होगा, वैसा ही यह जगत् दिखाई देगा, इसका वास्तविक स्वरूप अज्ञान के कारण कभी दिखाई नहीं दे सकता। इसलिए इसे प्रपंच, माया, सन्देह, झूठा आदि कहा गया है, ज्ञान प्राप्ति पर इसका सत्य रूप प्रकट होता है और सारे सन्देह नष्ट हो जाते हैं, ऐसे व्यक्ति ही शान्त मन वाले होते हैं। यह शान्ति उसकी स्वभाविक होती है।

## सूत्र-71

शुद्धस्फुरणरूपस्य

दृश्यभावमपश्यतः ।

क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा ॥

शब्दार्थ—शुद्ध स्फुरण रूपस्य—शुद्ध स्फुरण रूप मात्र का, दृश्य भावम्—दृश्य रूप जगत् को, अपश्यतः—न देखता हुआ, क्व—कहां, विधि—विधि, क्व—कहां, च—और, वैराग्यम्—वैराग्य, क्व—कहां, त्यागः—त्याग, क्व—कहां, शमोऽपि—शांति भी, वा—अथवा।

प्रसंग—“दृश्य भाव को नहीं देखते हुए शुद्ध स्फुरण रूप (आत्मा) का अनुभव करने वाले (ज्ञानी) को कहां विधि है ? और कहां वैराग्य है ? कहां त्याग है ? और कहां शांति है ?”

व्याख्या—परमात्मा का कोई कारण नहीं है। वही सबका कारण है, उसे किसी ने बनाया नहीं, वही सबको बनाने वाला है, वह मूल

बोध है। विज्ञान संसार में 196 तत्त्व मानता है, अध्यात्म उससे भी आगे की बात कहता है कि वह मूल तत्त्व एक ही है, 106 तत्त्व भी तत्त्व नहीं हैं, यौगिक ही है, उसी एक तत्त्व को अध्यात्म ने ब्रह्म नाम दिया है, सारा संसार उसी की अभिव्यक्ति है, उसी का फैलाव मात्र है यह जगत् बनाया गया। इसे बनाने का न कोई कारण है न उद्देश्य है, मूर्ख व्यक्ति ही इस संसार को बनाने का कारण और लक्ष्य खोजते हैं। संसार उस शक्ति का सरल स्फुरण है जो अपने आप हो रहा है, किसी निश्चित लक्ष्य से नहीं किया जा रहा है इसलिए इसे परमेश्वर की लीला कहा गया है चिड़ियां चहचहाती हैं, मोर नाचते हैं, पक्षी उड़ते हैं, बच्चा उछलता-कूदता है, पुष्प खिलते हैं, झरने बहते हैं, व्यक्ति कामवासना में आसक्त होता है आदि सब उस चेतन का सरल स्फुरण मात्र है, इसके पीछे परमात्मा की न कोई इच्छा है न लक्ष्य, लेकिन मूर्ख व्यक्तियों में इन सबका लक्ष्य निश्चित कर दिया, वे कहते हैं कि परमात्मा ने जगत् इसलिए बनाया कि तुम मुक्त हो सको, तुम अपने पापों का प्रायश्चित्त कर सको, तुम ज्ञान को प्राप्त हो सको, ये सब चित्त रत दिमाग की मूढ़तापूर्ण दृष्टि है, अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसी मूढ़तापूर्ण दृष्टि ज्ञान रहित व्यक्ति की होती है, इसलिए वह अपने को मुक्त करने के लिए अनेक प्रकार के ढंग अपनाता है। संसार से वैराग्य को ले लेता है, घर-त्याग कर वन में चला जाता है, घर परिवार धन-सम्पत्ति सबका त्याग कर देता है। वह ऐसा विचार करता है कि यहां छोड़ देने से उसे स्वर्ग में मिल जाएंगे, कुछ व्यक्ति मृत्यु के समय दान करते हैं। जिससे ये वस्तुएं आत्मा के साथ-साथ चलती रहें, कुछ व्यक्ति अधिक बुद्धिमान होते हैं। वे इस सामग्री को मृत्यु से पहले ही भेज देते हैं, जिससे मरने पर आगे पहले से ही तैयार मिले। ये सब मूढ़ताएं हैं। लेकिन ज्ञानी व्यक्ति इन दिखाई देने वाले भावों को नहीं देखता है। वह उस शुद्ध स्फुरण रूप आत्मा को ही देखता है, उसकी अनुभूति करता है, ऐसे ज्ञानी व्यक्ति के लिए न कोई विधि शेष रह जाती है न वैराग्य की आवश्यकता है, न त्याग की।



## सूत्र-72

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः ।

क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादता ॥

शब्दार्थ—स्फुरतः—ज्ञानी को, अनंतरूपेणः—अनंत रूप से, प्रकृतिम्—माया को, च—और, न—नहीं, पश्यतः—देखते हुए, क्वः—कहां, बंध—बंधन, क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, मोक्षः—मुक्ति, क्वः—कहां, हर्षः—प्रसन्नता, क्वः—कहां, विषादकता—शोक का भाव ।

प्रसंग—“और अनन्त रूपों में स्फुरित प्रकृत (माया) को नहीं देखते हुए ज्ञानी को कहां बन्ध और कहां मोक्ष है ? कहां हर्ष है ? कहां शोक है ?”

व्याख्या—यह संसार आत्मा का स्फुरण मात्र है जो अनेक रूपों में स्फुरित हुई है, संसार में जो अनेक रूप दिखाई देते हैं, वे सब प्रकृति के द्वारा जन्मे हैं, माया रूप हैं, यह स्फुरण शक्ति का प्रदर्शन है, चेतन तत्त्व आत्मा सूक्ष्म रूप से इसमें बसी हुई है, ज्ञान रहित व्यक्ति इस स्फुर प्रकृति को ही देखता है, वह इसी में लालायित होता है, वह इसी को सब कुछ मानता है। यही उसका बन्धन है, लेकिन ज्ञानी व्यक्ति इस नाशवान प्रकृति को माया रूप मानकर केवल उसके कारण स्वरूप आत्मा में विश्राम कर स्थित रहता है। इसलिए उसके लिए यह प्राकृतिक बन्धन नहीं हो सकती, जब बन्धन ही नहीं तो मोक्ष किसका ? अतः ज्ञानी व्यक्ति बन्धन और मोक्ष का विचार भी नहीं करता, सारे सुख और दुःख प्रकृति द्वारा जन्मे हैं, संघर्ष के कारण हैं। स्वयं को मन और शरीर समझने के कारण हैं, आत्म तत्त्व को प्राप्त हुए ज्ञानी को न दुःख है न सुख है, यह परम आनन्द की स्थिति है, जिसमें वह स्थित रहता है।

## सूत्र-73

बुद्धिपर्यन्तसंसारो मायामत्रं विवर्त्तते ।

निर्ममो निरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः ॥

शब्दार्थ—बुद्धि पर्यन्त संसारे—जहां तक बुद्धि की पहुंच है, वहां तक के संसार में, मायामात्रम्—मायामात्र को, विवर्त्तते—कल्पित रहता है, निर्ममः—ममतारहित, निरहङ्कारः—निरभिमानी, निष्कामः—कामनारहित, शोभते—शोभायमान होता है, बुधः—तत्त्ववेत्ता, प्रबुद्ध ।

प्रसंग—“बुद्धिपर्यन्त संसार में जहां माया ही माया भासती है, वहां ममतारहित, अहंकार रहित और कामनारहित ज्ञानी ही शोभता है ।”

व्याख्या—विश्व में क्या है ? मोह है, ममता है, राग है, द्वेष है, ईर्ष्या है, घृणा है, प्रेम है, कामना है, तृष्णा है, अहंकार है, काम है, लोभ है आदि यही सब कुछ है, इसी का नाम है संसार । लेकिन यह सब प्रकृति द्वारा जन्मे हैं, संसार को सत्य मानने के कारण है, जो सन्देह है, माया है, उसी अज्ञान के कारण व्यक्ति विभिन्न कष्टों को सहन करता है । बुद्धि से ही ज्ञान पैदा होता है, यह मन को तृप्त करने के लिए ही कार्य करती है तथा अच्छे-बुरे, सत्य-असत्य का अन्तर करती है, यह मन की ही चाटुकार सेवक है, इसलिए अष्टावक्र कहते हैं कि बुद्धि प्रयत्न जगत् में माया है, इसमें वास्तविक कहीं भी नहीं तृप्त केवल आत्मा है, जिस ज्ञानी ने आत्मा को जान लिया, वह मानता रहित, अभिमान रहित और कामना रहित हो जाता है, इस वासना में संसार फिर उसे प्रभावित नहीं कर सकता, ऐसा ज्ञानी ही शोभायमान होता है । ज्ञान रहित व्यक्ति इस संसार में तुच्छ, ममता, अभिमान और कामना में ही जीता है, इसलिए ऐसा तुच्छ विचार शोभा नहीं देता ।

### सूत्र-74

अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः ।

क्व विद्या क्व च वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा ॥

शब्दार्थ—अक्षयम्—जिसका क्षय न होता हो, जिस अविनाशी को, गतसंतापम्—सभी प्रकार संतापों से मुक्त, आत्मानम्—आत्मा

को (स्वयं को), पश्यतः—देखते हैं, मुनेः—मुनि, क्व—कहां, विद्या—ज्ञान, क्व—कहां, च—और, वा—अथवा, विश्वम्—जगत्, क्व—कहां, देहः—शरीर, अहम्—मैं, ममेति—मेरा ऐसा, वा—अथवा।

**प्रसंग**—अविनाशी और सन्तापरहित आत्मा को देखने वाले मुनि को कहां विद्या? और कहां विश्व (अविद्या)? कहां देह? और कहां अहंता ममता है?

**व्याख्या**—ज्ञान रहित व्यक्तियों को बहुत-सी मान्यताएं हैं, अनेक विचार और धारणाएं होती हैं। उनके भाव सत्य पर नहीं, दुराग्रह पर आधारित हैं। वे वास्तविकता को जानना नहीं चाहते, बल्कि जिसे वे मानते हैं, उसी को वास्तविक सिद्ध करना चाहते हैं। इसी से बढ़ती है, साम्प्रदायिकता, विरोध, वैमनस्य, हिंसा, घृणा आदि। लेकिन ज्ञानी व्यक्ति इस सत्य को जानता है। वह दुराग्रही नहीं होता। इसीलिए सभी ज्ञानी व्यक्ति एक ही मत को स्वीकार करते हैं। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई का अन्तर उनमें नहीं होता। ऐसे ज्ञानी व्यक्ति कहते हैं कि परमात्मा तुमसे अलग नहीं है। वह कहीं आकाश में बैठा हुआ अपना शासन नहीं कर रहा। न वह स्वर्ग में है, न मंदिर, न मस्जिद और न गिरजाघर में। वह बाहर भी नहीं है, जो खोजने से मिल जाए। वह कोई पदार्थ भी नहीं है कि आंखों से दिखाई न दे। ऐसी समस्त धारणाएं मूर्खतापूर्ण हैं, इनका कोई औचित्य नहीं है। जिस व्यक्ति को आत्म-ज्ञान नहीं हुआ, जो मानसिक स्तर से ऊपर नहीं उठ पाए हैं, वे ही ऐसी बातें करते हैं। लेकिन जिस व्यक्ति ने आत्मज्ञान का अनुभव कर लिया है, वे कहते हैं कि ये परमात्मा ऊर्जा का सागर हैं। सारा संसार इसी ऊर्जा की अभिव्यक्ति मात्र है, सब इसी ऊर्जा का खेल है। शरीरस्थ आत्मा वही ऊर्जा है, जिसे परमात्मा कहा जाता है। इससे अलग कोई परमात्मा नहीं है। जिस ज्ञानी ने इस अविनाशी, कष्ट रहित आत्मा को जान लिया, उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया। उसके लिए विद्या, अविद्या, ज्ञान तथा विश्व, शरीर तथा अहंता-ममता आदि के लिए कोई स्थान

नहीं है। ये सब अज्ञान के द्वारा जन्मे हैं। जो ज्ञान रहित व्यक्ति को ही प्रभावित करते हैं। ज्ञानी केवल आत्मा को जानने वाला होता है, जिससे अज्ञान जनित ये सारे सन्देह समाप्त हो जाते हैं।

### सूत्र-75

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।

मनोरथान्प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोति तत्क्षणात्॥

शब्दार्थ—निरोधादीनि—चित्तवृत्ति के निरोध आदि, कर्माणि—कर्मों को, जहाति—छोड़ता है, जडधीः—जड़ बुद्धि वाला, यदि—यदि, मनोरथान्—कामनाओं को, प्रलापन्—तरह-तरह की बातें, प्रलाप करने को, च—और, कर्तुम्—करने को, आप्नोति—प्रवृत्त होता है, तत्क्षणात्—उसी क्षण में।

प्रसंग—यदि जड़-बुद्धि मनुष्य निरोधादि कर्मों को छोड़ता भी है तो वह मनोरथों और प्रलापों को पूरा करने में प्रवृत्त हो जाता है।

व्याख्या—व्यक्ति के सभी कर्म, व्यवहार और आचरण मन की कामनाओं का प्रतिरूप मात्र हैं। जैसी मन की आदतें होंगी, जैसा उसका मन होगा, वैसे ही उसके कार्य (कर्म) और व्यवहार होंगे। आचरण एवं कर्म (कार्य) परिवर्तित होने से मन नहीं बदलता। पतंजलि कहते हैं कि 'चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है' लेकिन अष्टावक्र कहते हैं कि इस नियंत्रण के लिए जो कार्य किए जाते हैं, उनसे मन पर नियंत्रण नहीं होता, बल्कि वे कर्म (कार्य) भी चित्त (मन) की व्याकुलता को और बढ़ा देते हैं। क्योंकि प्रयासों से किए गए नियंत्रण के कार्यों में वासना, कामना जुड़ी होती है फिर नियंत्रण कैसा। अतः मन के नियंत्रण के लिए किए गए सभी कार्यों का और आचरण का त्याग करना चाहिए। कर्म वासना से प्रेरित होते हैं, इस कारण ये भी बन्धन बन जाते हैं। अष्टावक्र का सारा उपदेश यही है कि जो कुछ प्राप्त होगा, वह ज्ञान से ही होगा। कर्म (कार्य) से नहीं, क्योंकि कार्य में अभिमान, वासना, फल की आकांक्षा होगी, जिससे मन पर नियंत्रण



नहीं हो सकता। अतः सारे नियंत्रण के कार्य जैसे ध्यान और समाधि को भी छोड़ देना चाहिए, तभी उपलब्धि होगी, लेकिन यदि कोई मूर्ख या जड़-बुद्धि व्यक्ति इन कार्यों को छोड़ता भी है तो भी उसके अन्दर मनोकामनाएं होती हैं, कामनाएं, अकांक्षाएं होती हैं। अभिमान होता है, जिनको पूरा करने में वह प्रवृत्त हो जाता है, जिससे वह आत्मज्ञान से वंचित रहता है। इसका अर्थ यही है कि मन की पूर्ण शान्त अवस्था में ही आत्मज्ञान संभव है। नियंत्रण आदि कार्यों को करने या उन्हें लक्ष्य पूर्ति हेतु त्यागने से नहीं होता। आचरण एवं कार्यों को (कर्मों) करना या छोड़ना महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण है मूर्खता को त्यागना, अज्ञान या सन्देह (भ्रान्ति) को छोड़ना।

### सूत्र-76

मन्दःश्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम्।

निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः ॥

शब्दार्थ—मन्दः—मन्दबुद्धि, श्रुत्वापि—सुनकर भी, तत्—उस, वस्तु—आत्म तत्त्व, न—नहीं, जहाति—छोड़ता है, विमूढताम्—मोह से मुक्त बुद्धि को, निर्विकल्पः—संकल्प-विकल्प से रहित, बहिः—बाहर से, यत्नात्—प्रयत्न से, अन्तर—भीतर से, विषय लालसः—विषयों की लालसा वाला होता है।

प्रसंग—मन्द बुद्धि उस तत्त्व को सुनकर भी मूढ़ता को नहीं छोड़ा है। वह बाह्य प्रयत्न में निर्विकल्प होकर मन में विषयों की लालसा वाला होता है।

व्याख्या—व्यक्ति में अनेक प्रकार की मूढ़ताएं हैं। अभिमान, वासना, कामना, फल की इच्छा, आदि मूढ़ताएं ही हैं। इनके उपस्थित रहते जो भी कार्य आचरण एवं व्यवहार आदि होंगे, सभी मूढ़तापूर्ण होंगे। जनक कोमल चित्त वाले होने से अष्टावक्र का ज्ञान का उपदेश सुनकर ही उपलब्ध हो गए, लेकिन मन्द बुद्धि वाले हैं, वे ऐसा तत्त्व ज्ञान सुनकर भी अन्दर अभिमान, कामना, वासना, इच्छाओं आदि को

नहीं छोड़ते हैं, जिसके कारण वे भी आत्मज्ञान से वंचित नहीं रहते हैं। ऐसा मूढ़ (मूर्ख) बाहरी प्रयासों में निर्विकल्प चाहे हो जाए, चाहे वह ज्ञानी के समान सारे कार्य करने लग जाए, वासना, अभिमान, कामना आदि को त्यागने के सारे नाटक कर ले तो भी वह मन में विषयों की कामना वाला होता है, क्योंकि मन्द बुद्धि है। कम बुद्धि वाले आचरण को ग्रहण और त्याग से ही समझ सकते हैं। अन्दर के गूढ़ तत्त्व को वे नहीं समझ सकते, इसलिए वे कभी उपलब्ध नहीं हो सकते।

### सूत्र-77

ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत्।

नाप्नोऽत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन॥

शब्दार्थ—ज्ञानात्—ज्ञान से, गलित कर्मा—गल गए हैं कर्म जिनके ऐसे महापुरुष, यः—जो, लोकदृष्ट्या—लोकदृष्टि से, अपि—भी, कर्मकृत्—कर्म करने वाले, न—नहीं, आप्नोति—प्राप्त करते हैं, अवसरम्—अवसर, कर्तुम्—करने को, वक्तुम्—बोलने को, एव—ही, न—नहीं, किञ्चन्—कुछ भी।

प्रसंग—ज्ञान से नष्ट हुआ है, कर्म जिसका, ऐसा ज्ञानी लोक-दृष्टि में कर्म करने वाला भी है, लेकिन वह न कुछ करने का अवसर पाता है न कहने का ही।

व्याख्या—कर्म तो ज्ञानी भी करता है व अज्ञानी भी लेकिन दोनों के कार्य में बाहरी अन्तर न होते हुए भी अन्दर बड़ा अन्तर होता है। ज्ञानी के कार्य (कर्म) स्वभाव से होते हैं, लोक कल्याणकारी होते हैं आवश्यक एवं नैमित्तिक कार्य होते हैं, वह कार्य को ईश्वर की इच्छा समझ कर करता है। उनके पीछे वासना, फल की इच्छा, अभिमान आदि नहीं होते, जबकि ज्ञान रहित व्यक्ति के पीछे फल-प्राप्ति की कामना रहती है, अभिमान रहता है। ज्ञान रहित व्यक्ति यदि लोक-कल्याणकारी कार्य करता भी है तो उसके पीछे सम्मान-प्राप्ति, यश-प्राप्ति, स्वर्ग-प्राप्ति आदि की कामना रहती है। ज्ञान रहित व्यक्ति ऐसे

कार्यों का अवसर खोजता रहता है कि कहीं उसे सेवा करने का मौका मिल जाए तो उसके लिए स्वर्ग के द्वार खुल जाएं। उसको लोक हित, सेवा, समाज सेवा, दान, पुण्य, धर्म आदि दूसरों की चिन्ता नहीं है, चिन्ता मात्र स्वयं के स्वर्ग प्राप्ति की है, जिसके लिए वह अवसर की तलाश करता है। अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञान से कार्य समाप्त हो जाते हैं, फिर ज्ञानी व्यक्ति को कार्य करने की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन ऐसा ज्ञानी भी लोकदृष्टि से कार्य करता है, जो लोक हित में है। जिनको करना जरूरी है, वह कर लेता है। वह स्वर्ग-प्राप्ति के विचार से या फल की इच्छा से कोई कार्य नहीं करता, न ऐसे कार्यों को खोजता है, जिसका फल मिले। न वह ऐसा ही कहता है कि मैंने ऐसा किया है, क्योंकि उसमें अभिमान नहीं होता। यही कार्य की कुशलता है, जिसे केवल ज्ञानी ही उपलब्ध होता है।

### सूत्र-78

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किञ्चन।

निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा ॥

शब्दार्थ—क्व—कहां, तमः—अंधकार, क्वः—कहां, प्रकाशः—प्रकाश, वा—अथवा, हानम्—त्याग, क्वः—कहां, च—और, न—नहीं, किञ्चन्—कुछ नहीं, निर्विकारस्य—विकार रहित का, धीरस्य—ज्ञानी का, निरातंकस्य—निर्भय का, सर्वदा—हमेशा ही।

प्रसंग—सर्वदा निर्भय और निर्विकार, धीर पुरुष को कहां अन्धकार है? कहां प्रकाश है? और कहां त्याग है? कहीं कुछ भी नहीं है।

व्याख्या—चित्त में वृत्तियां हैं, वासनाएं हैं, कामनाएं हैं, अनेक जन्मों में जो कुछ मिला है उसका ही जुड़ा हुआ नाम चित्त है। बुद्धि इनको सत्य तथा असत्य में विभाजित करती है। सुख, दुःख, लाभ-हानि, प्रेम-घृणा, हिंसा-अहिंसा, प्रकाश-अन्धकार, त्याग-ग्रहण आदि को बांटती है, लेकिन वास्तव में अलग कुछ भी नहीं है, वहां सब एक



हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू के समान हैं। या तो दोनों ही रहेंगे या दोनों ही हटेंगे। एक को हटाने और दूसरे को बचाने का कोई उपाय नहीं है, यदि मृत्यु को हटा दिया जाए तो जन्म भी नहीं होगा। बेईमानी समाप्त कर दी जाए तो ईमानदारी भी समाप्त हो जाएगी। यदि घृणा हटा दी जाए तो प्रेम भी समाप्त हो जाएगा। यदि पापी व्यक्ति नहीं होंगे तो ये मंदिर, मस्जिद और गुरुद्वारे भी नहीं होंगे। ये सब एक दूसरे से जुड़े हैं। एक को हटाकर दूसरे को बचाया नहीं जा सकता। यदि रावण को हटा दिया जाए तो राम की कथा भी नहीं बनती। लेकिन नैतिक व्यक्ति दोनों में अन्तर करता है, वह बुरे को हटाकर अच्छे को लाना चाहता है, वह अंधेरे को समाप्त करके उजाले को लाना चाहता है। इसके विपरीत धार्मिक व्यक्ति सब कुछ ईश्वर का जानकर दोनों को स्वीकार कर लेता है, जबकि ज्ञानी व्यक्ति उस एक आत्मा को जानकर सदा भय रहित और दोष रहित हो जाएगा। उसकी यह अन्तर्दृष्टि ही समाप्त हो जाती है। वह प्रकाश, अन्धकार, ग्रहण, त्याग आदि में कोई भेद ही नहीं जानता।

### सूत्र-79

क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातंकताऽपि वा।

अनिर्वाच्यस्वभावस्य निः स्वभावस्य योगिनः॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, धैर्यम्—धीरज, क्वः—कहां, विवेकित्वम्—विवेक का भाव, क्वः—कहां, निरातंकता—निर्भयता, अपिः—भी, वा—अथवा, अनिर्वाच्य—अनिवर्चनीय, स्वभावस्य—प्रकृति का, निःस्वभावस्य—स्वभाव रहित, योगिनः—योगी का।

प्रसंग—अनिर्वचनीय स्वभाव वाले और स्वभाव रहित योगी को कहां धीरता है? कहां विवेकता है? अथवा कहां निर्भयता है?

व्याख्या—जहां भय है वहीं निर्भयता होती है, जहां मूढ़ता है वहीं विवेकता पैदा होती है, जहां व्याकुलता है, वहीं धीरज के बारे में



विचार किया जाता है, लेकिन ज्ञानी जिसने उस परम तत्त्व को जान लिया, सदा उसी में मग्न रहता है, उसका स्वभाव अनिवर्चनीय हो जाता है, सभी संघर्षों से पार एक हो जाता है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह न नियमों में जीता है न किसी मान्यताओं में या परम्पराओं में न वह रूढ़ियों में जीता है न आदतों में। उसके लिए यह बताना कठिन हो जाता है कि वह किस स्वभाव वाला होता है, क्योंकि वह स्वभाव रहित होता है। वह अपना कोई स्वभाव, कोई आदत बनाता ही नहीं। वह आत्मा के अनुसार चलता है, जिसे सांसारिक व्यक्ति नहीं जान सकते। ज्ञान रहित व्यक्ति ही नियम, संयम, मर्यादा, अनुशासन, सिद्धान्त, कर्तव्य, विवेक आदि के बन्धनों में जीवन-यापन करता है। ज्ञानी व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्रता का उपयोग करता है। वह इन तुच्छ बन्धनों से सदैव मुक्त रहकर व्यवहार करता है। जिससे पहचानना कठिन होता है।

### सूत्र-80

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।

बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किञ्चन॥

शब्दार्थ—न—नहीं, स्वर्गः—स्वर्ग, नैव—नहीं, नरकः—नरक, जीवन्मुक्ति—जीवन्मुक्ति, न—नहीं, च—और, एव—ही, हि—निश्चय करके, बहुनात्र किमुक्तेन—यहां ज्यादा कहने से क्या, योगदृष्ट्या—योग की दृष्टि से, न—नहीं, किञ्चन्—कुछ भी।

प्रसंग—“योगी को न स्वर्ग है, न नरक है, जीवन मुक्ति ही है। इसके बहुत कहने से क्या प्रयोजन! योग की दृष्टि से कुछ भी नहीं है।”

व्याख्या—भारतीय मनीषियों ने इस अध्यात्म पर जितना चिंतन, मनन एवं खोज की है, उतनी कोई धर्म नहीं कर सका है। ईसाई, यहूदी एवं मुस्लिम धर्म स्वर्ग-नरक से आगे की बात नहीं कह सके, मुक्ति की उनकी कोई कल्पना भी नहीं है, इन्होंने ईश्वर को ही व्यक्ति मान लिया, आकाश में कहां बिठा दिया, जहां उसने सात दिन में

संसार का निर्माण कर दिया व वहीं से उसका संचालन कर रहा है, वह सजा भी देता है, इनाम भी देता है, स्वर्ग और नरक में भी अपनी इच्छा से भेज देता है। वह दयालु भी है, क्षमा भी कर देता है, महावीर ने ब्रह्म जैसी शक्ति को मानने से इनकार कर दिया एवं आत्माओं को भी अनेक मान लिया, जबकि यह अनेकता मन के तल तक ही दिखाई देती है। आत्मज्ञान मन के तल से आगे की स्थिति है, जहां पहुंचकर सभी विविधताएं समाप्त हो जाती हैं। मृत्यु के उपरान्त केवल शरीर नष्ट होता है बाकी सूक्ष्म शरीर, मन, चित्त, अभिमान आदि सभी लेकर वह जीवात्मा अपनी अगली यात्रा पर निकलती है। पुनः जन्म से पहले वह जीवात्मा एक निश्चित अवधि तक अन्तराल में भटकती रहती है, वहां अपने अभिमान एवं वासना आदि के कारण सुख-दुःख की अनुभूति करती है, सरल आत्माएं सुख एवं दुष्ट आत्माएं कष्ट का अनुभव करती हैं। यही उनका स्वर्ग और नरक है, यह स्वर्ग और नरक चित्त की दशाएं हैं जो प्राथमिक चरण है, मुक्ति इनसे पार की स्थिति है, योग केवल आत्मा को ही मानता है। अष्टावक्र कहते हैं कि यह संसार भ्रम है, स्वर्ग नरक जीवन मुक्ति सभी ब्रह्म है जो अज्ञान के कारण अभिमान एवं वासना के कारण प्रतीत होते हैं। अतः सभी झूठे हैं, स्वर्ग एवं नरक भी वासना ही है, जब वासना एवं अभिमान समाप्त हो जाते हैं तो केवल आत्मा ही शेष रहती है और वही सत्य है, अन्य सभी भ्रान्तियां हैं। वासना और अभिमान से मुक्त पुरुष ब्रह्म ही है, बीच की स्थिति स्वर्ग नरक आदि वासना का ही विस्तार है। यह कोई उपलब्धि नहीं है, सम्पूर्ण संसार का आरम्भ और अन्त यही ब्रह्म है, जीवात्मा का यही सर्वोच्च शिखर है, यही लक्ष्य है।

### सूत्र-81

नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचित।  
 धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम्॥  
 शब्दार्थ—नैव—ना ही, प्रार्थयते—प्रार्थना करता है, लाभम्—

लाभ की, न—नहीं, अलाभेन—लाभ न होने पर, अनुशोचति—चिंतित होता है, शोक करता है, धीरस्य—धीर का, शीतलम्—शीतल, शांत, चित्तम्—चित्त, अमृतेन—अमृत रूप आत्म तत्त्व से, एव—ही, पूरितम्—पूर्ण रहता है।

**प्रसंग—**“धीर पुरुष का चित्त अमृत से पूरित हुआ शीतल है। इसलिए न वह लाभ के लिए प्रार्थना करता है और न हानि के लिए कभी चिन्ता करता है।”

**व्याख्या—**द्वैतवादी धर्म ईश्वर को प्राणी से अलग मानता है, इसलिए यह प्रार्थना करता, उसकी कृपा की भीख मांगता है, उसकी सहायता मांगता है। वह ईश्वर को सर्वशक्तिमान, दयालु, कृपालु, नियंता, स्रष्टा, सहायक आदि मानता है तथा अपने आपको निर्बल, असक्त, अज्ञानी, पापी प्राणी मानता है, इसलिए वह निरन्तर परमात्मा का कृपा प्रसाद खाने के लिए प्रार्थना करता है, लाभ के लिए प्रार्थना करता है। कष्ट निवारण करने हेतु, शत्रु विनाश हेतु प्रार्थना करता है, सुख-शान्ति, समृद्धि हेतु प्रार्थना करता है, लेकिन ज्ञानी अध्यात्मवादी है, वह सृष्टि से भिन्न जीव से भिन्न किसी ईश्वर को नहीं मानता, शरीर में स्थित आत्मा ही उसका ईश्वर है, वही ब्रह्म है। जब वह उसे जान लेता है तो वह कहता है मैं ही ब्रह्म हूं, मेरे से अलग कोई ब्रह्म नहीं है, ऐसा ज्ञानी आत्मा के परमानन्द सदैव निमग्न रहता है, उसके मन से तुच्छ वासनाएं अभिमान आदि छूट जाते हैं तथा वह आत्मारूपी अमृत से पूर्ण हो जाने पर शान्त एवं शीतल हो जाता है, उसे महान मिल जाता है, जिसके कारण वह न किसी तुच्छ लाभ के लिए प्रार्थना करता है न हानि की चिन्ता ही करता है। वह सदा आत्मा में स्थित होकर श्रेष्ठ सुख का भोग करता है, जिसे विराट नहीं प्राप्त हुआ, वही तुच्छ लाभ हानि की चिन्ता करता है।

### सूत्र-82

न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति।

समदुःखसुखस्तृप्तः किञ्चित्कृत्यं न पश्यति ॥



शब्दार्थ—न—नहीं, शान्तम्—शान्त, स्तौति—स्तुति करता है, निष्कामो—कामनाओं से रहित, न—नहीं, दुष्टम्—दुष्ट व्यक्ति की, अपि—भी, निन्दति—निन्दा करता है, सम दुःखसुखः—सुख-दुःख में समान, तृप्तः—पूर्णतया संतुष्ट, किञ्चित्—कुछ भी, कृत्यम्—किए गए को, न—नहीं, पश्यति—देखता है।

प्रसंग—“निष्काम पुरुष (योगी) न तो शांत पुरुष की प्रशंसा करता है, न दुष्ट को देखकर निन्दा करता है। वह सुख-दुःख को समान समझता हुआ तृप्त है, उसे करने को कुछ भी नहीं दीखता है।”

व्याख्या—अन्दर जो भरा है, वही बाहर निकलता है, यदि अन्दर प्रेम, दया, करुणा, अहिंसा, सहृदयता आदि गुण भरे हैं तो बाहर प्रशंसा, सहायता, सेवा, धन्यवाद, आशीर्वाद आदि के रूप में प्रकट होंगे। लेकिन जिसके अन्दर घृणा, हिंसा, अभिमान, स्वार्थ, ईर्ष्या, क्रोध आदि भरा है तो बाहर निन्दा, झगड़ा, क्लेश, युद्ध, आग्रह, दुराग्रह, दूसरों को सताना, यातना देना, हिंसा आदि अनेक रूपों में प्रकट होगा। इन बाहरी लक्षणों को देखकर उसके अन्दर क्या भरा है, यह ज्ञात किया जा सकता है, निन्दक के नियस्त स्वार्थ होते हैं, जिनको पूरा न होने पर वह निन्दक बन जाता है, लोमड़ी को अंगूर न मिलने से ही उन्हें खट्टे कहती है। प्राप्त हो जाने पर भी मीठे कह देती है, काम से पीड़ित ही काम को गाली देते हैं, धन में जिसका लाभ है, प्राप्त न होने पर वही धन को पाप बताता है, कमजोर ही बहादुरी की डींगें हांकता है, निन्दा करना ही अपराध है। सज्जन व्यक्ति किसी की निन्दा नहीं करते लेकिन ज्ञानी प्रशंसा नहीं करते, निन्दा और प्रशंसा दोनों ही वासना ग्रस्त हैं, दोनों के नियस्त स्वार्थ हैं, ज्ञानी के चित्त की आदतें शान्त हो जाती हैं, उसके अन्दर निन्दा व प्रशंसा दोनों की ही लहरें नहीं उठतीं। वह समान भाव वाला हो जाता है, शान्त हो जाता है, उसके मन की चंचलता समाप्त हो जाती है, वह राग-द्वेष दोनों के पार हो जाता है, जिससे निन्दा व प्रशंसा के भाव ही समाप्त हो जाते हैं। ऐसा ज्ञानी निष्काम और कामना रहित है, उसका किसी से आग्रह ही नहीं



होता। बिना आग्रह होना हो जाता है, यही सम चित्त की दशा है, जहां कोई कमष ही नहीं होता, ऐसा व्यक्ति ही सन्तुष्ट, सुखी है, वह न सुख में प्रसन्न होता है, न कष्ट में दुखी होता है जो हो रहा है, सब स्वीकार है। अगर कोई भला है तो हो, बुरा है तो हो, सज्जन दुष्ट, धर्मात्मा, पापी जैसा है, यह योगी की परम-स्थिति है। ऐसी स्थिति में पहुंचे ज्ञानी को करने को कुछ भी शेष नहीं रहता, यही साक्षी भाव है, इसके बाद वह सुकर्ता हो जाता है, फिर न कोई साधना है, न सिद्धि न संसार छोड़ना है, न मोक्ष पाना है। ज्ञानी की यही परम स्थिति है, इस स्थिति में पहुंचकर वह जो भी करता है, वह कामना से नहीं स्वभाव से करता है।

### सूत्र-83

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।

हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति॥

शब्दार्थ—धीरः—ज्ञानी, न—नहीं, द्वेष्टि—द्वेष करता है, संसारम्—समूची सृष्टि को, आत्मानम्—आत्मा को, न—नहीं, दिदृक्षति—देखने की इच्छा रखता है, हर्ष—प्रसन्नता, अमर्ष—दुःख, विनिर्मुक्तः—मुक्त, न—नहीं, मृतः—मरता है, न—नहीं, च—और, जीवति—जीता है।

प्रसंग—“धीर पुरुष न संसार के प्रति द्वेष करता है और न आत्मा को देखने की इच्छा करता है। हर्ष और शोक से मुक्त वह न मरे हुए जैसा और न जीवित जैसा।”

व्याख्या—राग होने से ही द्वेष पैदा होता है, राग के कारण से ही आस्था होती है, उसी से कामनाएं होती हैं, जिनके पूरा नहीं होने से ही द्वेष पैदा होता है। ज्ञानी का संसार से कोई राग नहीं होता, जिससे न उसकी आस्था ही होती है न उससे कामना ही होती है, इसलिए वह उससे द्वेष भी नहीं करता, वह जगत् को महत्त्वहीन समझ लेता है फिर द्वेष कैसा? द्वेष करना भी इसको महत्त्वपूर्ण मानना है। महत्त्वहीन से कोई द्वेष नहीं करता, उसी प्रकार वह आत्मा को देखने की भी इच्छा

नहीं करता, आत्मा अदृश्य है, इसे देखा नहीं जा सकता, उसकी अनुभूति होती है, उसका ज्ञान होता है। देखने में इच्छा होना भी कामना है और कामना के रहते आत्मा की अनुभूति होती ही नहीं है, दर्पण निर्मल होने पर ही उसकी अनुभूति होती है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति प्रतिदिन आत्म सुख का अनुभव करता है, जिससे वह हर्ष शोक से मुक्त हो जाता है। वह राग रहित-वासनारहित होकर केवल स्वचेतना को ही सब कुछ मानकर स्थित रहता है, भोग, त्याग, राग-विराग, संसार, परमात्मा, सब वासना ही है, इनके रहते हुए व्यक्ति को आत्मज्ञान नहीं होता, ज्ञान होने पर यह नहीं रहते, ऐसा ज्ञानी सांसारिक दृष्टि से जीवित जैसा नहीं दिखाई देता, क्योंकि उसकी सारी दौड़-धूप, आपाधापी, महत्त्वाकाक्षाएं, वासनाएं आदि सब छूट जाती हैं, वह कुछ करता ही नहीं, लेकिन वह मरे हुए जैसा भी नहीं होता, क्योंकि वह आलसी नहीं हो जाता है, वह पूर्ण जीवन्त हो जाता है। वह कुछ नहीं करते हुए भी बहुत कुछ करता है, परमात्मा को भी कुछ नहीं करते हुए भी सब कुछ उससे हो रहा है, ऐसा ही ज्ञानी व्यक्ति है जो कुछ नहीं करते हुए भी उससे बहुत कुछ हो रहा है, उसके स्वभाव से ही होता रहता है।

### सूत्र-84

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।

निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः ॥

शब्दार्थ—निःस्नेह—स्नेह रहित, पुत्रदारादौ—स्त्री-पुत्रादि में, निष्कामः—किसी प्रकार की कोई कामना न रखने वाला, विषयेषु—विषयों में, च—और, निश्चिन्तः—चिन्ता रहित, स्वशरीरेऽपि—अपने शरीर में भी, निराशः—आशा रहित, शोभते—शोभायमान होता है, बुधः—बुद्धिमान।

प्रसंग—“पुत्र, स्त्री आदि के प्रति स्नेह न रखता हुआ और विषयों में कामना रहित हुआ, अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं करता हुआ ज्ञानी पुरुष सभी आशाओं से मुक्त शोभा देता है।”

**व्याख्या**—अज्ञानी या सांसारिक व्यक्ति की अपनी दृष्टि होती है, और ज्ञानी की दृष्टि इससे अलग होती है, ज्ञान रहित व्यक्ति यदि अपनी दृष्टि से ज्ञानी व्यक्ति को देखेगा तो वह उसे कभी नहीं समझ पाएगा। ज्ञान रहित व्यक्ति अपने पुत्र, पत्नी आदि के प्रति बड़ा प्रेम दिखाता है। वह हमेशा विषयों की ही कामना करता है तथा अपने शरीर को पोषण की चिन्ता करता है, वह हमेशा, आशाओं में ही जीता है, इसके पीछे उसकी प्रीति और कामनाएं ही हैं, उसके स्वयं के संकीर्ण निहित स्वार्थ हैं, जिससे वह ऐसा कर रहा है, ज्ञानी का भी पुत्र, पत्नी आदि के प्रति प्यार तो होता है, लेकिन उनके प्रति कामनाएं, वासनाएं एवं पागलपन नहीं होता, वह भी शरीर की रक्षा तो करता है, लेकिन उसकी रक्षा की चिन्ता नहीं करता। स्वाभाविक रूप से अनाग्रह पूर्वक जो होता है, उसे स्वीकार कर लेता है, ज्ञानी पुरुष सभी आशाओं से स्वतन्त्र हो जाता है, जिससे वह प्रेम, कर्म, आदि के सीमित क्षेत्र से ऊपर उठ जाता है, ऐसा ज्ञानी ही शोभा पाता है।

### सूत्र-85

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः ।

स्वच्छन्दं चरतो देशान्यत्रास्तमितशायिनः ॥

शब्दार्थ—तुष्टि—संतुष्टि, सर्वत्र—सब जगह, धीरस्य—धीर का, यथापतितवर्तिनः—जैसा आया उसमें व्यवहार करने वाला, स्वच्छन्दम्—स्वतंत्र रूप से, चरतः—विचरण करता हुआ, देशान्—सभी जगह, यत्र—जहां, अस्तमितशायिनः—सूर्यास्त होता है, वहीं सोने वाला।

प्रसंग—“यथा प्राप्य से जीविका चलाने वाला, देशों में स्वच्छन्दता से विचरण करने वाला, जहां सूर्यास्त हो, वहां शयन करने वाला धीर पुरुष सर्वत्र संतुष्ट है।”

**व्याख्या**—ज्ञानी अनमोल को पा लेता है, इसलिए तुच्छ की वासना से मुक्त हो जाता है, वह भी कार्य करता है लेकिन उसमें फल



की इच्छा की कामना नहीं होती, कार्य के परिणामस्वरूप जो उसे मिल जाता है, उसी में वह संतुष्ट होकर अपनी जीविका चलाता है, उसे अधिक की चाह नहीं होती है, न कम की चिन्ता होती है, वह शिकायत भी नहीं करता कि आज जगत् पापी हो गया, साधु-सन्तों का कोई सम्मान नहीं है, उसे कोई देता नहीं, बेईमान खाए जा रहे हैं, साधु भूखे मर रहे हैं। ऐसी भावना ज्ञानी व्यक्ति में पैदा नहीं होती, ज्ञानी स्वनिर्भर होता है, वह भोजन के लिए दूसरों पर निर्भर नहीं रहता। जो मिल जाए, जहां से मिल जाए, न मिले सबमें संतुष्ट है। वह जगत् को ही बन्धन मानता है तो शरीर पोषण के लिए किसी से क्यों बंधेगा, वह किसी स्थान विशेष से भी नहीं बंधता। वह स्वच्छता से, किसी वासना के प्रति नहीं बंधता, उसके सोने, बैठने, चलने, ठहरने आदि के लिए कोई निश्चित स्थान, समय एवं नियम आदि नहीं होते। कि वहीं ठहरूंगा, ऐसे बिस्तर पर ही सोऊंगा, घास पर सोऊंगा, काली गाय का दूध ही पियूंगा, धन को हाथ कभी नहीं लगाऊंगा, पैदल व नंगे पांव ही चलूंगा। इस प्रकार के किसी नियम में नहीं बांधता, वह नियम के बन्धनों से पार हो गया है। आग्रह मात्र छूट गया है, ऐसा ज्ञानी सर्वत्र ही संतुष्ट है।

### सूत्र-86

पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः।

स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥

शब्दार्थ—पततु—पतन हो, उदेतु—स्थित रहे, वा—अथवा, देहः—शरीर, न—नहीं, अस्य—इसकी, चिन्ता—चिन्ता, महात्मनः—महात्मा को, स्वभाव भूमि विश्रान्ति—अपने असली भाव आत्मस्थिति की भूमि पर विश्राम करने वाला, विस्मृता शेष संसृतेः—समस्त सृष्टि के संस्कारों को जो भूल चुका है।

प्रसंग—जो निज स्वभावरूपी भूमि में विश्राम करता है और जिससे संसार विस्मृत हो गया, उस महात्मा को इस बात की चिन्ता



नहीं है कि देह रहे या जाए।

**व्याख्या**—इसी क्रम में अष्टावक्र कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी व्यक्ति सांसारिक नियमों व बन्धनों में जीकर अपने आत्मा के स्वभाव में जीता है। वह जगत् को भुला देता है। जिसकी किसी भी प्रकार की वासना नहीं रही है, वह शरीर की कामना भी छोड़ देता है, जिसकी शरीर में प्रीति होती है, वही अधिक जीवित रहना चाहता है। मृत्यु के समय उसके प्राण निकलते ही नहीं, वह जीवन और मृत्यु के बीच संघर्ष करता रहता है। यमदूत उसे ले जाना चाहते हैं लेकिन वह विश्व को छोड़ना ही नहीं चाहता, इसलिए जबरदस्ती उसे पकड़कर ले जाना चाहते हैं। उसके सम्बन्धी गंगाजल, तुलसी देकर, गाय का दान एवं एकादशी दे, उसके प्राण छुड़ाते हैं। यह सब शरीर से प्रीति रखने के कारण होता है, लेकिन ज्ञानी व्यक्ति शरीर में प्रीति नहीं रखता इसलिए मृत्यु के समय उसे संघर्ष नहीं करना पड़ता। वह मृत्यु को भी सुख व आनन्द जानकर स्वीकार कर लेता है। उसे वह ग्रह परिवर्तन के समान लगती है। जो जीवन में शांत एवं तृप्त रहा है, उसको मृत्यु के समय भी शांति की अनुभूति होती है। इसलिए ज्ञानी व्यक्ति कभी नहीं मरता, केवल शरीर का त्याग करता है। तथा आत्मा ही उसका स्थाई निवास स्थान है, उसी में मग्न रहता है।

### सूत्र-87

**अकिञ्चनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।**

**असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः॥**

**शब्दार्थ**—अकिञ्चनः—गृहस्थधर्म से मुक्त, कामचारः—विधि-निषेध से परे, निर्द्वन्द्वः—समस्त द्वन्द्वों से मुक्त, छिन्नसंशयः—शंकारहित, असक्तः—निरासक्त, सर्वभावेषु—सभी भावों में, केवलः—एकाकी, अकेला, रमते—रमण करता है, बुधः—बुद्धिमान।

**प्रसंग**—अकिंचन, स्वच्छन्द विचरण करने वाला, द्वन्द्व रहित, संशय रहित, आसक्ति रहित और अकेला बुद्ध पुरुष ही सब भावों में निवास करता है।

**व्याख्या**—जहां आसक्ति (प्रीति) है, वही बन्धन है। जगत्, पत्नी, पुत्र, संपत्ति, नगर, देश, धर्म, जाति, वर्ण आदि सीमित घेरों में व्यक्ति प्रीति तथा अज्ञान से स्वयं बंधा है। इनके पीछे उसके निहित स्वार्थ, जिनके कारण वह अपने आपको इन तुच्छ घेरों में बन्द कर लेता है। इन सीमाओं में बंधकर व्यक्ति स्वयं सीमित हो जाता है, उसकी दृष्टि सीमित हो जाती है, वह इनसे बाहर न सोच सकता है, न उस विशाल को देख सकता है। वह पिंजड़े का पक्षी बनकर अपने पिंजड़े में ही फड़फड़ाता रहता है। एवं उसी में अपना शरीर त्याग देता है। वह स्वतन्त्र होकर कभी उड़ान नहीं भर सकता। उसे कैसे ज्ञात हो सकता है कि संसार में इससे अलग भी कुछ सौन्दर्यता है। इसी प्रकार सीमित मान्यताओं, विचारों, सिद्धान्तों, नियमों आदि से बंधकर व्यक्ति छोटा हो जाता है, लेकिन अभिमान के कारण इनमें भी वह अपने को श्रेष्ठ समझता है। इसके विपरीत स्थिति ज्ञानी व्यक्ति की होती है। वह अपने को इन बंधनों से स्वतन्त्र कर लेता है। वह खुले आकाश में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करने वाला होता है। वह संघर्ष रहित होकर परम आनंद में रहता है, वह सन्देह रहित होता है। स्वयं को अकेला एवं अकिंचन मानता है। इसी से वह सबका हो जाता है, श्रेष्ठ हो जाता है। प्रीति (आसक्ति) होने से वह व्यक्ति तुच्छ से बंध जाता है। ज्ञानी प्रीति रहित होने से विशाल का सुख भोगता है, वह सभी भावों में रमण करता है। शरीर से बंधा हुआ ज्ञान रहित व्यक्ति शरीर के सुखों को भोग पाता है। लेकिन आत्मज्ञानी संसार के श्रेष्ठ भोगों को भोगता है। शरीर-सुख तुच्छ है, आत्म सुख विशाल है, जिसमें रमण (वास) करने वाला व्यक्ति ही सब भावों में वास करता है।

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

सुभिन्नहृदयग्रन्थिर्विनिर्धूतरजस्तमः ॥

शब्दार्थ—निर्ममः—ममता रहित, शोभते—शोभायमान होता है, धीरः—तत्त्ववेत्ता, समलोष्टाश्म काञ्चनः—मिट्टी के डले, पत्थर और स्वर्ग में समान दृष्टि रखने वाला, सुभिन्न हृदयग्रन्थिः—जिसके हृदय की सभी ग्रन्थियां अच्छी तरह से खुल गई हैं, विनिर्धूतरजस्तमः—रजोगुण और तमोगुण जिसके नष्ट हो गए हैं ।

प्रसंग—जो ममता रहित है, उसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना एक समान है । जिसके हृदय की ग्रंथि टूट गई है और जिसका रज, तम, धुल गया है, वह धीर पुरुष ही शोभता है ।

व्याख्या—व्यक्ति रोगी है, यह बीमारी अन्दर की है जो दवा को पीने से ही दूर होगी । बाहर उसका लेप करने से कुछ नहीं होगा, शास्त्रों तथा उपदेशों से कुछ नहीं होगा । ये ग्रन्थ और उपदेश डॉक्टर द्वारा लिखे गए, प्रेस्क्रिप्सन से अधिक कुछ नहीं हैं । एनासिन को बनाने की विधि-फार्मूला जान लेने से सिर का दर्द नहीं जाने वाला है, पानी कैसे बनता है, यह जानने से प्यास नहीं बुझेगी । उसे अन्दर ले जाना पड़ेगा । इसी प्रकार वस्तुओं का मूल्य (महत्त्व) स्नेह के कारण है, वस्त्र न पहनने से राख का लेप करने से, भूखे करने से या कुटिया बनाकर रहने से ममता (स्नेह) का छूट जाना आवश्यक नहीं है । जब तक अन्दर स्नेह है, वस्तुओं में अंतर दिखाई देगा । सोना, पत्थर व मिट्टी में अन्तर मालूम होगा । सोना महत्त्वपूर्ण इसलिए ही होता है कि उसके प्रति स्नेह है, मोह है, वरना वह मूल्यहीन है, आवश्यकताएं पूरी करना प्रीति (बुराई) नहीं है, लेकिन उनमें मग्न हो जाना, अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करना बुरा है । मकान, जमीन, जायदाद, धन आदि का परिग्रह आवश्यकता से अधिक करना अभिमान का कारण है । यह मानसिक बीमारी है । अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि का मापदण्ड



वे वस्तुएं मानते हैं। स्वयं की श्रेष्ठता न होने से ही वे वस्तुओं द्वारा अपनी श्रेष्ठता दिखाना चाहते हैं, लेकिन ज्ञानी व्यक्ति स्वस्थ मन वाला होता है। उसमें मानसिक बीमारी नहीं होती, वह स्वस्थ इन्द्रियों वाला होता है। उसकी हृदय ग्रंथि खुल जाती है, उसका रज, तम, धुलकर शुद्ध सत्त्व बन जाता है, वह ममता रहित, प्रीति रहित संघर्ष रहित हो जाता है। अतः उसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोने में अन्तर नहीं दिखाई देता। ऐसा व्यक्ति प्रीतिरहित ज्ञानी ही शोभित होता है।

### सूत्र-89

सर्वत्रानवधानस्य न किञ्चिद्वासना हृदि।  
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते॥

शब्दार्थ—सर्वत्र—सभी जगह, अवधानस्य—आसक्ति रहित की, न—नहीं, किञ्चित्—कुछ भी, वासना—वासना, हृदि—हृदय में, मुक्तात्मनो—मुक्तात्मा को, वितृप्तस्य—भली-भांति संतुष्ट की, तुलना—तुलना, केन—किससे, जायते—की जा सकती है।  
प्रसंग—जो सर्वत्र व्यवधान से मुक्त है और जिसके हृदय में कुछ भी वासना नहीं है। ऐसे तृप्त हुए मुक्तात्मा की किसके साथ तुलना की जाए।

व्याख्या—वासना से ही इच्छाओं का जन्म होता है तथा इच्छाएं अनन्त हैं, वे कभी पूर्ण नहीं की जा सकतीं। ऐसा वासना युक्त व्यक्ति सब कुछ मिल जाने पर भी संतुष्ट नहीं होता। सिकन्दर संसार विजय करके भी असंतुष्ट ही मरा, बड़े-से-बड़ा धनवान व्यक्ति भी असंतुष्ट ही मरते हैं, लेकिन जिस व्यक्ति की कामना समाप्त हो गई, वह जो कुछ भी है, उसी में संतुष्ट रहता है, न हो तो भी तृप्त है। महात्मा बुद्ध राजकुमार होकर भी संतुष्ट नहीं थे, लेकिन ज्ञान-प्राप्त हो जाने पर कामना रहित होकर तृप्त हो गए। जिस व्यक्ति में कामना है, वह सदैव व्यवधानों में ही उलझा रहता है, उसको हल नहीं मिलता है, जबकि ज्ञानी व्यक्ति वासना मुक्त हो जाने पर सब समस्याओं से मुक्त हो



जाता है, जीवन के भटकाव, उलझन, संघर्ष, दौड़-धूप सबका हल मिल जाता है, वह शांत हो जाता है, पूर्ण तृप्त हो जाता है, सभी ग्रंथियां खुल जाती हैं, ऐसे ज्ञानी की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। वह पूर्ण हो जाता है। तुच्छ को पकड़ने वाला उसी से बंध जाता है। वह कभी पूर्ण नहीं हो सकता।

## सूत्र-90

जानन्नपि न जानापि पश्यन्नपि न पश्यति।

ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते ॥

शब्दार्थ—जानन्नपि—जानता हुआ भी, न—नहीं, जानापि—जानता है, पश्यन्नपि—देखता हुआ, न—नहीं, पश्यति—देखता है, ब्रुवन्नपि—बोलता हुआ भी, न—नहीं, च—और, ब्रूते—बोलता है, कः—कौन, अन्यः—दूसरा कोई, निवासनात्—वासनामुक्त से, ऋते—अलग।

प्रसंग—वासना रहित पुरुष के अतिरिक्त दूसरा कौन है, जो जानता हुआ भी नहीं जानता है, देखता हुआ भी नहीं देखता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता है।

व्याख्या—ज्ञानी तथा ज्ञान रहित व्यक्ति के जानने, देखने तथा बोलने में बड़ा भेद होता है। ज्ञान रहित व्यक्ति अभिमान तथा कामना से लिस होता है, वह अपने ही स्वार्थ के कारण अन्धा हो जाता है, जिससे उसके जानने, देखने तथा बोलने में सीमितता होती है, उदारता नहीं होती। वह अभिमान के कारण जिसे नहीं जानता है, उसके भी जानने का दावा करता है, जिसे वह नहीं देखता उसके भी देखने का दम भरता है। आत्मा और परमात्मा को न उसने जाना है और न देखा है, लेकिन उसकी वास्तविकता की रोज दुहाई देता है कि आत्मा है, परमात्मा है, पुनर्जन्म है, स्वर्ग-नरक है, तुम परमात्मा को नहीं मानते, तुम नास्तिक हो, ज्ञान रहित हो, नरक जाओगे आदि लगातार कहता रहता है, मैं कुछ नहीं जानता, वह सब कुछ स्पष्ट, प्रत्यक्ष देखता हुआ

भी कहता है, मैं कुछ नहीं जानता। वह बोलता भी है, तो भी उसे उसमें दुराग्रह नहीं होता क्योंकि वह अभिमान रहित है, ऐसे ज्ञानी की तुलना किसी से नहीं की जा सकती।

### सूत्र-91

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते।

भावेषु गलिता यस्य शोभानाऽशोभना मतिः ॥

शब्दार्थ—भिक्षुः—संन्यासी, वा—और, भूपतिर्वापि—राजा हो, यः—जो, निष्कामः—कामना रहित होता है, सः—वह, शोभते—शोभायमान होता है, भावेषु—भावों में, गलिता—गल गई है, यस्य—जिसकी, शोभना—श्रेष्ठ, अशोभना—अश्रेष्ठ, मतिः—बुद्धि।

प्रसंग—जिसकी सब भावों में शोभन, अशोभन बुद्धि गलित हो गई है और जो निष्काम है, वही शोभायमान है, चाहे वह भिखारी हो या भूपति।

व्याख्या—जीवन एक त्रिवेणी है, जिसमें गंगा और यमुना तो प्रकट हैं लेकिन तीसरी सरस्वती छुपी हुई है। जीवन में भी शरीर और मन तो प्रकट हैं, लेकिन चेतना रूपी आत्मा छिपी हुई है, ज्ञान रहित व्यक्ति शरीर और चित्त को ही जानता है, लेकिन ज्ञानी व्यक्ति चेतना को भी जान लेता है। जो मन के तल पर ही जीते हैं, उन्होंने संसार को दो भागों में बांट दिया, इस विभाजन के कारण ही संसार में भेद दिखाई देता है, लेकिन ज्ञानी व्यक्ति उस छिपी हुई चेतना शक्ति रूपी आत्मा को भी जान लेते हैं, जिससे सारे अन्तर समाप्त होकर एक तत्त्व का अनुभव हो जाता है। इसी को सत्य (वास्तविक) ज्ञान कहा गया है। अन्तर केवल अज्ञान के कारण है। स्वर्ग-नरक और मोक्ष, विश्व में परमात्मा और ब्रह्म सुख-दुःख और आनन्द, राग, विराग और वीतराग, दुर्जन, सज्जन और जीवन मुक्त साधु-असाधु और आदि में प्रथम दो शब्द मन की ही व्याख्या हैं। मन कामना युक्त है, विलासी है, स्वार्थी

है, वह हमेशा अन्तर ढूँढ़ता है, अच्छे-बुरे में अन्तर करता है। लाभ-हानि, जय-पराजय, श्रेष्ठ-निकृष्ट, शोभन-अशोभन, राजा-रंक त्याग और ग्रहण, हिंसा-अहिंसा आदि में अन्तर करता है। अपनी कामना एवं स्वार्थों के अनुसार उसे अच्छा तथा प्रतिकूल होने पर बुरा बता देता है। लेकिन ज्ञानी के पार हो जाता है उसका अस्तित्व से मिलन हो जाता है। अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं है, इसलिए ज्ञानी ही समान बुद्धि वाला होता है। यह तीसरा शब्द समत्व बुद्धि का ही उदाहरण है, जो भारत की सर्वोपरि खोज है। जो धर्म संघर्षों से पार नहीं जा सके, वे मानसिक धरातल पर ही हैं, अस्तित्व स्वरूप ज्ञान का कुछ भी पता नहीं है। ऐसे धर्म आचरण को ही महत्त्व देते हैं, ज्ञानी उपलब्धि को महत्त्वपूर्ण मानता है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि जिसकी सब भावों में शोभन-अशोभन, बुद्धि गल गई है और जो स्वार्थरहित है, जिसकी कोई कामना नहीं है, अभिमान नहीं है, फल की आकांक्षा नहीं है, ऐसा ज्ञानी व्यक्ति चाहे भिक्षा मांगने वाला या सारी भूमि का स्वामी सर्वत्र शोभित होता है। व्यक्ति की महानता, धन, पद, मान, सम्मान आदि से नहीं मूल्यांकन किया जाता, उसके व्यक्तिगत गुणों पर की जाती है। कामना एवं अभिमान रहित ज्ञानी ही महान है, क्योंकि वह क्षणिक को त्यागकर शाश्वत को उपलब्ध हो गया है।

## सूत्र-92

क्व स्वच्छन्द्यं क्व संकोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः ।

निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, स्वच्छन्द्यम्—स्वच्छन्दता से, क्वः—कहां, संकोचः—संकोच, क्वः—कहां, वा—अथवा, तत्त्वविनिश्चयः—तत्त्व का निश्चय, निर्व्यान—छल-कपट रहित, आर्जवभूतस्य—सहज स्वभाव वाले के, चरितार्थस्य—सच्चे अर्थों में, योगिनः—योगी के।

प्रसंग—निष्कपट, सरल और यथार्थ चरित्र वाले योगी को कहां



स्वच्छन्दता है ? कहां संकोच है और कहां तत्त्व का निश्चय है ?

**व्याख्या**—जो व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त हो जाता है, जिसने संसार के मूल तत्त्व आत्मा को जान लिया है, वह कपट रहित, सरल तथा यथार्थ चरित्र वाला हो जाता है। उसके लिए स्वच्छन्दता, संकोच तथा तत्त्व का निश्चय जैसी कोई धारणा नहीं होती। वह स्वयं इन सबसे पार अस्तित्व के साथ ही जीता है, अस्तित्व ही उसका अनुशासन, नियम, संयम होता है। वह मानस-तल की स्वच्छन्दता, संकोच आदि के पार हो जाता है। यही उसका विवेक है।

### सूत्र-93

आत्मविश्रान्तिर्तृप्तेन निराशेन गतार्तिना।

अन्तर्यदनुभूयते तत्कथं कस्य कथ्यते ॥

**शब्दार्थ**—आत्मविश्रान्तिर्तृप्तेन—आत्मा में विश्राम करने से तृप्त, निराशेन—आशारहित, गतार्तिना—दुःखों से परे, (तत्त्वज्ञानी) के, अन्तर—हृदय में, यत्—जो, अनुभूयते—अनुभव किया जाता है, तत्—वह, कथम्—कैसे, कस्य—किसे, कथ्यते—कहा जाए।

**प्रसंग**—आत्मा में विश्राम कर तृप्त हुए आशा रहित और शोक रहित ज्ञानी के अन्तस् में जो अनुभव होता है, उसे कैसे और किसको कहा जाए ?

**व्याख्या**—आत्मज्ञान को उपलब्ध हो जाने के बाद व्यक्ति संतुष्ट हो जाता है, इच्छा रहित तथा शोक रहित हो जाता है, इस स्थिति में जो आराम करता हुआ ठहर जाता है, उसे आश्चर्यजनक अनुभव होते हैं। जो सांसारिक अनुभवों से सदैव अलग होते हैं, जिनका वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि सुनने वाला उस अवस्था को नहीं पहुंच सका है, उसे ये अनुभूति नहीं हुई, इसलिए उसे समझना कठिन है। ऐसे अनुभव प्रमाणों, तर्क-वितर्क से भी सिद्ध नहीं किए जा सकते। जिस प्रकार दस साल के बच्चे को रमण सुख (काम-सुख) नहीं समझाया जा सकता, किसी के कष्ट, दर्द, पीड़ा, जलन आदि को दूसरों को नहीं



दिखाया जा सकता, अंधे को सफेद, लाल, हरा आदि रंगों का ज्ञान नहीं कराया जा सकता, इसलिए ज्ञानी व्यक्ति चुप्पी साध लेते हैं। आत्म-ज्ञान में बोध होता है, एक अनुभव होता है। इसमें पुरानी धारणाएं, मान्यताएं सब समाप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार स्वप्न टूटने पर एक पल में सब कुछ परिवर्तित होकर नवीन सामने आ जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान के क्षण में विश्वरूपी स्वप्न टूट जाता है एवं नए ही विश्व में उसका प्रवेश होता है, जिसे न उसने पहले कभी देखा है, न सुना है, न जाना है, इस अवस्था में गुरु का सान्निध्य न हो तो वह पागल भी हो सकता है। उसका इलाज भी कुछ नहीं है। वह उसकी मस्ती में पागल हो जाता है। विश्व के लिए पागल होने की अपेक्षा तो ईश्वर के लिए पागल हो जाना उचित है। ऐसा पागलपन भी वरदान है। आत्मा का ज्ञान चित्त की विकार रहित और शून्यावस्था में ही होता है तभी आत्मा अपने पूर्ण प्रकाश में प्रकट होती है। ध्यान में विषय भोग नहीं होते, विषय होने पर ध्यान नहीं है, चिंतन, मनन भी ध्यान नहीं है, ध्यान किया भी नहीं जाता, करने से ध्यान होता भी नहीं है। अक्रिया ही ध्यान है। अष्टावक्र का सारा सार इसी अक्रिया पर आधारित है, इसी से होता है ज्ञान, बोध, जागरण। इस अनुभव के बाद व्यक्ति स्वयं को आत्मस्वरूप अनुभव करता है, वह हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई नहीं रह जाता, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी नहीं रह जाता। वह ब्रह्म को जान लेता है, इसीलिए वह ब्राह्मण हो जाता है। ब्राह्मण उपलब्धि है। उसमें विनम्रता आ जाती है। अभिमान, कामना तृप्त हो जाती है। वह महान हो जाता है। पुराने का अन्त हो जाता है, नवीन का जन्म होता है। इसीलिए उसे (द्विजन्मा) कहा जाता है। शरीर को जन्म मां ने दिया है, आत्मा का जन्म गुरु के द्वारा हुआ है। वह शुद्ध को ब्राह्मण बना देता है, व्यक्ति को परमात्मा बना देता है, इसलिए गुरु का महत्त्व ईश्वर से भी अधिक है। ईश्वर ही गुरु रूप में प्रकट होता है। यही गुरु का महत्त्व है। कबीर ने कहा है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांय।  
बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय॥

इस ज्ञान प्राप्ति की पाठशाला संन्यास है तथा उसका परिणाम है, आत्मा का अनुभव।

### सूत्र-94

सुप्तोऽपि न सुषुप्तो च स्वप्नेऽपि शयितो न च।

जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे॥

शब्दार्थ—सुप्तः—सोता हुआ, अपि—भी, न—नहीं, सुषुप्तो—सुषुप्ति में, च—और, स्वप्नेऽपि—स्वप्न में भी, शयितः—सोया हुआ, न—नहीं, च—और, जागरेऽपि—जागा हुआ भी, न—नहीं, जागर्ति—जगता है, धीरः—धैर्यवान्, तृप्तः—संतुष्ट, पदे-पदे—प्रत्येक पद पर।

प्रसंग—जो सोया हुआ भी नहीं है, और न स्वप्न में भी सोया हुआ है, जाग्रत में भी नहीं जागा हुआ है, वही धीर पुरुष क्षण-क्षण तृप्त है।

व्याख्या—ज्ञानी व्यक्ति और ज्ञान रहित व्यक्ति दोनों ही सोते हैं, लेकिन जब ज्ञान रहित व्यक्ति स्वप्न की अवस्था में होता है तो स्वयं को भूल जाता है, वह स्वप्न में ही खो जाता है, एक-दूसरे संसार में प्रवेश कर जाता है। उसे न संसार का ध्यान रहता है और न स्वयं का ही, लेकिन ज्ञानी की निद्रा सांसारिक से अलग है वह स्वप्न में भी जागा रहता है, साक्षी भाव का प्रयोग करने पर यह संभव है, स्वप्न में भी उसे ध्यान रहता है कि वह सोया हुआ है और स्वप्न देख रहा है, इसी प्रकार सुषुप्ति में भी व्यक्ति जागा हुआ रहता है। सुषुप्ति में जीव का सम्बन्ध आत्मा से होता है, जिसके कारण उसे आत्मा का सुख प्राप्त होता है। योगी ही जागा हुआ होने से इसका अनुभव करता है। इसी प्रकार जागने के समय में भी वह सदैव आत्मा में मग्न रहने के कारण बाहरी वस्तुओं से प्रभावित नहीं होता। वह जागते हुए, स्वप्न में

एवं सुषुप्ति में तीनों अवस्थाओं में आत्मा का ही अनुभव करता है।  
ऐसा ज्ञानी ही सर्वदा संतुष्ट है।

### सूत्र-95

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः ।

सबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः ॥

शब्दार्थ—ज्ञः—ज्ञानी, सचिन्तः—चिन्तावान् होता हुआ, अपि—भी, निश्चिन्तः—सभी चिन्ताओं से परे हैं, सेन्द्रियोऽपि—इन्द्रियों वाला होता हुआ भी, निरिन्द्रियः—इन्द्रियों वाला नहीं है, सबुद्धिरपि—बुद्धिवान होता हुआ भी, निर्बुद्धिः—बुद्धि रहित होता है, साहंकारः—अहंकारयुक्त होता हुआ भी, अनहंकृति—अहंकार रहित होता है।

प्रसंग—ज्ञानी चिन्तायुक्त भी चिन्ता रहित है, इन्द्रियों सहित भी इन्द्रियों रहित है, बुद्धि सहित भी बुद्धि रहित है तथा अहंकारयुक्त भी अहंकार रहित है।

व्याख्या—ज्ञानी व्यक्ति भी चिन्तायुक्त तो होता है, लेकिन चिन्तित नहीं होता, दुःखी नहीं होता। वह इन्द्रियों के होते हुए भी इन्द्रियां अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। खाना, पीना, सूँघना, सुनना, स्वाद लेना, स्पर्श करना, देखना सब यथावत् होता है, लेकिन ज्ञानी की वासना न होने के कारण वह उनमें मग्न नहीं होता, उनसे प्रभावित नहीं होता, वह इन्द्रियों का उपयोग आवश्यकता पड़ने पर ही करता है, कामना के कारण ही नहीं करेगा। ज्ञानी व्यक्ति बुद्धि का उपयोग भी करेगा, लेकिन वह जैसा चाहेगा वैसे ही प्रयोग करेगा। वह बुद्धि का स्वामी होगा। बुद्धि उसकी स्वामी नहीं होगी। ज्ञानी व्यक्ति आवश्यकता पड़ने पर अभिमान का भी उपयोग करेगा, विनम्रता का भी प्रयोग करेगा। ज्ञानी संसार के नियमों में न तो रुकावट बनते हैं, न सहयोग करते हैं। जैसा होता है, उसे ईश्वरीय जानकर ही करते हैं।



## सूत्र-96

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान् ।

न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो किञ्चिन्न चऽकिञ्चन ॥

शब्दार्थ—न—नहीं, सुखी—सुख से, न—नहीं, च—और, वा—अथवा, दुखी—दुखी, न—नहीं, विरक्तः—वैराग्यवान्, न—नहीं, सङ्गवान्—आसक्ति वाला, न—नहीं, मुमुक्षुः—मोक्ष की इच्छा वाला, न—नहीं, वा—और, मुक्तः—मुक्त, न—नहीं, किञ्चित्—कुछ, न—नहीं, च—और, अकिञ्चिन्—कुछ ।

प्रसंग—ज्ञानी न सुखी है, न दुःखी है, न विरक्त है, न संगयुक्त है, न मुमुक्षु है, न मुक्त है, न किंचन है (कुछ है), न अकिंचन (कुछ नहीं) ।

व्याख्या—ज्ञानी व्यक्ति की स्थिति संघर्षों से पार की होती है, वह समत्व बुद्धि वाला होता है। वह सदा एकरस रहता है। घड़ी के पेंडुलम के समान एक अति से दूसरी अति को स्पर्श नहीं करता। बुद्ध ने भी यही कहा है कि वीणा के तार न अधिक ढीले हों न अधिक कसे हुए हों, तभी संगीत उत्पन्न होता है। ज्ञान रहित व्यक्ति ही इन अतियों में भटकते हैं। ज्ञान अति में समत्व नहीं है, एकरसता में है, अभिमानी अतियों में आनन्द लेता है। ज्ञानी व्यक्ति उस नट के समान है जो अतियों के बीच संतुलन रखता हुआ एक ही रस्सी पर ध्यान केन्द्रित करते हुए चलता है। इसीलिए कहा है कि धर्म तलवार की धार पर चलने के समान है। थोड़ा-सा भी ध्यान भटका तो साधना व्यर्थ हो जाती है। अतः अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञानी न सुखी है, न दुःखी, न संगी है और न अकेला, न जिज्ञासु है न स्वतन्त्र है, वह ऐसा भी नहीं मानता कि मैं कुछ हूँ, नगण्य हूँ, उपेक्षित हूँ न ऐसा मानता हूँ कि मैं ही सब कुछ हूँ, मैं परम ज्ञानी हूँ, मध्यम हूँ, औरों से ऊपर हूँ, वह सदा समानता में स्थित रहता है। जो है, उसी में संतुष्ट है।



## सूत्र-97

विक्षेपऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान्।  
जाड्येऽपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः ॥

शब्दार्थ—विक्षेपे—विक्षेप में, अपि—भी, न—नहीं, विक्षिप्तः—विक्षेप को प्राप्त होता है, समाधौ—समाधि में, न—नहीं, समाधिमान—समाधिस्थ होने वाला होता है, जाड्ये—जड़ता में, अपि—भी, न—नहीं, जडः—जड़ होता है, धन्यः—स्वनामधन्य तत्त्वज्ञानी पुरुषः, पाण्डित्येऽपि—पाण्डित्य सम्पन्न होने पर भी, न—नहीं, पण्डितः—विद्वान्।

प्रसंग—धन्य पुरुष विक्षेप में भी विक्षिप्त नहीं है, समाधि में भी समाधि वाला नहीं है, जड़ता में भी जड़ नहीं है, पाण्डित्य में भी पण्डित नहीं है।

व्याख्या—जो ज्ञानी आत्म-ज्ञान के कारण सम स्थिति को प्राप्त हो गया है वह कष्टों को भी सहन कर लेता है, उनसे विक्षिप्त नहीं होता। वह समाधि में रहने वाला है, लेकिन समाधि वाला नहीं है जो समाधि का निरन्तर अभ्यास करता है। वह नेताओं, उद्यमियों के समान भाग-दौड़ नहीं करता, इसलिए जड़ के समान स्थिर ज्ञात होता है, लेकिन वह जड़ नहीं पूर्ण चेतना है, जागरूक (सावधान) है, उसमें पाण्डित्य तो है, पूर्ण ज्ञान है लेकिन पण्डितों के समान अभिमान नहीं है न पाण्डित्य का प्रदर्शन करने की इच्छा है। वह तर्क-वितर्क में अविश्वास करते हुए ज्ञान को सरल और स्वाभाविक रूप से जैसा है, जैसा उसने जाना है प्रस्तुत (प्रकट) कर देता है।

## सूत्र-98

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः।  
समः सर्वत्र वैतृष्णान् स्मरत्यकृतं कृतम् ॥

शब्दार्थ—मुक्तः—मुक्त, यथास्थिति स्वस्थः—किसी भी स्थिति में प्रसन्न रहने वाला (अपने स्वरूप में स्थित रहने वाला),

**कृतकर्तव्यनिर्वृतः**—कृत और अकृत (कर्तव्य) कर्मों से संतुष्ट,  
**समः**—समान रहने वाला, **सर्वत्र**—सभी जगह, **वैतृष्णात्**—किसी  
भी प्रकार की तृष्णा के न होने से, **न**—नहीं, **स्मरति**—स्मरण नहीं  
करता, **अकृतम्**—न किए को, **कृतम्**—किए गए को।

**प्रसंग**—मुक्त पुरुष सब स्थिति में स्वस्थ है, किए हुए और  
करने योग्य कर्म में तृप्त है, सर्वत्र समान है, तृष्णा के अभाव में किए  
और अनकिए कर्म को स्मरण नहीं करता है।

**व्याख्या**—जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान हो गया है वही स्वतन्त्र  
है। ज्ञान रहित व्यक्ति बन्धनों में बंधा है, वह बीमार है, कामना,  
वासना, अभिमान आदि कष्टों से दुखी है। जो इन बन्धनों को तोड़  
चुका है। ऐसा मुक्त व्यक्ति ही स्वस्थ है। वह किए तथा न करने योग्य  
कर्म (कार्य) दोनों से संतुष्ट है। किए पर न चिन्ता करता है, न शोक  
करता है न प्रसन्न होता है तथा करने योग्य कार्य के प्रति उसकी इच्छा  
नहीं होती, फलाकांक्षा नहीं होती। कार्यों (कर्मों) को सरल भाव से  
कर लेता है। दोनों में समान रूप से व्यवहार करता है, किए और न  
करने योग्य कार्यों का स्मरण वही रखता है। जिसे कुछ प्राप्त करने की  
कामना है, ज्ञानी व्यक्ति को न कुछ प्राप्त करना है, न छोड़ना है।  
इसलिए वह न पश्चात्ताप करता है, न प्रसन्नता एवं गर्व का अनुभव  
करता है। ज्ञानी की ऐसी स्थिति ही परम स्थिति है।

### सूत्र-99

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति।

नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति ॥

**शब्दार्थ**—**न**—नहीं, **प्रीयते**—प्रसन्न होते हैं, **वन्द्यमानः**—  
वन्दित होता हुआ, **निन्द्यमानः**—निन्दित होता हुआ, **न**—नहीं,  
**कुप्यति**—क्रोधित होता है, **न**—नहीं, **एव**—ही, **उद्विजति**—उत्तेजित  
होता है, **मरणे**—मरने पर, **जीवने**—जीवन में, **न**—नहीं,  
**अभिनन्दति**—हर्षित होता है।

**प्रसंग**—मुक्त पुरुष न स्तुति किए जाने पर प्रसन्न होता है, न निन्दित होने पर क्रुद्ध होता है। न मृत्यु में उद्विग्न होता है, न जीवन में हर्षित होता है।

**व्याख्या**—प्रशंसा एवं निन्दा से जो प्रभावित हो जाता है, वह ज्ञानी नहीं हो सकता है। उसके अन्दर अभिमान है, जिस पर निन्दा का प्रहार होने से वह क्रोधित हो जाता है और उसकी प्रशंसा कर देने से वह प्रसन्न हो जाता है, ज्ञान रहित व्यक्ति इन सबसे बहुत अधिक प्रभावित होता है, मुक्त व्यक्ति न तो मृत्यु के समय भयभीत होता है क्योंकि वह उसे स्वाभाविक मानता है, संसार का नियम मानता है, न जीवित रहने पर ही प्रसन्न होता है। ये सब मन की लहरें हैं, कष्ट हैं, जिनसे वह अप्रभावित रहता है। ऐसा ज्ञानी ही मुक्त है। ज्ञानी आत्मा में जीता है, जो नित्य है, अमृत है उसकी मृत्यु होती ही नहीं है। शरीर में जीने वाले अज्ञानी (ज्ञान रहित) की ही मृत्यु होती है, वही मृत्यु से भयभीत होता है।

### सूत्र-100

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः ।

यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते ॥

**शब्दार्थ**—न—नहीं, धावति—दौड़ता है, जनाकीर्णम्—भीड़भाड़ वाले स्थान पर, न—नहीं, अरण्यम्—जंगल की ओर, शांतधीः—जिसकी बुद्धि शान्त हो, यथा—जैसा, तथा—वैसा, यत्र—यहां, तत्र—वहां, सम—समान रूप से, एव—ही, अवतिष्ठते—स्थित रहता है।

**प्रसंग**—शांत बुद्धि वाला पुरुष न लोगों से भरे नगर की ओर भागता है, न वन की ओर ही। वह सभी स्थिति और सभी स्थान में समभाव से ही स्थित रहता है।

**व्याख्या**—भाग-दौड़ वही व्यक्ति करता है, जिसे कुछ प्राप्त करना है, जिसके अन्दर कामना एवं असंतोष रूपी प्यास है। यह

वासना चाहे संसार की हो या मोक्ष की, कामना ही है। जिस ज्ञानी व्यक्ति ने उस परम तत्त्व को जान लिया, जिसे आत्मा का अनुभव हो गया, जो परम को प्राप्त हो गया, जो स्वतन्त्र हो गया, उसकी सारी भाग-दौड़ समाप्त हो जाती है, उसकी सारी इच्छाएं, आकांक्षाएं समाप्त हो जाती हैं, उसे संसार में एक तत्त्व का अनुभव हो जाता है। उसमें समान भाव पैदा हो जाता है। ऐसा ज्ञानी व्यक्ति ही शांत स्वभाव वाला हो जाता है। वह सभी स्थानों पर तथा सभी अवस्थाओं में समान भाव से स्थित रहता है, चाहे वो शहर हो या गांव या वन, भीड़-भाड़ वाला स्थान हो या फिर सुनसान स्थान, महल में रहे या झोंपड़ी में, कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ज्ञान रहित व्यक्ति चुनाव करता है, कि ऐसे स्थान पर ही रहूंगा, ऐसा भोजन करूंगा, भिक्षा मांगकर ही पेट भरूंगा, ऐसे ही कपड़े पहनूंगा या नग्न ही रहूंगा आदि। लेकिन ज्ञानी व्यक्ति चुनाव रहित होता है, जो है उसी में संतुष्ट है। वह साधन मात्र है, यही जीवन युक्त की परम स्थिति है।

□□



## उन्नीसवां अध्याय

सूत्र-1

( जनक-उवाच )

तत्त्वविज्ञानसंदंशमादाय                      हृदयोदरात् ।

नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः                      कृतोमया ॥

शब्दार्थ—तत्त्वज्ञान संदंशम्—तत्त्वज्ञान रूपी संडासी को, आदाय—लेकर, हृदयोदरात्—हृदय और उदार से, नानाविधपरामर्श शल्य—नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों के बाणों को, उद्धारकृतः— निकाल लिया गया है, मया—मेरे द्वारा ।

प्रसंग—राजा जनक आत्म-ज्ञान से संतुष्ट होकर अपनी अभिव्यक्ति देते हैं—मैंने आपके तत्त्वज्ञान रूपी सांसों को लेकर हृदय और उदर से अनेक प्रकार के विचार-रूपी बाण को निकाल दिया है ।

व्याख्या—अष्टावक्र के तत्त्व-बोध के उपदेश को सुनकर राजा जनक आत्म-ज्ञान को प्राप्त हो गए । उनकी योग्यता पहले से ही थी, अन्तःकरण शुद्ध था इसलिए अष्टावक्र के उपदेश पर उन्होंने एक भी शंका नहीं उठाई, न अर्जुन के समान तर्क-वितर्क किया । और न ही अविश्वास प्रकट किया । उस उपदेश रूपी अमृतज्ञान को पूर्ण विश्वास के साथ पी गए जिससे कि आत्मतत्त्व को प्राप्त हो गए । उपदेश क्या था, संजीवनी थी, लेकिन इसका लाभ श्रद्धावान व्यक्ति को ही मिलता है । गीता में कहा है 'श्रद्धावान लभते ज्ञानं' । ज्ञान का परिणाम (फल) तो विश्वास करने वाले को ही प्राप्त होता है । उन्होंने अपने अनुभव बताए तो अष्टावक्र ध्यान से सुनते रहे, लेकिन परीक्षा आवश्यक होने

से उन्होंने बहुत से प्रश्न करके राजा जनक की परीक्षा भी ली, जिसमें वो सफल हो गए। अष्टावक्र को विश्वास हो गया कि जनक को जो हुआ है वह ठीक हुआ है या सन्देह हुआ है। इसलिए अष्टावक्र ने अठारहवें प्रकरण में आत्मज्ञान के रूप में शांति का उपदेश दिया। यह उपदेश वैसा ही है, जिस प्रकार गुरु विधि के अनुसार शिक्षा देते हुए अंत में शिष्य की परीक्षा लेता है, और परीक्षा में सफल हो जाने पर उसे दीक्षान्त भाषण देकर अपने गुरुकुल से विदा करता है तथा सृष्टि में रहकर कर्म (कार्य) करने का उपदेश देता है। आत्मज्ञान पर दिए गए उपदेश से जनक गद्गद हो गए। यह अष्टावक्र गीता जनक अष्टावक्र-संवाद के रूप में अध्यात्म का सबसे अच्छा ग्रन्थ है, जिसकी उपमा किसी से नहीं की जा सकती। तत्त्व-बोध पर इससे श्रेष्ठ कोई वर्णन नहीं है।

तत्त्व ज्ञान के बाद अष्टावक्र जनक को विदा कर रहे हैं, दीक्षान्त उपदेश समाप्त हो गया है। अब इस उन्नीसवें तथा बीसवें प्रकरण में राजा-जनक अष्टावक्र को धन्यवाद समर्पित कर रहे हैं। यह धन्यवाद भी मात्र औपचारिकता नहीं है, बल्कि अपनी स्थिति का वर्णन कर रहे हैं, जो गुरु की कृपा दृष्टि से प्राप्त हुई। आत्मज्ञान पूर्ण शल्य-क्रिया है, जिसमें सभी विजातीय तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और आत्म तत्त्व ही बचता है जो कि स्वयं है। जिस प्रकार भट्टी में गलाकर एवं विविध प्रक्रियाओं द्वारा सभी की मिलावट को निकालकर शुद्ध स्वर्ण प्राप्त किया जाता है। ऐसी ही आत्मज्ञान की प्रक्रिया है, जहां अज्ञान के द्वारा जन्म लिये, सभी संस्कारों का परिशोधन हो जाता है और आत्मा रूपी स्वर्ण प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार की आत्मज्ञान की प्रक्रिया है, इसमें मन, बुद्धि (विवेक) स्मृति, शरीर, अभिमान, संकल्प-विकल्प, विचार, ग्रन्थ, धर्म कामनाएं, वासनाएं आदि का त्याग हो जाता है, क्योंकि आत्मा के लिए ये समस्त दोष ही हैं। ये सब विजातीय तत्त्व ही हैं। जिनका आत्मा से किसी भी प्रकार का कोई नाता नहीं है। मृत्यु से केवल शरीर

ही छूटता है, अन्य सभी साथ जाते हैं। ये ही तत्त्व बार-बार जन्म लेने का कारण बनते हैं, लेकिन आत्म-ज्ञान में ये सभी छूट जाते हैं। इसीलिए आत्म-ज्ञान को महामृत्यु की संज्ञा दी है, इसके बाद जो शेष बचता है। वही स्वयं का है, उसी का नाम आत्मा है। व्यक्ति की मूल बीमारी उसके विचार हैं। विचारों (कल्पनाओं) से ही उसके कार्य होते हैं, विचार ही मृत्यु के बाद साथ जाते हैं, इन्हीं के कारण जीव का पुनर्जन्म होता है, सुख-दुःख का आधार भी विचार ही है। सभी संघर्ष भी विचार के कारण ही हैं। बिना विचार की साधना ही ध्यान है, इसकी प्राप्ति ही समाधि है। यही आत्मज्ञान है, जब तक विचार है व्यक्ति स्वस्थ होगा। राजा जनक तत्त्व-आत्मज्ञान को प्राप्त हुए, उनके सारे रोग समाप्त हो गए। अब वे पूर्ण रूप से स्वस्थ हैं। वे अष्टावक्र गुरु के प्रति अपना धन्यवाद देते हुए कहते हैं कि मैंने आपके तत्त्व ज्ञान रूपी संसी को लेकर हृदय तथा उदर (पेट) से अनेक प्रकार के विचार रूपी बाण को निकाल दिया है। अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, विचार ही आत्मज्ञान में रुकावट है। ये ऐसी लहरें हैं, जिनसे चित्त में आत्मा का चित्र नहीं दिखाई देता। विचार शून्यता ही उपलब्धि की चाबी है। विचार भटका देते हैं। आत्मा विस्मृतमात्र है, उसे निर्विचार स्थिति से ही पुनः स्मरण में लाया जा सकता है।

## सूत्र-2

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता ।

क्व द्वैतः क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, धर्मः—धर्म, क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, कामः—काम, क्वः—कहां, च—और, अर्थः—अर्थ, क्वः—कहां, विवेकता—विवेकशीलता, क्व—कहां, द्वैतम्—द्वैत, क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, अद्वैतम्—अद्वैत, स्वमहिम्नि स्थितस्य—अपनी महिमा में स्थित, मे—मुझमें।



**प्रसंग**—अपनी महिमा में स्थित मुझको कहां धर्म है ? कहां काम है ? कहां अर्थ है ? कहां विवेकता ? कहां द्वैत है ? और कहां अद्वैत है ?

**व्याख्या**—आत्मा हमारा स्वभाव है, वही सत्य है, आनन्द है। उसे प्राप्त कर लेना ही सबसे बड़ी महिमा है। आत्म-ज्ञानी ही महामहिम है। अन्य सब महिमाएं झूठी हैं। दूसरों के द्वारा बताई गई महिमा झूठी है, धोखा है। दूसरा जो देता है, वह उसे छीन भी सकता है। दूसरों ने महिमा दी तो गुब्बारे के समान फूल गए, अपने को महामहिम (ब्रह्म) समझने लगे, लेकिन उसकी चाबी दूसरे के पास है, वह जब चाहे तब तुम्हारी हवा निकाल लेता है, तुम्हारी महिमा छीन लेता है तो तुम पिचक जाओगे। अपने पहले स्वरूप से भी बदतर रूप हो जाएगा। जो जमीन-जायददाद, धन-संपत्ति, मित्र-हितैषी, बन्धु-सम्बन्धी, पद-प्रतिष्ठा आदि में अपनी प्रतिष्ठा समझता है, वह इसके द्वारा दी गई है, उसे जब वो चाहे छीन सकता है। आज जनता ने तुम्हें अपने मत देकर तुम्हें राजा बना दिया, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति बना दिया तो उन्होंने तुम्हें प्रतिष्ठा नहीं दी, उन्होंने अपने स्वार्थ को सफल करने के लिए तुम्हें उस स्थान तक पहुंचा दिया। यदि उन्होंने तुम्हारे व्यक्तिगत स्वार्थ के कार्यों में सहयोग नहीं किया तो तुम उन्हें उस स्थान से (गद्दी) नीचे गिरा दोगे। क्योंकि तुम्हें ऊपर बैठाने की सीढ़ी उनके पास है। तुम मालिक नहीं, बल्कि उनके सेवक हो। वे बन्दर के समान तुम्हें नचा रहे हैं। इसी को तुम महिमा (प्रतिष्ठा) कहते हो। लेकिन जनक कहते हैं कि मैं अपनी वास्तविक महिमा में स्थित हो गया हूं। आत्मा ही मेरी महिमा प्रतिष्ठा है। इसमें स्थित हो जाने से मैं महामहिम हूं। मेरी इस महिमा को कोई नहीं छीन सकता। यह मेरी अपनी है, स्वयं मैंने प्राप्त की है। यही सत्य और शाश्वत है जो सदा मेरी है और कुछ मेरा नहीं है, वह अलग हो सकता है। आत्मा कभी अलग नहीं हो सकती। इससे बढ़कर अन्य कोई प्रतिष्ठा नहीं है। जिसमें स्वयं की प्रतिष्ठा नहीं है वे दूसरों की प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं इस स्वयं की प्रतिष्ठा को



प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अनेक साधनों का प्रयोग करते हैं। धर्म, अर्थ, काम, विवेकता आदि भी साधन हैं। इसी प्रकार ध्यान, धारणा, सवमाधि, जप, पूजा, श्रवण, निदिध्यासन, शास्त्र, गुरु सत्संग आदि साधन मात्र हैं, लेकिन प्राप्ति के बाद इनका कोई उपयोग नहीं है। आत्मज्ञान के बाद भी उन्हें ढोते रहना मूर्खता ही है। बाद में ये साधन ही बन्धन हो जाते हैं। ग्रंथों में कहा है, “उत्तीर्ण तु गते पारे नौकायाः किं प्रयोजनम्”, जब व्यक्ति नदी के पार उतर जाता है तब उसे नौका की क्या आवश्यकता रह जाती है। वह बेकार हो गई। उसे छोड़ देना ही बुद्धिमानी है। इसी प्रकार आत्मज्ञान की अनुपस्थिति में द्वैत की प्रतीति होती है, लेकिन आत्मज्ञान जान लेता है कि द्वैत सन्देह मात्र है, अज्ञान है। वास्तव में यह सभी उस एक आत्मा का ही फैलाव है, यही आध्यात्म है, जिसे आत्म-ज्ञानी जान लेता है, इसलिए उसकी द्वैत की भावना समाप्त हो जाती है। अध्यात्म भी सापेक्ष है। जब द्वैत है ही तो अध्यात्म कहना भी बेकार हो जाता है। इसलिए जनक बताते हैं कि मरे में न द्वैत है न अद्वैत। मैं केवल आत्मस्वरूप हूँ। जनक की यह बड़ी अनूठी अभिव्यक्ति है। आत्म-ज्ञानी ही ऐसी अनुभूति है। इस सूत्र में जनक बताते हैं कि मैं अपनी महिमा में स्थित हो गया हूँ, इसलिए धर्म भी बेकार हो गया, आत्मज्ञान प्राप्त होने पर धर्म की आवश्यकता नहीं है। धर्म भी प्राप्त करने का साधन मात्र है। सभी धर्मों में उपलब्धि की गई है। आचरण, कर्मकाण्ड, योग, भक्ति, पूजा, पाठ सभी उपाय मात्र हैं। इनकी उपयोगिता ज्ञान रहित व्यक्ति के लिए है। ज्ञानी व्यक्ति के लिए ये सब बेकार हो जाते हैं। धर्म का अर्थ किसी संगठन संप्रदाय, यज्ञ, हवन आदि से नहीं है, बल्कि जो विधि आत्मज्ञान की ओर ले जाती है। वही धर्म है, इसलिए यह भी साधन मात्र है। ये हिन्दू, मुस्लिम, जैन, सिक्ख, ईसाई आदि धर्म नहीं है।

### सूत्र-3

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा।  
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, भूतम्—अतीत, क्वः—कहां, भविष्यत्—भावी, वा—अथवा, वर्तमानम्—वर्तमान, अपि—भी, क्व—कहां, वा—अथवा, क्वः—कहां, देशः—देश, क्व—कहां, च—और, वा—अथवा, नित्यम्—नित्य, स्वमहिम्न—अपनी महिमा में, स्थितस्य—स्थित, मे—मेरा।

प्रसंग—नित्य अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां भूत है ? कहां भविष्य है ? अथवा कहां वर्तमान है ? अथवा देश भी कहां है ?

व्याख्या—स्थान और समय का बन्धन ज्ञान रहित व्यक्ति को होता है। आत्मज्ञानी इसकी परिधि से बाहर हो जाता है। आत्मा नित्य है, शाश्वत है, जन्म नहीं लेती है। बिना आकार वाली है, निर्लिप्त है, अतः उसके लिए भूत, भविष्य, वर्तमान है ही नहीं। वह कालातीत है अर्थात् सब कालों में है। उसके लिए किसी स्थान विशेष का भी बन्धन नहीं है, वह सब स्थानों में व्याप्त है। वह पहले भी थी, आज भी है, और आगे भी रहेगी। वह नष्ट नहीं होती। संसार नष्ट हो जाए, लेकिन वो फिर भी रहेगी, जब संसार नहीं था वो तब भी थी। इसलिए जिस ज्ञानी व्यक्ति ने उसका ज्ञान कर लिया उसने परमात्मा को जान लिया। वह ब्रह्म के समान हो गया। जनक यही कह रहे हैं कि मैं आत्म स्वरूप हो गया, इसलिए आत्मा ही मेरी महिमा है।

#### सूत्र-4

क्व च वात्मा क्व च वाऽनात्मा क्व शुभं क्वा शुभं तथा ।

क्व चिन्ता क्व च वाऽचिन्ता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, आत्मा—आत्मा, क्व—कहां, च—और, वा—अथवा, अनात्मा—अनात्मा, क्वः—कहां, शुभम्—शुभ है, क्व—कहां, अशुभम्—अशुभ है, तथा—और, क्वः—कहां, चिन्ता—चिन्ता, क्वः—कहां, च—और, अचिन्ता—अचिन्ता, स्वमहिम्निस्थितस्य मे—अपनी महिमा में स्थित मुझमें।

**प्रसंग**— अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां आत्मा है और कहां अनात्मा है ? अथवा कहां शुभ है ? कहां अशुभ है ? कहां चिन्ता है ? अथवा कहां अचिन्ता है ?

**व्याख्या**— आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि नाम देने से ही अनेक भ्रांतियां पैदा हो गईं, जैसे ये कोई पदार्थ है कोई तत्त्व है, जिसे देखा जा सकता है, जाना जा सकता है, प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन जो ध्यान की गहराई में गए, उन्होंने ऐसा कुछ नहीं जाना, न देखा, न पाया, लेकिन अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने नाम दे दिए। जिससे सन्देह हो गया। वास्तविकता लुप्त हो गई, लाओत्से ने कहा है, “सत्य को कहा नहीं जा सकता तथा जो कहा जा सकता है वह सत्य नहीं है।” सत्य को अभिव्यक्ति नहीं दी जा सकती। शब्दों में आते ही वह सत्य असत्य (झूठ) हो जाता है। इसी कारण ज्ञानी व्यक्ति मौन हो जाते हैं, ध्यान या समाधि में आत्मा के दर्शन नहीं होते, न उसका साक्षात्कार ही होता है। उस अवस्था में जो कुछ अनुभव होता है, वह उससे आत्मा का अनुमान या (कल्पना) की जा सकती है। जिस प्रकार धुएं को देखकर आग लगने का अनुमान होता है, लेकिन आत्मा कैसी है, यह बताना कठिन है, इसीलिए ज्ञानियों की अभिव्यक्ति में विविधता पाई जाती है। जो भी आत्मा के विषय में बताया गया है, वह पूर्ण वास्तविक नहीं है। लाओत्से ने इसे सत्य माना, महावीर ने इसे आत्मा कहा। उपनिषदों ने तव (वह) कहा, बुद्ध ने अनात्मा, शून्य कहा, ज्ञानियों ने इसे ज्ञान कहा, भक्तों ने इसे ईश्वर कहा, परमात्मा कहा और अध्यात्म ने ब्रह्म कहा। जनक की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्ट है कि उस स्थिति में पहुंचकर आत्मा, अनात्मा का अन्तर ही समाप्त हो जाता है। वहां पहुंचकर केवल आनन्द का बोध होता है। प्राणी शांत हो जाता है एवं ऐसा एहसास होता है, जिसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, वहां पहुंचकर अच्छा-बुरा, चिन्ता-अचिन्ता का ध्यान ही नहीं रहता, केवल चेतना ही शेष रह जाती है। यही चरम स्थिति है,

जहां पहुंचकर ज्ञानी व्यक्ति पूर्णता की अनुभूति करता है। यही उसकी महिमा है।

### सूत्र-5

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा।

क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, स्वप्नः—स्वप्न, क्वः—कहां, सुषुप्तिः—सुषुप्ति, वा—अथवा, क्वः—कहां, च—और, जागरणम्—जागृत अवस्था, तथा—और, क्वः—कहां, तुरीयम्—तुरीय अवस्था, भयम्—भय, वा—अथवा, अपि—भी, स्वमहिम्निस्थितस्य मे—अपनी महिमा में स्थित मुझमें।

प्रसंग—अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां स्वप्न? कहां सुषुप्ति? और कहां जाग्रत है? कहां तुरीय अवस्था का भय है?

व्याख्या—ऐसा ज्ञानी व्यक्ति जागते हुए, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय चारों अवस्थाओं से पार हो जाता है। ये चारों स्थिति (अवस्थाएं) शरीर, मन और बुद्धि की हैं। तुरीय अवस्था भी अन्तःकरण की है। चेतना इनसे पार की अवस्था है, जहां इनका कुछ भी अनुभव नहीं होता।

### सूत्र-6

क्वं दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यान्तरं क्व वा।

क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्म स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, दूरम्—दूर है, क्वः—कहां, समीपम्—समीप है, वा—अथवा, बाह्यम्—बाहर है, क्वः—कहां, आभ्यन्तरम्—भीतर है, क्वः—कहां, वा—अथवा, क्वः—कहां, स्थूलम्—स्थूल है, क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, सूक्ष्मम्—सूक्ष्म है, स्वमहिम्निस्थितस्य मे—अपनी महिमा में स्थित मुझमें।



**प्रसंग**—अपनी महिमा में स्थित मुझको कहां दूर है ? कहां समीप ? कहां बाह्य है ? कहां अभ्यंतर है ? स्थूल कहां और सूक्ष्म कहां ?

**व्याख्या**—आत्मा की महिमा में स्थित हुए ज्ञानी के लिए दूर तथा समीप (पास), बाहरी तथा अन्दर, बड़ा और छोटा का भेद ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा दूर भी है और पास भी है, वह बाहर भी है और अन्दर भी, वह स्थूल (विशाल) भी है और सूक्ष्म भी। ऐसा ही संसार। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। सूक्ष्म ही स्थूल का कारण है, विशाल भी सूक्ष्म में परिवर्तित हो जाता है। ऊर्जा और पदार्थ अलग नहीं है। एक-दूसरे में रूपान्तरण हो जाता है। वैज्ञानिक जिसे 'क्वान्टा' कहते हैं, वैसा ही आत्मा का स्वरूप है, न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न पदार्थ है न तरंग (लहर) और मैं तो दोनों।

### सूत्र-7

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम् ।  
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥

**शब्दार्थ**—क्वः—कहां, मृत्युः—मृत्यु, जीवितम्—जीवन, वा—अथवा, क्व—कहां, लोकाः—भू आदि लोक, क्वः—कहां, अस्य—इसका, क्वः—कहां, लौकिकम्—लौकिक व्यवहार, क्वः—कहां, लयः—लय, क्वः—कहां, समाधिः—समाधि, स्वमहिम्निस्थितस्य मे—अपनी महिमा में स्थित मुझमें।

**प्रसंग**—अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां मृत्यु है अथवा कहां जीवन ? कहां लोक है व कहां इसका लौकिक व्यवहार ? कहां लय है ? और कहां समाधि ?

**व्याख्या**—आत्मा का न जन्म होता है न मृत्यु। वह तो सदा है। जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु भी अवश्य है। ऐसा सृष्टि का नियम है। अगर जन्म न हो तो मृत्यु भी नहीं है। आत्मज्ञानी आत्मवत (आत्म-स्वरूप) हो, जाने से कहता है कि न मेरी मृत्यु है न जीवन। मृत्यु और जीवन तो शरीर का होता है। आत्मा अमर है। आत्मा के लिए लोक

तथा लौकिक आचरण भी नहीं है, इनका भी नाता शरीर से है। लय और समाधि भी मन के धर्म हैं। आत्मा एक ही है। उसका न किसी से लय होता है न उसकी समाधि लगती है। ये सब अज्ञान के द्वारा जन्मी धारणाएं ही छूट जाती हैं।

### सूत्र-8

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाऽप्यलम्।

अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि॥

शब्दार्थ—अलम्—बस इतना ही, त्रिवर्ग कथया—तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, कामादि की कथा से, योगस्य—योग की, कथया—कथा से, अपि—भी, अलम्—बस, विज्ञानकथया—विज्ञान की कथा से, विश्रान्तस्य—विश्राम पाए के, मम—मेरे, आत्मनि—आत्मा में।

प्रसंग—अपनी आत्मा में विश्राम हुए मुझको त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की कथा पर्याप्त है, योग की कथा भी पर्याप्त, विज्ञान की कथा भी पर्याप्त है।

व्याख्या—जो ज्ञानी पूर्णता को प्राप्त हो गए हैं, उसके लिए धर्म, अर्थ, काम आदि की कोई उपयोगिता नहीं रहती क्योंकि सिद्धि प्राप्त होने पर साधन बेकार हो जाते हैं। इसी प्रकार विज्ञान की भी उपयोगिता नहीं रहती। जब कुछ प्राप्त करना ही नहीं रहता तो इसका प्रयोजन ही समाप्त हो गया। सब छूटकर एक आत्मा में स्थित होकर योगी सब कुछ पा लेता है। यही परम धर्म है।

□ □

## बीसवां अध्याय

### सूत्र-1'

( जनक उवाच )

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः ।

क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरञ्जने ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, भूतानि—पंच महाभूत, क्वः—कहां, देहः—शरीर, वा—अथवा, क्वः—कहां, इन्द्रियाणि—इन्द्रियां, क्व—कहां, वा—अथवा, मनः—मन, क्व—कहां, शून्यम्—शून्यता, क्व—कहां, च—और, नैराश्यम्—निराशा, मत्स्वरूपे—मुझ स्वरूप में, निरञ्जने—दृष्टि से परे में ।

प्रसंग—मेरे निरंजन स्वरूप में कहां पंचभूत है ? कहां देह है ? कहां इन्द्रियां हैं ? अथवा कहां मन है ? कहां शून्य ? और कहां नैराश्य है ?

व्याख्या—राजा जनक अपनी जीवन मुक्ति की दशा का वर्णन करते हुए बताते हैं कि मैं आत्मा में अवस्थित हो गया हूं, अतः इन सब भूत विकारों से मुक्त हो गया । मेरा यह आत्म स्वरूप निरंजन है, दोष रहित है, अद्वय है, शुद्ध है । इसमें विजातीय तत्त्व कोई भी नहीं है । सब जुड़े हुए हैं । विविधता कहीं भी दिखाई नहीं देती, ज्ञान न होने की स्थिति में मेरी मन रूपी कैमरे की प्लेट पर इन सभी आकारों, संस्कारों आदि के चित्र बनते थे । लेकिन यह आत्मा शीशे (दर्पण) के समान है । इस पर चित्र बनते ही नहीं । यह साक्षी मात्र है, द्रष्टा देखने वाली है, इसमें दोष उत्पन्न नहीं होते । धारणा नहीं बनती, विचार जन्म नहीं

लेते। यह सदैव निर्लिस रहती है। मैं चित्त (मन) नहीं आत्मा हूं, इसलिए मेरे स्वरूप में ये पांच भूत, शरीर, इन्द्रियां, मन आदि नहीं हैं, इसमें शून्य भी नहीं है न नैराश्य है क्योंकि यही पूर्ण है, यही आत्मा की प्रतिष्ठा (महिमा) है।

## सूत्र-2

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः ।

क्व तृप्तिः क्ववितृष्णात्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, शास्त्रम्—शास्त्र, क्वः—कहां आत्मविज्ञानम्—आत्मज्ञान, क्वः—कहां, वा—अथवा, निर्विषयम्—विषयों से परे, मनः—मन, क्वः—कहां, तृप्तिः—तृप्ति, क्वः—कहां, वितृष्णात्वम्—विषयों का अभाव, गतद्वन्द्वस्य—जिसमें से सभी द्वन्द्व समाप्त हो गए हैं ऐसे, मे—मुझमें, सदा—हमेशा।

प्रसंग—सदा द्वन्द्व रहित मुझको कहां शास्त्र ? कहां आत्म-विज्ञान है ? कहां विषय रहित मन है ? कहां तृप्ति है ? कहां तृष्णा का अभाव है ?

व्याख्या—जहां संघर्ष है, वहां मन है। चेतन आत्मा में संघर्ष नहीं है। वहां स्त्री-पुरुष का अन्तर भी नहीं है, जड़-चेतन, प्रकृति-पुरुष, सगुण-निर्गुण, ज्ञान-विज्ञान, तृष्णा-तृप्ति आदि के सब भेद समाप्त होकर एक ही तत्त्व शेष रहता है। दो होने पर अन्तर प्रतीत होता है। इसलिए जनक कहते हैं कि आत्मज्ञान की प्राप्ति पर मैं संघर्ष रहित हो गया। अब मुझे ग्रन्थ (शास्त्र) की आवश्यकता है कि मैं उनका अध्ययन करके आत्मा कैसी है, इसके बारे में जान सकूं, आत्म-विज्ञान की भी मुझे आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अध्ययन से जो जान जाता हूं वह बौद्धिक (बुद्धि का विकास) होता है। मैं तो स्वयं आत्मा हूं, अतः अब मुझे शास्त्र और विज्ञान का अध्ययन करके क्या करना है। मैं विषय रहित मन की भी बात नहीं विचार करता जैसा कि



अष्टावक्र ने पहले कहा कि विषयों को जहर (विष) के समान मानकर त्याग दो। विषयों का त्याग करने पर विषय रहित मन की कल्पना कहां रही। इस अवस्था में तृप्ति (सन्तुष्टि) भी नहीं है, क्योंकि तृप्ति का अनुभव भी अतृप्त (प्यासे) को ही होता है। प्यास रूपी तृष्णा का समापन हो गया, ऐसा विचार अब नहीं उठता। ऐसी स्थिति में मैं अवस्थित हूँ।

### सूत्र-3

क्व विद्या क्व च वाऽविद्या क्वाहं क्वेद मम क्व वा।

क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, विद्या—विद्या, क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, अविद्या—अविद्या, क्वः—कहां, अहम्—मैं, क्व—कहां, इदम्—यह, मम—मेरा, क्वः—कहां, वा—अथवा, क्वः—कहां, बन्धः—बन्धन, क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, मोक्षः—मोक्ष, स्वरूपस्य—स्वरूप की, क्वः—कहां, रूपता—नानारूपात्मकता है।

प्रसंग—स्व-स्वरूप की कहां रूपिता है? कहां विद्या है और कहां अविद्या? कहां 'मैं' है अथवा कहां 'यह' है? कहां 'मेरा' है? कहां बन्ध है? अथवा मोक्ष कहां?

व्याख्या—आत्मज्ञानी व्यक्ति की स्थिति अनिर्वचनीय होती है, उसका वर्णन करना कठिन है। जनक उस स्थिति का वर्णन करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि आत्मा ही निजस्वरूप है। अन्य सभी स्वरूप लपेटे (ओढ़े) हुए हैं, जो कि सन्देह के कारण सत्य दिखाई पड़ रहे हैं। अतः ये माया मात्र हैं। इस माया का आवरण हटने पर ही निज आत्म-स्वरूप का बोध होता है, लेकिन इसकी रूपिता भी नहीं है। आत्मा का कोई रूप या आकार नहीं है, जिसे देखा जा सके, जिसका वर्णन किया जा सके, आत्मा में विद्या (ज्ञान) तथा अविद्या (अज्ञान) संसार भी नहीं है, क्योंकि ये दोनों ही सन्देह स्वरूप हैं। दोनों ही माया

हैं। आत्मा में 'मैं' या 'यह' का अन्तर नहीं है, क्योंकि अभिमान के कारण ही 'मैं' की प्रतीति होती है और 'मैं' होने पर 'यह' का आभास होता है। आत्मा एक ही है, उसमें दूसरा कोई भी नहीं है, इसलिए यह भेद भी नहीं करता। जहां 'मैं' नहीं वहां 'मेरा' भी नहीं है। आत्मा का कोई 'बन्धन' नहीं है। इसलिए 'मोक्ष' भी नहीं है, बन्धन मात्र अज्ञान न होने के कारण है। जब तक ज्ञान नहीं है, तभी तक बन्धन है। आत्मा स्वयं ज्ञान है। उसका कोई बन्धन नहीं है। न ही उसकी मुक्ति है। वह तो नित्य है, बन्धन और मुक्ति दोनों का कारण अभिमान है। अहंकार रहित तो दोनों से मुक्त है।

#### सूत्र-4

क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा।

क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, प्रारब्धानि कर्माणि—प्रारब्ध कर्म है, जीवन्मुक्तिः—जीवन्मुक्ति, अपि—भी, क्वः—कहां, वा—अथवा, क्वः—कहां, तद्—वह, विदेहकैवल्यम्—विदेह कैवल्य, निर्विशेषस्य—जिसके लिए कुछ भी धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, शेष नहीं रह गए हैं, सर्वदा—सदैव।

प्रसंग—मुझ सदैव निर्विशेष को प्रारब्ध कर्म कहां? अथवा कहां जीवन मुक्ति है? और कहां यह विदेह कैवल्य ही है?

व्याख्या—शास्त्र कहते हैं कि आत्म-ज्ञान हो जाने पर संचित (जुड़े) हुए कर्म कार्य नष्ट हो जाते हैं तथा क्रियमाण कर्म (कार्य) का परिणाम नहीं भोगना पड़ता। क्योंकि कर्त्तापन (करने वाला) न रहने से भोक्तापन (भोगने वाला) भी नहीं रहता, लेकिन आरम्भ के कार्य तो भोगने ही पड़ते हैं। उनका भोग किए बिना इस शरीर से मुक्ति नहीं मिल सकती है, लेकिन जनक इससे भी आगे सभी शास्त्रों की मान्यताओं से परे की बात कहते हैं कि मैं आत्मा ही हूँ, जो सदैव निर्विशेष है, क्योंकि वह आध्यात्म है, सभी गुणों से परे है। कोई सामान्य है, तभी

उसका विशेष होगा। आत्मा में दो है ही नहीं, इस कारण सामान्य और विशेष का अन्तर नहीं है। यह अन्तर भी द्वैत के कारण ज्ञात होता है जो कि अज्ञान के कारण है। इसलिए आत्मा के आरंभ के कार्य भी नहीं हैं, इसका कारण जीवन मुक्ति भी नहीं है। अगर प्रारब्ध कर्म भी है, जिनको भोगना है तो इसका अर्थ है कि भोगने वाला अभिमान स्थित है। वरना कौन भोगेगा। आत्मज्ञानी अभिमान रहित शुद्ध चेतना मात्र है जो न कर्ता है, न भोगने वाला। फिर आरम्भ के कार्य का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, इसका भोग करने वाला अभिमान रहा नहीं और आत्मा भोगती नहीं। इस कारण ये सभी नष्ट हो गए। फिर जीवन्मुक्त भी नहीं है और जब जीवन मुक्त भी नहीं है तो विदेह कैवल्य भी नहीं है, विदेह मुक्ति भी तभी है, जब जीवन मुक्ति हो। आत्मज्ञानी जब अभिमान को बचा लेता है तभी जीवन मुक्ति और विदेह कैवल्य का प्रश्न उठता है। जनक ने इसे भी छोड़ दिया। अतः वो इनसे पार हो गए और आत्मा में स्थिर हो गए। यही परमावस्था है, जिसको कोई भी शास्त्र इतने साहस के साथ नहीं कह पाया जैसा कि जनक ने कहा। अभिव्यक्ति की ऐसी अपूर्व क्षमता अन्य किसी में नहीं है, न किसी ग्रन्थ में। इस कारण अष्टावक्र गीता अध्याय का शिरोमणि ग्रन्थ है जिसकी कोई उपमा नहीं।

### सूत्र-5

क्व कर्ता क्व च भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा ।

क्वापरोक्षं फलं वा क्व निः स्वभाव स्व मे सदा ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, कर्ता—कर्ता, क्वः—कहां, च—  
और, भोक्ता—भोक्ता, निष्क्रियं—निष्क्रिय, स्फुरणम्—  
क्रियाशीलता, क्व—कहां, वा—अथवा, क्वः—कहां, अपरोक्षम्—  
प्रत्यक्ष ज्ञान, फलम्—प्रत्यक्ष का फल, वा—अथवा, क्वः—कहां,  
निःस्वभावस्य—स्वभाव रहित, मे—मुझमें, सदा—हमेशा।

प्रसंग—सदा स्वभाव रहित मुझको कहां कर्तापन है ? और कहां



भोक्तापन है ? अथवा कहां निष्क्रियता है और कहां स्फुरण है ? कहां अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान है अथवा कहां फल है ?

**व्याख्या**—ज्ञान रहित व्यक्ति मन और अभिमान में जीता है। चित्त की आकाशाओं के स्फुरण से ही स्वभाव बनता है तथा अभिमान के कारण ही वह स्वयं को कर्ता (करने वाला) मानता है, अपने को करने वाला समझने के कारण ही उसे कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है, व्यक्ति में सक्रियता भी तभी आती है, जब वह परिणाम की इच्छा से कार्य करता है। अगर फल की कामना न हो तथा आत्मज्ञानी भी नहीं है तो वह आलसी और अकर्मण्य हो जाएगा, लेकिन ज्ञानी का स्वभाव इनसे विपरीत होता है। वह मन तथा अभिमान के स्वभाव से रहित होकर केवल साक्षी भाव से जीवनयापन करता है। इसलिए वह करने वाला भी नहीं है और चित्त की स्फुरण भी उसमें नहीं होती, क्योंकि कामना नहीं है। वह कार्य के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान भी नहीं रखता कि यह कर्म (कार्य) करना है, इससे कितना लाभ, कितनी हानि होगी 'मैं' भाव रहने से ही प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले कार्य होते हैं व उन्हीं का फल भी प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुष दोनों से ही स्वतन्त्र होता है।

### सूत्र-6

क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा।

क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥

**शब्दार्थ**—क्वः—कहां, लोकः—संसार, क्वः—कहां, मुमुक्षुः—मोक्ष की इच्छा रखने वाला, वा—अथवा, क्वः—कहां, योगी—योगी, ज्ञानवान्—ज्ञानी, क्वः—कहां, वा—अथवा, क्वः—कहां, बद्धः—बद्ध, क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, मुक्तः—मुक्त, स्वस्वरूपेऽहमद्वये—मुझ अद्वैतरूप स्वरूप में।

**प्रसंग**—मुझ अद्वय स्वरूप को कहां लोक है ? अथवा कहां मुमुक्षु है ? कहां योगी है ? कहां ज्ञानवान है ? अथवा कहां बद्ध है ? और कहां मुक्त है ?



**व्याख्या**—जनक कहते हैं कि मैं आत्मा हूँ जो अद्वय स्वरूप है। संसार में दो है ही नहीं। आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, प्रकृति-पुरुष आदि का विभाजन संसार में कहीं नहीं है। सभी उस एक ही आत्मा का फैलाव है। दो मानना ही अज्ञान है, सन्देह है, मैं आत्मा होने से अध्यात्म हूँ। मुझे ज्ञान न होने के कारण जिन विविधताओं की प्रतीति हो रही थी, वह नष्ट हो गए हैं। अब मेरे लिए कोई लोक नहीं है, जहां मैं रहूँ, क्योंकि मैं ही सब जगह हूँ। मेरा कोई स्थान विशेष नहीं है न मेरी जिज्ञासा है कि मैं मोक्ष को प्राप्त हूँ, क्योंकि मैं जहां हूँ, वहीं मुक्ति है, मोक्ष मुझसे अलग नहीं है। योगी मार्ग पर वह चल रहा है, उसे अभी चलना है। वह साधक है तथा ज्ञान पर जिसे ज्ञान हो गया है। लेकिन मैं आत्मस्वरूप होने से स्वयं ज्ञान हूँ। ज्ञानवान नहीं हूँ, क्योंकि ज्ञानवान एवं ज्ञान अलग नहीं है। मैं न बन्धन हूँ, न मैं मुक्त (स्वतन्त्र) हूँ, क्योंकि न आत्मा को कोई बांधने वाला है न वह मुक्त (स्वतन्त्र) होती है। वह तो सदा एक ही भाव में रहती है। ऐसा ही मैं हूँ।

### सूत्र-7

क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्।

क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥

**शब्दार्थ**—क्वः—कहां, सृष्टिः—सृष्टि, क्वः—कहां, च—और, संहारः—प्रलय, क्वः—कहां, साध्यम्—साध्य, क्वः—कहां, सिद्धिः—सिद्धि, वा—अथवा, स्वस्वरूपम्—आत्मस्वरूप में, अद्वये—अद्वैतरूप में।

**प्रसंग**—मुझ अद्वय स्वरूप को कहां सृष्टि और कहां संहार? कहां साध्य है? और कहां साधन है? कहां साधक है? अथवा कहां सिद्धि है?

**व्याख्या**—विभिन्न धर्म संसार एवं उसके प्रलय के बारे में विविध धारणाएं व्यक्त करते हैं। कुछ कहते हैं कि यह संसार (सृष्टि) अनादि है, इसका कोई अन्त नहीं। इसे किसी ने नहीं बनाया, यह कभी समाप्त

नहीं होगी, तो कुछ कहते हैं, परमात्मा ने छः दिन में संसार (सृष्टि) का निर्माण किया। वही इसका संचालन कर रहा है तथा वही इसे नष्ट भी करेगा। कुछ बताते हैं कि संसार परमात्मा की अभिव्यक्ति है। एक ही परमात्मा अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। फैलना, विस्तार होना ही इसका गुण है। संसार का निर्माण संकल्प से हुआ। एक सीमा तक इसका फैलाव होगा। इसके बाद वह पुनः सिकुड़ जाएगी (नष्ट हो जाएगी) और निज स्वरूप ब्रह्म में विलीन हो जाएगी, यही प्रलय की अवस्था होगी। विज्ञान भी स्वीकारता है कि पदार्थ और ऊर्जा अलग नहीं है। पदार्थ ऊर्जा का ही दिखाई देने वाला रूप है, और ऊर्जा पदार्थ का न दिखाई देने वाला रूप। दोनों एक-दूसरे में रूपान्तरण हो जाते हैं। पदार्थ कभी नष्ट नहीं होता। उसकी ऊर्जा और ऊर्जा (पुनः पदार्थ) का रूप धारण कर लेती है। भारतीय अध्यात्मक की धारणा भी पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। वह नहीं बताता कि परमात्मा (परमेश्वर) ने कुम्हार के समान संसार से अलग कहीं बैठकर छः दिन में उसका निर्माण किया तथा यह उसकी आज्ञा के अनुसार चल रही है। वह जब चाहे इसका विनाश कर सकता है। ऐसा विचार करना ही अवैज्ञानिक एवं मिथ्या है। ऐसी धारणा तुच्छ बुद्धि का अनुमान मात्र है कि सृष्टि है तो इसका निर्माण करने वाला भी कोई होना चाहिए, बिना निर्माण किए तो घड़े का बन जाना भी संभव नहीं है तो बिना निर्माण किए इसका (संसार) का निर्माण कैसे हुआ। लेकिन यह ज्ञान रहित व्यक्ति की कल्पना मात्र है अध्यात्मवादी कहते हैं कि परमात्मा (ईश्वर) कोई व्यक्ति नहीं है, जो एक निश्चित स्थान पर बैठकर इस संसार का निर्माण व विनाश कर रहा है। वह कहता है कि परमात्मा एक विशाल चेतना ऊर्जा है, वह असीम है, उसे परिभाषित नहीं किया जा सकता, वही ऊर्जा विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई है। सारे रूप उसी के हैं, वही अस्तित्व है। वह मूर्ति में भी है, सारे जीव और जन्तुओं में है तो पत्थर, शिला में भी वही ऊर्जा है, ऊर्जा ही घनीभूत (संग्रहित) होकर पत्थर दिखाई देती है। इसलिए ईश्वर और उसकी कृतियां अलग नहीं

हैं, दो नहीं हैं, सृष्टि और स्रष्टा दो नहीं एक हैं, अध्यात्म की ऐसी विचित्र धारणा दूसरे किसी धर्म में नहीं है। यही धारणा पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है। सूफी सन्त तन्त्र, लियोसाफी, बुद्ध, लाओत्से आदि इसी धारणा का समर्थन करते हैं। फिर अगर परमात्मा कहीं है तो उसे पाया भी जा सकता है। यह विवाद तर्क या शास्त्र से हल नहीं हो सकता, विज्ञान की प्रयोगशाला में उसे नहीं देखा जा सकता। उसको प्राप्त होने का मार्ग है, ध्यान तथा प्रेम। राजा जनक सद्गुरु के कारण केवल बोधमात्र से एक अद्वय स्वरूप को प्राप्त हुए। वे कहते हैं कि जब सम्पूर्ण संसार आत्मा का ही फैलाव है तो आत्मा ही मूल आधार है, वही अस्तित्व है, फिर उससे अलग कोई संसार नहीं होता, ऊर्जा नष्ट नहीं होती, जिसने आत्मा को पा लिया, उसके लिए साध्य, साधक एवं सिद्धि सब व्यर्थ है। ये सब ज्ञान रहित व्यक्ति के लिए है।

### सूत्र-8

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा ।

क्व किञ्चित्क्व न किञ्चिद्वा सर्वदा विमलस्य मे ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, प्रमाता—प्रमाता, प्रमाणम्—प्रमाण, वा—अथवा, क्वः—कहां, प्रमेयम्—प्रमेय, क्वः—कहां, च—और, प्रमा—ज्ञान, क्व—कहां, किञ्चित्—किञ्चित्, क्व—कहां, न—नहीं, किञ्चित्—कुछ, वा—अथवा, सर्वदा—सदा ही, विमलस्य—निर्दोष शुद्ध, मे—मम।

प्रसंग—सर्वदा विमल रूप मुझको कहां प्रमाता ? कहां प्रमाण ? कहां प्रमेय है और कहां प्रभा है ? कहां किञ्चित है और कहां अकिञ्चित ?

व्याख्या—जनक अपनी आत्म-स्थिति का वर्णन करते हुए बताते हैं कि मैंने आत्मा को न जाना है, न पाया है, क्योंकि मैं उससे अलग नहीं हूँ। मैं स्वयं आत्मा ही हूँ। ज्ञान न होने के कारण ही मैं अपने शरीर, मन, इन्द्रियां आदि समझता था और आत्मा को स्वयं से अलग समझता था। अगर आत्मा मुझसे अलग होती और मैं आत्मा को प्राप्त

कर लेता, या उसका बोध होता तो उसको सिद्ध करने के लिए मुझे प्रमाण (सबूत) देने पड़ते। यह ज्ञान या बोध क्या है? कैसा होता है? क्या अनुभव है, इसकी व्याख्या करनी पड़ती। लेकिन मैं प्रमाता (बोधयुक्त) नहीं हूँ, क्योंकि बोध मुझसे अलग नहीं है मैं प्रमा (बोध) भी नहीं हूँ, क्योंकि मैं तो आत्मा हूँ जो स्वयं बोध स्वरूप है, इसलिए प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्ष (स्पष्ट) को क्या प्रमाण चाहिए। सत्य तो साक्षात् है, प्रत्यक्ष है, फिर प्रमाणों की उपयोगिता है। आत्मा प्रमाण योग्य भी नहीं है। मुझमें किंचन, अकिंचन का भाव भी नहीं है, क्योंकि आत्मा होने से मैं सब कुछ हूँ तथा विमल स्वरूप हूँ।

### सूत्र-9

क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढ़ता ।

क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, विक्षेपः—विक्षेप, क्वः—कहां, च—और, एकाग्र्यम्—एकाग्रता, क्वः—कहां, निर्बोधः—अज्ञानता, क्वः—कहां, मूढ़ता—अविवेकशीलता, क्वः—कहां, हर्षः—प्रसन्नता, क्वः—कहां, विषादः—दुःख, वा—अथवा, सर्वदा—हमेशा, सदैव, निष्क्रियस्य—निष्क्रिय, मे—मुझमें।

प्रसंग—सर्वदा क्रिया रहित मुझको कहां एकाग्रता है? कहां ज्ञान? कहां मूढ़ता है? कहां हर्ष है? कहां विषाद है?

व्याख्या—समस्त कष्ट (विक्षेप) चित्त के कारण है। चित्त की कामना पैदा करती है। इन कष्टों को समाप्त करने के लिए मन को एकाग्र करने की साधना करनी पड़ती है, लेकिन आत्म-ज्ञानी के सभी कष्ट शान्त हो जाते हैं। ज्ञानी व्यक्ति केवल आत्मा में स्थित रहता है। वह क्रियारहित हो जाता है। क्योंकि आत्मा क्रिया नहीं करती। वह तो ऊर्जा (विद्युत्) मात्र है। जिससे अन्य अंग क्रियान्वित होते हैं। इसलिए जनक कहते हैं कि मैं आत्मस्वरूप होने से सदैव क्रिया रहित हूँ, मेरे



में कष्ट नहीं है, इसलिए एकाग्रता की भी आवश्यकता नहीं है। आत्मा होने से मेरे में न अज्ञान है, न मूढ़ता, न हर्ष (खुशी) न शोक। आत्मा तो इन सबसे परे चेतना ऊर्जा मात्र है, मैं वही हूँ।

### सूत्र-10

क्व चैव व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता।

क्व सुखं क्व च वा दुःख निर्विमर्शस्य मे सदा ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, च—और, एवः—यह, व्यवहारः—व्यवहार, वा—अथवा, क्वः—कहां, च—और, सा—वह, परमार्थता—परमार्थता, क्वः—कहां, सुखम्—सुख, क्वः—कहां, च—और, वा—अथवा, दुःखम्—दुःख, निर्विमर्शस्य—निर्मलरूप, मे—मुझमें, सदा—सदैव।

प्रसंग—सदा निर्विकार रूप मुझको कहां यह व्यवहार है ? और कहां वह परमार्थता है ? कहां सुख है अथवा कहां दुःख ?

व्याख्या—जनक कहते हैं कि मैं आता हूँ अतः मैं सदैव दोषरहित हूँ, इसलिए यह व्यवहार और परमार्थता मेरे में नहीं है। ये तो मन के ही धर्म हैं। सुख-दुःख भी मन के धर्म हैं। आत्मा सुख-दुःख से परे है। इसलिए आत्मा होने से मैं इनसे परे हूँ।

### सूत्र-11

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिविरतिः क्व वा।

क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, मायाः—माया, चः—और, संसार—संसार है, प्रीतिः—प्रीति है, विरतिः—विरति है, जीवः—जीव है, तद्ब्रह्मः—वह ब्रह्म है, सर्वदा—सदा, विलयस्य—निर्मल, मेः—मुझको।

प्रसंग—मुझ सर्वदा विमल स्वरूप को कहां माया है और कहां संसार है ? कहां प्रीति है अथवा कहां विरति है ? कहां जीव है और कहां वह ब्रह्म है ?

**व्याख्या**—आत्मज्ञान की अंतिम उपलब्धि में सभी अन्तर समाप्त हो जाते हैं। केवल एक चेतन आत्मा ही शेष रह जाती है। यह माया है, यह ब्रह्म है, यह आत्मा है, यह सृष्टि है, प्रीति और अप्रीति जीव और ब्रह्म आदि के समस्त अन्तर (भेद) ज्ञान न होने के कारण हैं, जिसे सत्य स्वरूप आत्मा का ज्ञान नहीं, वही व्यक्ति इन सबमें अन्तर देखता है। आत्म ज्ञान पर सब अन्तर (अभेद) हो जाते हैं। कि वह सब ब्रह्म ही है। एक ही है। उसी का समस्त फैलाव है। विविधता मात्र सन्देह है। इस सन्देह का नष्ट हो जाना ही आत्मज्ञान है। वही सत्य है।

### सूत्र-12

क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्वं च बन्धनम्।

कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मय सर्वदा॥

**शब्दार्थ**—क्वः—कहां, प्रवृत्ति—प्रवृत्ति है, निवृत्तिः—निवृत्ति है, मुक्तिः—मुक्ति है, बंधनम्—बन्ध है, कूटस्थ—कूटस्थ और, निर्विभागस्य—विभाग रहित, स्वस्थस्य—स्थिर, मम—मुझको, सर्वदाः—सदा।

**प्रसंग**—सर्वदा कूटस्थ (स्थिर), अखंड रूप और स्वस्थ मुझको कहां निवृत्ति है? कहां मुक्ति है और कहां बन्ध है?

**व्याख्या**—आत्मा सदैव कूटस्थ (स्थिर) है, वह अखंड है। उसका विभाजन नहीं किया जा सकता, वह अद्वय है। इसे प्राप्त होना ही परम स्वास्थ्य है, इसलिए ज्ञानी ही स्वस्थ है, बाकी सब बीमार है, ऐसे व्यक्ति में न प्रवृत्ति होती है न निवृत्ति, न उसके लिए मोक्ष है, क्योंकि आत्मा का कोई बन्धन नहीं है वह बन्धन रहित है। बन्धन या वासना एवं अभिमान के कारण हैं जो अज्ञान द्वारा जन्मे हैं। अभिमान के कारण ही कर्त्तापन (करने वाला) है। इसी से बन्धन होता है, इसी से व्यक्ति के कार्य पाप-पुण्य पर आधारित होते हैं, कर्त्ता होने के कारण वह भोगने वाला भी है। जिन धर्मों ने आत्मा को नहीं जाना, वे ही इनमें अन्तर करते हैं। लेकिन वास्तव में ये सब एक हैं। अभिमान

और ज्ञान रहित व्यक्ति ही भेद करते हैं। क्योंकि इससे अभिमान को संतुष्टि होती है। व्यक्ति धर्म के नाम पर अभिमान की वृद्धि कर रहे हैं। परम धर्म इससे ऊपर एक अस्तित्व की बात करता है जो अखण्ड है, अविभाजित है, निर्मल है, विकार रहित है, शांत है। केवल चेतना है।

### सूत्र-13

क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः ।

क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे ॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, उपदेशः—उपदेश, क्वः—कहां, वा—अथवा, शास्त्रम्—शास्त्र, क्वः—कहां, शिष्यः—शिष्य, क्व—कहां, च—और, वा—अथवा, गुरुः—गुरु, क्वः—कहां, च—और, अस्ति—है, पुरुषार्थः—पुरुषार्थ, वा—अथवा, निरुपाधेः—उपाधि रहित के, शिवस्य—कल्याणकारी के, मे—मेरा।

प्रसंग—उपाधि रहित शिव रूप (कल्याण रूप) मुझको क्या उपदेश है? अथवा कहां शास्त्र है? कहां शिष्य है? कहां गुरु है? और कहां पुरुषार्थ?

व्याख्या—आत्म-ज्ञान से रहित ही उपाधि (पद) वाला होता है। आत्मा की कोई उपाधि नहीं है। वह एक है या दो, जड़ या चैतन्य, प्रकृति है या पुरुष, संसार है या परमात्मा यह बताना कठिन है, क्योंकि वही सब कुछ है और वह कुछ भी नहीं है। वह दिखाई नहीं देता, लेकिन फिर भी उपस्थित है, वह क्रिया रहित होते हुए भी सब उसी से हो रहा है, उसके बिना एक पत्ता भी हिल पाता। वह शिवरूप है, कल्याणकारी है। जनक कहते हैं कि मैंने इस आत्म स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, इसलिए अब मेरे लिए कोई उपदेश उपयोगी नहीं रह गया है, उपदेश तो ज्ञान रहित व्यक्ति को दिए जाते हैं, ग्रंथ भी ज्ञान रहित के लिए हैं। ज्ञानी व्यक्ति तो स्वयं ग्रंथ हो ही जाता है। उसकी वाणी ही शास्त्र हैं, जो जीवन्त हैं, पुस्तकों वाले शास्त्र मुर्दा हैं। ज्ञानी



व्यक्ति स्वयं गुरु है, उसने गुरुत्व को प्राप्त कर लिया। वह शिष्य भी नहीं है, और न अब उसे गुरु की आवश्यकता ही है। क्योंकि आत्म-ज्ञान ही परम पुरुषार्थ है जो उसको प्राप्त हो गया है। उपलब्ध हो जाने पर ये सभी व्यर्थ (बेकार) महत्त्वहीन हो जाते हैं। जैसे नदी से पार हो जाने पर नाव की कोई उपयोगिता नहीं रहती। कबीर ने कहा है, 'दूल्हा-दूल्हन मिल गए फीकी पड़ी बरात'। इस सारी बात की उपयोगिता मिलने तक ही होती है। मिलन होने पर इन्हें विदा कर देना चाहिए अन्यथा ये भी बन्धन का रूप धारण कर लेते हैं।

### सूत्र-14

क्व चास्ति क्व च वा नास्ति चैकं क्व च द्वयम्।

बहुनाऽत्र किमुक्तेन किञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम॥

शब्दार्थ—क्वः—कहां, च—और, अस्ति—है, क्व—कहां, च—और, वा—अथवा, न—नहीं, अस्ति—हैं, क्व—कहां, अस्ति—है, च—और, एकम्—एक, क्वः—कहां, च—और, द्वयम्—दूसरा, बहुना—बहुत, यत्र—यहां, किम्—क्या, उक्तेन—कहने से, किञ्चित्—कोई, न—नहीं, उत्तिष्ठते—प्रकाशित करता है (उठता है), मम—मेरा।

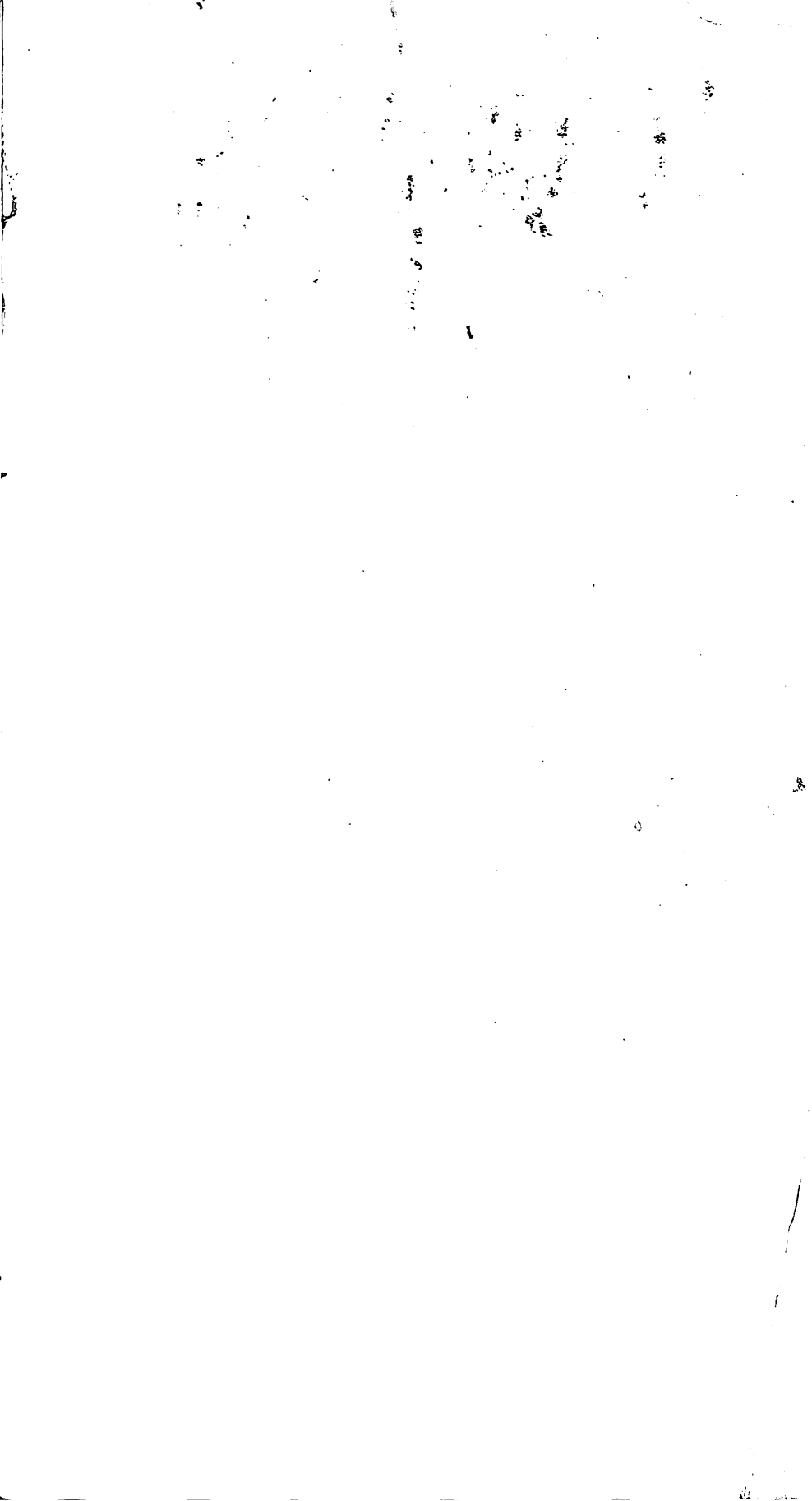
प्रसंग—कहां अस्ति है और कहां नास्ति? अथवा कहां एक है और कहां दो? इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन, मुझको तो कुछ भी नहीं उठ रहा है (सब शांत हो गया है)।

व्याख्या—अन्त में जनक कहते हैं कि ज्ञान रहित व्यक्ति ही कहता है कि सृष्टि है, माया है, ब्रह्म है, जीव है आदि। वह है को ही जानता है। लेकिन जो कहता है, यह सब 'नहीं' है, संसार, जीव आदि सब भाषा है, ब्रह्म ही सत्य है, वह भी ज्ञान रहित ही है। जिस व्यक्ति ने जाना नहीं, वही 'अस्ति' 'नास्ति' के भ्रम में जीता है। जिसने जान लिया वह आत्मस्वरूप हो जाता है। उसके लिए ये अज्ञान द्वारा जन्मा सन्देह भी नष्ट हो जाता है कि क्या है? और क्या नहीं है? वह ऐसा भी



नहीं बताता कि ईश्वर एक है, जीव उससे अलग है या सभी आत्माएं परमेश्वर हैं, ईश्वर बहुत से हैं, क्योंकि आत्माएं अनेक हैं, वह ईश्वर और शैतान दो शक्तियां भी नहीं मानता। ये सब विचार जोकि मन के द्वारा उत्पन्न होते हैं। आत्म-ज्ञानी व्यक्ति में इस प्रकार की लहरें नहीं उत्पन्न होतीं, सब शांत हो जाता है। आत्मज्ञानी व्यक्ति शून्य चित्त हो जाता है। कहने वाला बचता नहीं। कौन व्याख्या करे। ऐसा ज्ञानी उसी एक परमतत्त्व में विश्राम कर स्थित रहता है। यही ज्ञान की चरम और अंतिम सीमा है। यही अंतिम सिद्धि है।

॥ इति ॥



## श्री अष्टावक्र महागीता

अष्टावक्र जी का शरीर आठ जगह से टेढ़ा-मेढ़ा था इसीलिए इनका नाम अष्टावक्र पड़ा।

कहा जाता है कि जब ये अपनी माता के उदर में थे तो इनके पिता वेद-पाठ कर रहे थे। तब ये अपनी माता के उदर में से ही बोले—‘हे पिताश्री ! आप तो कही हुई बातों का मनन कर रहे हैं।’ इतना सुनते ही इनके पिता के मन को ठेस पहुंची और उन्होंने अष्टावक्र जी को श्राप दे डाला कि जा ! तू आठ जगह से टेढ़ा-मेढ़ा पैदा होगा।

आगे चल कर यही अष्टावक्र जी राजा जनक के आध्यात्मिक गुरु बने। जिज्ञासु जनक ने अपने गुरु के सामने अनेकानेक शंकाएं रखीं और पारखी गुरु ने जनक की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान किया। ज्ञान-रस से सराबोर एक ऐसी पुस्तक जो आपके जीवन को नई ऊंचाईयों की ओर ले जाएगी।

